पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला
: १८ :

अपभ्रंश कथाकाव्य एवं हिन्दी प्रेमाख्यानक

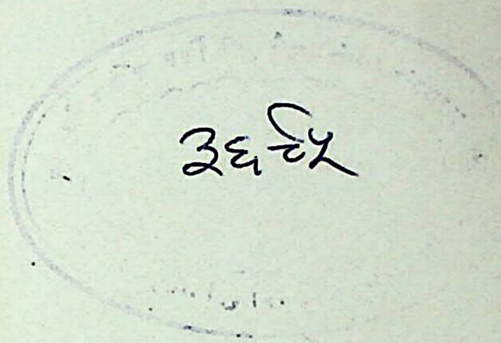
डा० प्रेमचन्द्र जैन

सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति

प्रवृत्तियाँ

१. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
२. शतावधानी रत्नचन्द्र पुस्तकालय
३. लाभदेवी हरजसराय जैन छात्रावास
४. श्रमण (मासिक)
५. साहित्य-निर्माण
६. शोधवृत्तियां एवं छात्रवृत्तियां
७. व्याख्यानमाला
८. प्रकाशन

२०) रु०







पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला
: १८ :

सम्पादक
डा० मोहनलाल मेहता

अपभ्रंश कथाकाव्य एवं हिन्दी प्रेमाख्यानक

लेखक
डा० प्रेमचन्द्र जैन
एम. ए., पी-एच. डी.



प्रकाशक
सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति
अमृतसर

प्राप्ति-स्थान
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी-५

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी द्वारा पी-एच० डी०
की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

प्रकाशक :
सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति
गुरु बाजार
अमृतसर

प्राप्ति-स्थान :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैन इंस्टिट्यूट
आई० टी० आई० रोड, वाराणसी–५

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय
गौरीगंज
वाराणसी–१

प्रकाशन-वर्ष :
सन् १९७३

मूल्य :
बीस रुपये

समर्पण

कहा विअक्खण णाणगुरु, वन्ध णिवन्ध सुहाउ ।
नव दस्सण मइ सहअ मण, गुरुवर सीव पसाउ ।।
जिण्ह अवहंस अगाह दह, कियउ पंथ निम्माण ।
तिन्ह केरउ कर कवँल मँह, अप्पिय सोह पमाण ।।



पूज्य गुरुवर डा० शिवप्रसाद सिंह जी
एवं वन्दनीया माँ श्रीमती धर्मा जी
के कर-कमलों में सादर
सविनय समर्पित



प्रकाशकीय

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के रतनचन्द स्मारक शोधछात्र डा० प्रेमचन्द्र जैन, एम०ए०, पी-एच०डी० का अपभ्रंश कथाकाव्य एवं हिन्दी प्रेमाख्यानक नामक प्रस्तुत प्रबन्ध सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति द्वारा प्रकाशित सातवां शोध-ग्रन्थ है। इसके पूर्व प्रकाशित छहों शोध-ग्रन्थों का विद्वद्वर्ग ने समुचित आदर किया, यह समिति के लिए हर्ष एवं सन्तोष का विषय है।

प्राचीन भारतीय साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग अपभ्रंश कथाकाव्यों का हिन्दी प्रेमाख्यानकों के शिल्प पर क्या व कितना प्रभाव पड़ा है, इसका दिग्दर्शन कराना ही प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रतिपाद्य विषय है। लेखक ने विषय-विवेचन में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

समिति पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के अध्यक्ष एवं बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के सम्मान्य प्राध्यापक डा० मोहनलाल मेहता का आभार मानती है जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ का परिश्रमपूर्वक सम्पादन किया है। प्रबन्ध के लेखक डा० प्रेमचन्द्र जैन एवं निर्देशक डा० शिवप्रसाद सिंह के प्रति भी समिति कृतज्ञता व्यक्त करती है जिनके प्रशंसनीय पुरुषार्थ के कारण समिति को यह ग्रन्थ प्रकाशित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है।

हरजसराय जैन
मन्त्री

पुरोवाक्

प्रस्तुत ग्रन्थ काशी विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए लिखे गए 'अपभ्रंश कथाकाव्यों का हिन्दी प्रेमाख्यानकों के शिल्प पर प्रभाव' शीर्षक शोध-प्रबन्ध का प्रकाशित रूप है। मैंने इस ग्रन्थ को पूज्य गुरुवर डा० शिवप्रसाद सिंह जी के निर्देशन में लगभग साढ़े चार वर्षों के अनवरत प्रयत्न से पूर्ण किया था। एकाधिक बार अपभ्रंश के अगाध सागर के विस्तार को देख भयभीत होने की स्थितियों ने मुझे कूल से ही लौट चलने को विवश किया। परन्तु गुरुवर ने अवगाहन-विधि प्रदान करके मुझे अपभ्रंश-सागर में उतार ही दिया। मैं कबीर की साखी गुनगुनाते कार्य करता रहा—

सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार॥

और वही कार्य आज प्रकाशित होकर आपके सामने पहुँच रहा है। मैं अपने श्रम और उसके फल से संतुष्ट हूँ। फिर भी इस दिशा में किया गया यह कार्य सर्वथा पूर्ण ही है, ऐसा मैं नहीं कहूँगा। हिन्दी प्रेमाख्यानों के शिल्प पर कार्य करने की काफी गुंजाइश है। हाँ, आगे मेरे जैसे कार्य करने वालों को इस ग्रन्थ से कुछ दिशाबोध होगा—इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं समझनी चाहिये। ग्रन्थ में क्या और वह कहाँ है, इसकी जानकारी विषयानुक्रमणिका से तथा अध्यायों का सारांश उपसंहार से ज्ञात हो सकेगा। अतः यहाँ मैं अध्यायों के विषयों की रूपरेखा प्रस्तुत करने की परम्परा का निर्वाह नहीं कर रहा हूँ।

श्रद्धेय आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखने का अनुग्रह किया है। शोध-प्रबन्ध लिखने से लेकर अब तक उनकी सदैव मुझ पर कृपादृष्टि रही है, इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। वस्तुतः किसी भी निर्माण-प्रक्रिया में अनेकविध वस्तुओं की आवश्यकता होती है। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि यदि मुझे शोध-प्रबन्ध लिखते समय संरक्षक, निर्देशक, सहयोगी, प्रेरक अथवा प्रोत्साहित करने वालों का सद्भाव न प्राप्त होता तो मैं निश्चित ही अपना कार्य सम्पन्न करने में

असमर्थ रहता। ऐसी संस्थाओं एवं व्यक्तियों को एक लम्बी तालिका है जिनसे मैं उपकृत और लाभान्वित हुआ हूँ। इस अवसर पर मैं सभी का स्मरण करना चाहता हूँ। फिर भी स्थानाभाव अथवा भूल से कुछ असावधानी हो जाये तो मैं क्षमा चाहूँगा। काशी विश्वविद्यालय का मैं चिरऋणी रहूँगा, चूँकि मैं इस संस्था का विद्यार्थी रहा हूँ। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, वाराणसी के मंत्री श्री हरजसराय जैन तथा अध्यक्ष डा० मोहनलाल मेहता का किन शब्दों में आभार मानूँ जिन्होंने मुझे शोध-छात्रवृत्ति प्रदान की तथा इस प्रबन्ध को प्रकाशित करने की कृपा की। पं० वाचस्पति पाठक, स्व० डा० हीरालाल जैन, डा० ए० एन० उपाध्ये, पं० दलसुख मालवणिया, डा० भागचन्द्र जैन ने मेरी शोध-सम्बन्धी कठिनाइयों को पत्रों द्वारा हल करने की कृपा की। मैं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। डा० कृष्णविहारी मिश्र, डा० दरबारी-लाल कोठिया, पं० फूलचन्द्र शास्त्री, डा० गोकुलचन्द्र जैन, श्री सूर्यमणि मिश्र, श्री छोटेलाल गुप्त, श्री दुर्गाप्रसाद भट्टाचार्य, श्री एस० के० 'हिन्दी' और डा० चन्द्रप्रकाश त्यागी भी मेरे लिए अविस्मरणीय हैं। इन सभी ने मुझे बराबर लिखने की प्रेरणा दी। मित्रों में श्री मोहनलाल, लालचन्द्र-बालचन्द्र शास्त्री, जयप्रसाद बलोधी, के० रवि० मेनन, शालिग्राम त्रिपाठी और बलराम रेकबार के सहयोग को नहीं भुलाया जा सकता। पिता श्री शोभाराम जी जैन, अग्रज डा० ज्ञानचन्द्र जी जैन ने अध्ययन के लिए पारि-वारिक समस्त दायित्वों से मुक्त रखकर मुझे पूर्ण स्वतन्त्र और निश्चिन्त रहने दिया। विशेष रूप से यह कार्य इसीलिए सम्पन्न हो सका। मैं नतमस्तक हूँ।

अन्त में मैं उन समस्त लेखकों, आलोचकों और ग्रन्थकारों का आभारी हूँ जिनसे मैंने शोध-प्रबन्ध के लिए सहायता ली है। विद्वान् पाठकों से निवेदन है कि वे मेरी त्रुटियों को सुझाकर उन्हें दूर करने का अवसर प्रदान करें।

सुमेर आई हॉस्पिटल
इस्लामनगर, बदायूँ
१६-६-७३

प्रेमचन्द्र जैन
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
साहू जैन कॉलेज
नजीबावाद (उ० प्र०)

प्राक्कथन

अपभ्रंश कथाकाव्य एवं हिन्दी प्रेमाख्यानक डा० प्रेमचन्द्र जैन का विवेचनापूर्ण ग्रंथ है। अस्पष्ट रूप से बराबर ही अनुभव किया गया है कि अपभ्रंश कथाकाव्यों की परंपरा का विकास ही हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य हैं। परन्तु दो कारणों से इसे स्पष्ट रूप से प्रमाणित करने में बाधा पड़ी है। एक तो यह है कि अपभ्रंश के कथाकाव्य अधिकतर जैन कवियों की रचना है और यह मान लिया गया है कि वे धार्मिक ग्रंथ हैं। दूसरा यह है कि हिन्दी में पाये जाने वाले प्रेमाख्यानक नामक काव्य अधिकतर मुसलमान कवियों के हैं और उनमें पारसी कविता के प्रभाव की संभावना अधिक है। परन्तु ये दोनों बातें एक हद तक ही सही हैं। इन दोनों प्रकार के काव्यों का बारीकी से अध्ययन आवश्यक था। किस प्रकार की कथानक-रूढ़ियों का दोनों प्रकार के काव्यों में प्रयोग हुआ है और किस हद तक दोनों प्रकार के काव्यों में काव्य की अन्यान्य रूढ़ियों और अभिप्रायों का आश्रय लिया गया है, यह जाने बिना इनकी प्रकृति की ठीक-ठीक जानकारी नहीं हो सकती। सौभाग्य से हमें कुछ ऐसे भी अपभ्रंश के कथाकाव्य मिले हैं जो जैन परंपरा के नहीं कहे जा सकते। और कुछ ऐसे भी प्रेमाख्यानक काव्य मिले हैं जो मुसलमान कवियों से भिन्न सम्प्रदाय के कवियों द्वारा लिखे गये हैं। इन सबकी सावधानी से परीक्षा की जानी चाहिये। मुझे प्रसन्नता है कि आयुष्मान् डा० प्रेमचन्द्र जी ने हिन्दी-अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों का परिश्रमपूर्वक परीक्षण किया है। उनमें पायी जाने वाली कथानकगत एवं काव्यगत रूढ़ियों का, विभिन्न श्रेणियों के अभिप्रायों का तथा प्रतीकों का बहुत अच्छा विश्लेषण किया है और एक लम्बी परम्परा का संधान पाया है। इस विवेचन से हिन्दी साहित्य के अनुशीलन को एक नयी दिशा मिलेगी। मुझे आशा है कि साहित्य-प्रेमी इसका स्वागत करेंगे। मैं आयुष्मान् डा० प्रेमचन्द्र जैन को उनकी परिश्रमपूर्वक की गयी खोज के लिए हार्दिक बधाई देता हूँ।

वाराणसी
१६.६.७३

हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रस्तुत पुस्तक में

अध्याय ५

अध्याय ६

अपभ्रंश कथाकाव्य एवं हिन्दी प्रेमाख्यानक

अध्याय १

प्रास्ताविक

भारतीय वाङ्मय में ही नहीं अपितु विश्व-वाङ्मय में प्रेम-प्रसंग अधिकांश काव्यों की विषयवस्तु रहा है। नहीं कहा जा सकता कि प्रेम तत्त्व की उत्पत्ति और अनुभूति मानव-हृदय में कब कैसे हुई। इतना सच है कि भारतीय साहित्य में वैदिककाल से वर्तमान समय तक प्रेम को लेकर चर्चाएँ हुईं, आख्यानक, चरित, चम्पू एवं कथा-काव्यों से लेकर उपन्यास, कहानी और वार्ताएँ तक लिखी गईं। वैदिककाल के पुरुरवा-उर्वशी, यम-यमी संवाद, श्यावाश्य आदि, संस्कृतकाल के अथवा संस्कृत भाषा में रचित पुरुरवा-उर्वशी, नल-दमयन्ती, दुष्यन्त-शकुन्तला, उषा-अनिरुद्ध, कृष्ण-रुक्मिणी, अर्जुन-सुभद्रा, भीम-हिडिम्बा आदि के प्रेम प्रसंगों को आधार बनाकर लिखे गये काव्यों तथा नैषधचरित, वासवदत्ता, कादम्बरी आदि प्रेमकृतियों, प्राकृत भाषा में प्रणीत तरंगवईकहा, लीलावईकहा, आरामसोहाकहा, सिरिवालकहा, अंजनासुन्दरीकहा, जयसुन्दरीकहा, भव्यसुन्दरीकथा, पद्मश्रीकथा, विश्वसेनकुमारकथा, सुरसुन्दरकथा आदि; अपभ्रंश भाषा में प्रणीत भविसयत्तकहा, पुरंदरकहा, जिनरत्तिकहा, सुअंधदसमीकहा, विलासवईकहा, सिरिवाल-कहा, वर्द्धमानकथा, निद्दुहसत्तमीकहा, सुदंसणचरिउ, जंबूसामिचरिउ, पासणाहचरिउ, करकंडुचरिउ, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ, पउम-सिरिचरिउ, सुलोयणाचरिउ, भविसयत्तचरिउ, सनत्कुमारचरित, णेमिनाहचरिउ, चंदप्पहचरिउ आदि का उक्त सन्दर्भ में उल्लेख किया जा सकता है।

हिन्दी का प्रेमाख्यान साहित्य भी पूर्व प्रेमाख्यानकों की शृंखला में महत्त्वपूर्ण कड़ी के समान जुड़ा हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास जी के पहले लोकभाषा में प्रेम-कथानकों का ऐसा साहित्य काफी अधिक संख्या में लिखा गया था जिसके कथा-अंश का आधार लोकप्रचलित कथानक

थे।[1] इन प्रेमाख्यानकों का उस समय वही मूल्य था जो आज प्रेमविषयक उपन्यासों का। रसिकजन अथवा रोजी-रोटी की समस्या से मुक्त समय यापन करने वाले लोग तत्कालीन प्रेमाख्यानकों को रुचि से पढ़ते थे। जैन कवि बनारसीदास के आत्म-चरित 'अर्द्धकथानक' से यह बात प्रमाणित हो जाती है :

तब घर में बैठे रहैं, जाँहि न हाट बजार।
मधुमालति मिरगावती, पोथी दोइ उचारि ॥ ३३५ ॥[2]

यों तो हिन्दी प्रेमाख्यानों का प्रारम्भ हिन्दी के रासो ग्रन्थों से ही मानना चाहिए। रासो ग्रन्थ परम्परा में पृथ्वीराजरासो एक विशाल ग्रन्थ के रूप में हमारे सामने आता है। इसमें अपभ्रंश की अनेक प्रकार की शैलियों का सम्मिश्रण मिलता है। वस्तुतः इस ग्रन्थ को भी प्रेमाख्यानकों की कोटि में ही समझना चाहिए।[3] इस सन्दर्भ में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है : 'मूलतः ये सभी प्रेम-कथानक हैं। इनमें प्रेमकथानकों की सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। अन्तर इतना ही है कि यहाँ नायक की युद्ध-पटुता और शौर्य-प्रदर्शन मुख्य हो गया है और प्रेम-व्यापार गौण।'[4] इसी प्रकार वीसलदेवरासो भी एक प्रेम-कहानी ही है। यह मसृणरास काव्य है जिसमें युद्ध का कहीं भी प्रसंग नहीं आता। खासतौर से यह विप्रलंभ शृंगार की महत्त्वपूर्ण कृति है।

इसी प्रकार मध्ययुगीन हिन्दी प्रेमाख्यानकों में चन्दायन, सखमसेन, पद्मावतीकथा, चंदकुंवरि री बात, सदयवत्स-सावलिंगा की कथा, मधुमालतीवार्ता (चतुर्भुजदास), छिताईवार्ता, मंझनकृत मधुमालती, मृगावती, उषाहरण, प्रेमविलास-प्रेमलता, रूपमंजरी, कृष्ण-रुक्मिणी, चित्ररेखा, चित्रावली, इन्द्रावती, रसरतन, नल-दमयन्तिकथा, ज्ञानदीप, माधवानल, कामकन्दला पर आधारित अनेक कृतियाँ (कुशललाभ, गंणपति, बोधा, आलम और दामोदर कृत), रुक्मिणीपरिणय, सत्यवती की कथा, हंस-जवाहिर, अनुरागवाँसुरी, प्रेमदर्पण, भाषाप्रेमरस,

---

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, वि० सं० २००९, पृ० २५९.
२. बनारसीदास, अर्धकथानक, सं० नाथूराम प्रेमी, १९५७, पृ० ३८.
३. डा० सरला शुक्ल, हिन्दी-सूफ़ी कवि और काव्य, वि०सं० २०१३, पृ० ३७५.
४. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० २६१.

कनकावती, कामलता, मधुकरमालती, रतनावली, छोता आदि जान कवि कृत उनतीस प्रेमाख्यानों तथा नूरजहाँ, लैला-मजनूँ, युसुफ-जुलेखा आदि की गणना की जा सकती है।

उक्त हिन्दी प्रेमाख्यानक साहित्य के सम्बन्ध में एक बात जो उल्लेखनीय है वह यह कि हिन्दी प्रेमाख्यानकों की दो धाराएँ रही हैं—१. विशुद्ध भारतीय या हिन्दू प्रेमाख्यान, २. सूफ़ी प्रेमाख्यानक। इन धाराओं का विशद विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में किया गया है अतः यहाँ इनका उल्लेख मात्र ही पर्याप्त होगा। सूफी कवियों ने मसनवी पद्धति में रचनाएँ कीं। परिणामतः भारतीय प्रेमाख्यानकों की शैली में परिवर्तन आ गया। सूफियों के मतानुसार लौकिक प्रेम तथा अलौकिक प्रेम में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। उनकी मान्यता है कि इश्क हक़ीकी (अलौकिक प्रेम) के लिए इश्क मजाज़ी (लौकिक प्रेम) का होना भी अनिवार्य है :

इश्क हक़ीकी के लिए इश्क मजाजी है जरूर।
बैवसीला कहीं बन्दे को ख़ुदा मिलता है॥

(एक सूफ़ी कवि)

इन सूफी साधकों और कवियों ने भारतीय-अभारतीय पद्धतियों का ध्यान न कर दोनों का मिश्रण कर दिया। इस प्रकार हिन्दी प्रेमाख्यानक साहित्य एक नये काव्यरूप में विकसित हुआ। इसका एक कारण यह भी था कि मध्यकालीन राजनीतिक उथल-पुथल के कारण प्रेमाख्यानकों की शैली पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव पड़े।

डा० शिवप्रसाद सिंह भारतीय प्रेमाख्यानकों के विषय में लिखते हैं : 'भारतीय प्रेमाख्यानक सम्पूर्ण एशियाई संस्कृति की प्रतिफलन पीठिका है। इनमें अनुस्यूत तत्त्वों के समाजशास्त्रीय, पुरातात्त्विक और ऐतिहासिक अध्ययन का अभी आरम्भ ही हुआ है। यह विपुल ज्ञानराशि अनेकानेक सुधीजनों के श्रम और शक्ति का आह्वान करती है।'[1] वस्तुतः हिन्दी प्रेमाख्यान साहित्य में विविध रूपों का मिश्रण होने से एक नये काव्य रूप का जन्म हुआ है। हिन्दी साहित्य में पौराणिक प्रेमाख्यानों के आधार पर भी कई रचनाएँ हुई जिनके माध्यम से यह कहा जा सकता है कि

१. डा० शिवप्रसाद सिंह, रसरतन की भूमिका, पृ० ७३.

पौराणिक प्रेमाख्यानसम्बन्धी रचनाओं की दृष्टि से भी हिन्दी साहित्य किसी हीनत्व की भावना से ग्रसित नहीं था। हिन्दी प्रेमाख्यानकों में चरित-नायकों की भूमिका में कभी-कभी ऐतिहासिक व्यक्तियों को उतारा गया है और कभी उनकी कथावस्तु नितान्त काल्पनिक अथवा ख्यात एवं प्रतिपाद्य का मिश्रण लेकर सामने आई है। इन काव्यों की पृष्ठभूमि के रूप में संस्कृत के चरित-कथाकाव्यों के विषय में संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

अपभ्रंश साहित्य में चरितकाव्यों की बहुलता है। वैसे चरित-काव्यों की परम्परा संस्कृत साहित्य से ही अपभ्रंश में आई, ऐसा मानना उचित है। संस्कृत साहित्य में बुद्धचरित, हर्षचरित, दशकुमारचरित आदि प्रमुख चरित-काव्य हैं। 'चरित' शब्द का प्रयोग वाण से पहले ही होने लगा था।[1] अश्वघोष के बुद्धचरित से इस बात की पुष्टि होती है। अश्वघोष का समय १०० ई० के आसपास माना गया है।[2] बुद्धचरित भगवान् बुद्ध के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं से सम्बन्धित है। इस प्रकार आगे चल कर चरितकाव्यों की एक परम्परा ही कायम हो गई। अश्वघोष के बुद्ध-चरित से लेकर तुलसी के रामचरितमानस तक चरित-काव्यों की अवि-च्छिन्न परम्परा मिलती है।[3]

संस्कृत साहित्य के महान् गद्य-कवि बाणभट्ट के दो कथाकाव्य संस्कृत साहित्य को उनकी अभूतपूर्व देन हैं। यह वही वाण हैं जिनके विषय में कहा जाता है 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्'। बाण ने हर्षचरित में राजा हर्ष के चरित्र का सविस्तार वर्णन किया है। वैसे हर्षचरित विशुद्ध ऐतिहासिक चरित-काव्य नहीं है। ग्रन्थ में बाण ने हर्ष के चरित्र को काव्यमयी शैली में प्रस्तुत किया है अतएव उसका ऐतिहासिक रूप विशृंखलित हो गया है। बाण के अनुसार हर्षचरित आख्यायिका है और कादम्बरी कथा। उनके मतानुसार आख्यायिका में ऐतिहासिक आधार होना चाहिए और कथा के लिए कल्पनाप्रसूत। हर्षचरित और कादम्बरी के कथानकों पर तो यह लक्षण घटित हो जाता है। परन्तु यह लक्षण विरोधपूर्ण था। दंडी और बाण के समय में कथा-आख्यायिका के लक्षणों को लेकर मतभेद

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ९.
२. ए० वी० कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), पृ० ६८.
३. डा० वा० अग्रवाल, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ९.

था। जिसका विवेचन कथा और आख्यायिका का लक्षण प्रस्तुत करते समय इसी अध्याय में आगे किया जायेगा।

बाणभट्ट की कादम्बरी संस्कृत साहित्य में एक अनमोल रत्न है। कादम्बरी का कथानक एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। इसमें प्रमुख पात्रों के चरित्र को तीन जन्मों की व्यापक पीठिका पर प्रस्तुत किया गया है। फिर भी विशेषता यह है कि कहीं भी शैली-प्रवाह में, कथानक की रोचकता और उसके तारतम्य में अवरोध उत्पन्न नहीं होता। कादम्बरी की कथा के सम्बन्ध में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है : 'कथा की दृष्टि से कादम्बरी का संस्थान उस वसुधान-कोश के समान है जिसमें ढक्कन के भीतर ढक्कन खुलता हुआ पद-पद पर नया रूप, नया यश और नया विधान आविष्कृत करता है। यहाँ पात्रों के चरित्र एक जीवन में नहीं, तीन-तीन जीवन पर्यन्त हमारे सामने आते हैं।'[1] इसकी कथावस्तु को संक्षेप में इस प्रकार देखा जा सकेगा[2]—

१. शूद्रक की राजसभा में चांडाल कन्या का आगमन तथा वैशम्पायन तोते का परिचय और उसके द्वारा कथा का आरम्भ।
(अनुच्छेद १–११ तथा अनु० १२–१६)

२. विंध्याटवी-वर्णन। (अनु० १७–३५)
जावालिका आश्रम, जावालि ऋषि द्वारा वैशम्पायन तोते की कथा का आरंभ। (अनु० ३६–४३)

३. उज्जयिनी और तारापीड का वर्णन, चन्द्रापीड का जन्म।
(अनु० ४४–६७)
चंद्रापीड की शिक्षा, यौवराज्याभिषेक और दिग्विजय।
(अनु० ६८–१२३)

४. अच्छोद सरोवर का वर्णन, चन्द्रापीड और महाश्वेता की भेंट एवं महाश्वेता का अपना वृतांत कथन। (अनु० १२४–१८१)
कादम्बरी और चन्द्रापीड का प्रथम मिलन। (अनु० १८२–२१२)

५. चन्द्रापीड का उज्जयिनी में लौटना, कादम्बरी का विरह और प्रेम-संदेश। (अनु० २१३–२५७)

---

१. डा० वा० अग्रवाल, कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३.

२. वही, पृ० ३-४.

चन्द्रापीड का पुनः गंधर्व लोक में जाना और मृत्यु ।
(अनु० २५८–३००)

६. महाश्वेता और कादम्बरी का शोक एवं प्रतिबोधन ।
(अनु० ३०१-३१५)

तारापीड और विलासवती का शोक, जावालि ऋषि द्वारा उद्घाटित कथासूत्र की समाप्ति । (अनु० ३१६–३२९)

७. श्वेतकेतु द्वारा भेजे हुए कपिंजल का वैशम्पायन से जावालि आश्रम में आकर मिलना । (अनु० ३३०–३३७)

जावालि आश्रम से वैशम्पायन तोते का भागना और चांडाल कन्या द्वारा पकड़कर शूद्रक की सभा में लाया जाना । (अनु० ३३८–३४७)

८. लक्ष्मी द्वारा शूद्रक तथा वैशम्पायन के पूर्वजन्म का परिचय देना और उनका जन्म शापमोचन । (अनु० ३४१)

महाश्वेता और पुंडरीक एवं चन्द्रापीड और कादम्बरी का समागम ।
(अनु० ३४२–५२)

कादम्बरी के विषय में उक्त प्रसंगों के उल्लेख करने का केवल यही उद्देश्य है कि जिस प्रकार इस कथा-काव्य में प्रधान अथवा प्रमुख पात्रों की कथा तीन भवों की कथा का निर्देश करती है, ठीक उसी प्रकार अपभ्रंश के एकाधिक जैन चरित-कथाकाव्यों में कई-कई भवों की कथाओं का उल्लेख होता है। प्राकृत भाषा में रचित समराइच्चकहा[1] में तो समरादित्य के नौ भवों तक का इतिहास प्रस्तुत किया गया है ।

संस्कृत के चरितकाव्यों की परम्परा में दण्डी (६०० ई०) का दशकुमारचरित भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें दस राजकुमारों के देशाटन की कथा है। दशकुमारचरित के नायक अपनी इष्टसिद्धि के लिए उचितानुचित सभी साधनों का प्रयोग करते हैं। लक्षण-निर्माताओं या आचार्यों द्वारा निर्धारित परम्पराओं का दण्डी द्वारा उल्लंघन किया गया है। क्योंकि गद्य काव्य में भी कथा-नायक शीलवान्, धैर्यवान् और गुणवान् होना चाहिए। परन्तु दशकुमारचरित के दसों राजकुमारों को कुत्सित और गर्हित स्थानों पर भी विचरण करते देखा जा सकता है। इस कृति

---

१. हरिभद्रसूरिविरचित समराइच्चकहा (इसका संपादन हर्मन जैकोबी एवं उसके बाद एम० सी० मोदी ने किया है)।

में साधु, पाखण्डी, जादूगर, कामान्ध, धूर्त, वेश्याओं और सेठों आदि के विषय में सजीव चित्रण तो है ही, साथ ही ऐसे अनुभवसिद्ध प्रयोग भी हैं जो सामाजिक जीवन निर्वाह करने वालों के लिए बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। दण्डी के मत से कथा और आख्यायिका में केवल नाम का भेद है।[1] बाण ने हर्षचरित को आख्यायिका और कादम्बरी को कथा माना है। हर्षचरित के प्रारम्भ में बाण लिखते हैं—**'करोम्याख्यायिकाम्बोधौ जिह्वाप्लवनचापलम्'** अर्थात् मैं इस आख्यायिका रूपी समुद्र में चपलतावश जिह्वा चला रहा हूँ। कादम्बरी को बाण ने 'कथा' द्वारा सम्बोधित किया है—**'धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा'**।[2] बाण ने कथा और आख्यायिका सम्बन्धी जो विचार प्रस्तुत किया था उससे स्पष्ट है कि कथा कल्पना-जन्य और आख्यायिका का आधार इतिहास होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि आख्यायिका और कथा के परवर्ती लक्षण निर्धारण में बाण के इस संकेत में बड़ी सहायता मिली। चाहे चरितकाव्य हो अथवा कथाकाव्य, उसमें किसी न किसी रूप में कथा तो अनुस्यूत रहेगी ही। अतएव यदि किंचित् विचार करके देखें तो आख्यान-चरित और कथाकाव्यों में कोई विशेष मौलिक अन्तर नहीं मिलता। इन सभी का मूलोद्देश्य कथा की रसमयी अभिव्यक्ति ही है।

डा० शम्भूनाथ सिंह चरितकाव्य को प्रबन्धकाव्य का ही एक विशेष रूप मानते हैं।[3] उनका कथन है कि प्रबन्धकाव्य, कथाकाव्य और इतिवृत्तात्मक कथा (पुराणकथा आदि) के लक्षणों का समन्वय हुआ है इसीलिए प्रायः चरितकाव्यों ने अपने को कभी चरित, कभी कथा और कभी पुराण कहा है। चरितकाव्य की कुछ निजी विशेषताएँ होती हैं जिससे वह पुराण, इतिहास और कथा से भिन्न एक विशेष प्रकार का प्रबन्धकाव्य माना जाता है। संस्कृत साहित्य में चार शैलियों—शास्त्रीय शैली, ऐतिहासिक शैली, पौराणिक शैली और रोमांसिक शैली में लिखे

---

१. डा० सत्यनारायण पांडेय, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २५८.

२. कादम्बरी, पूर्वार्द्ध, श्लोक २०.

३. डा० शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्यों का स्वरूप और विकास, पृ० २८६-८७.

प्रबन्धकाव्य मिलते हैं। अपभ्रंश में पौराणिक और रोमांसिक दो ही शैलियों के प्रबन्धकाव्य मिलते हैं और वे सभी चरितकाव्य हैं।

चरितकाव्यों का लक्षण इस प्रकार किया गया है :

१. चरितकाव्य की शैली जीवनचरित की शैली होती है। उसमें चरितकाव्य के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त की अथवा कई जन्मों (भवान्तरों) की कथा रहती है।

२. चरितकाव्यों में प्रायः प्रेम, वीरता और धर्म या वैराग्य-भावना का समन्वय दिखलाई पड़ता है। सबमें कोई न कोई प्रेमकथा अवश्य होती है और उसका स्थान गौण नहीं, महत्त्वपूर्ण होता है। प्रायः सभी चरितकाव्यों में प्रेम का प्रारम्भ समान रूप से होता है।

३. प्रायः सभी में कथारम्भ के लिए वक्ता-श्रोता योजना अवश्य रहती है।

४. उसमें अलौकिक, अतिप्राकृत और अतिमानवीय शक्तियों, कार्यों और वस्तुओं का समावेश अवश्य रहता है, जो पौराणिक और रोमांसिक शैली के कथाकाव्यों, पौराणिक कथाओं और लोककथाओं की देन है।

५. उनका कथानक शास्त्रीय प्रबन्धकाव्यों जैसा पंचसंधियों से युक्त और कार्यान्विति वाला नहीं होता। वह कथानकों की तरह स्फीत, विशृंखल, गुम्फित या जटिल होता है।

६. शैली कथाकाव्यों से अधिक उदात्त होती है।

७. यह उद्देश्यप्रधान होता है, मनोरंजनप्रधान नहीं।

उद्देश्य और विषयवस्तु की दृष्टि से चरितकाव्य छः प्रकार के होते हैं—धार्मिक, प्रतीकात्मक, वीरगाथात्मक, प्रेमाख्यानक, प्रशस्तिमूलक और लोकगाथात्मक। हिन्दी के अधिकांश मध्यकालीन प्रबन्धकाव्य अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की भांति चरितकाव्य ही हैं।

यहाँ हम संस्कृत के लक्षणग्रन्थों के आधार पर कथा-आख्यायिका के रूप पर विचार करेंगे। 'कथा' शब्द संस्कृत की 'कथ्' धातु से बना है। इसका सामान्य अर्थ होता है 'जो कुछ कहा जाये' वह कथा है। बंगला भाषा में भी उक्त अर्थ में ही इसका प्रयोग किया गया है। यदि कथा का अर्थ उसके सामान्य अर्थ पर से ही निर्धारित किया जाये तब कदाचित् वह अनुपयुक्त होगा। क्योंकि जो कुछ कहा जाये वह सभी कथा नहीं माना जा सकता। श्रीमद्भागवत में संसार ताप से संतप्त प्राणो के लिए कथा को पीयूष के समान जीवनदायिनी कहा गया है :

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥[१]

श्रीमद्भागवत में ही 'वार्ता' और 'कथा' शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।[२] संस्कृत-आचार्यों ने महाकाव्य, कथा और आख्यायिका में भेद किया है। दंडी का कथन है कि कथा गद्य में ही निबद्ध होनी चाहिए। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ का मत है कि कथा में वस्तुवर्णन सरस हो और वह गद्य में ही रचित हो। कहीं पर इसमें आर्या तथा कहीं वक्रापवक्र छन्द भी आते हों। कथा के प्रारम्भ में नमस्कार एवं दुर्जनादि के चरित्र पद्यमय वर्णित होते हैं। जैसे कादम्बरी आदि :

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ॥
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्रापवक्रके ।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ॥[३]

यथा—कादम्बर्यादिः ।

अग्निपुराण में गद्य-काव्य के पाँच भेद कहे गये हैं—आख्यायिका, कथा, खंडकथा, परिकथा और कथानिका।[४] उसके अनुसार आख्यायिका वह है जिसमें लेखक के वंश की कुछ विस्तार से प्रशंसा हो, जिसमें कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ आदि विपत्तियों का वर्णन हो, जिसमें रीति और वृत्ति अति प्रदीप्त शैली में हों, जिसमें उच्छ्वास नामक परिच्छेद हों, जिसमें चूर्णक शैली का बाहुल्य हो एवं वक्त्र और अपवक्त्र नामक श्लोक हों।[५]

इसके विपरीत कथा का लक्षण इस प्रकार किया गया है :

श्लोकैः स्ववंशं संक्षेपात् कविर्यत्र प्रशंसति ।
मुख्यस्यार्थावताराय भवेद् यत्र कथान्तरम् ॥
परिच्छेदो न यत्र स्याद् भवेद् वा लम्बकैः क्वचित् ।
सा कथा नाम तद्गर्भे निबध्नीयाच्चतुष्पदीम् ॥[६]

---

१. श्रीमद्भागवत, १०. ३१. ९.

२. यत्र भागवती वार्ता तत्र भक्त्यादिकं व्रजेत् ।
कथाशब्दं समाकर्ण्य तत्त्रिकं तरुणायते ॥ श्रीमद्भागवत (माहात्म्य), ३. ९.

३. आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, षष्ठोच्छ्वास, श्लो० ३३२-३३.

४. अग्निपुराण, ३३६. १२.

५. वही, ३३६. १३-१४.

६. वही, ३३६. १५-१७.

अर्थात् कथा वह है जिसमें आरम्भ में कविवंश का संक्षिप्त वर्णन हो, मुख्यार्थ का आरम्भ कराने के लिए भूमिका में दूसरी कथा कही जाय और जिसमें परिच्छेद न हों, अथवा कहीं-कहीं पर लम्बक हों।

आचार्य भामह ने कथा को 'इतिहासाश्रित' माना है।[1] आख्यायिका के विषय में भामह के मत से सुन्दर गद्य में लिखी सरस कहानी वाली रचना को आख्यायिका कहते हैं। यह उच्छ्वासों में विभक्त होती है। कथा कहने वाला नायक ही होता है। उसके बीच-बीच में वक्त्रापवक्त्र छन्द आते हैं। कन्यापहरण, युद्ध और अन्त में नायक की विजय का वर्णन होता है।[2] दण्डी कथा और आख्यायिका में भेद स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार कथा और आख्यायिका एक ही कोटि की रचनाएँ हैं। चूँकि कहानी नायक कहे अथवा कोई अन्य, अध्याय का विभाजन हो या न हो, उनका नाम उच्छ्वास अथवा लम्भक रखा जाये, बीच में वक्त्रापवक्त्र छन्द आवे या नहीं इन सबसे कहानी में क्या अन्तर पड़ता है? इसीलिए इन बाह्य भेदों के कारण कथा और आख्यायिका में भेद नहीं करना चाहिए।[3] भामह ने कथा और आख्यायिका में भेद किया है, यह पहले लिखा जा चुका है परन्तु वे कथा और आख्यायिका का प्रयोजन एक ही मानते हैं। वह प्रयोजन है—अभिनय।[4]

अमरकोषकार के मतानुसार आख्यायिका में ऐतिहासिक आधार होना चाहिए, परन्तु कथा कल्पना-प्रसूत होती है। आचार्य विश्वनाथ ने पूर्ववृत्त को आख्यान की संज्ञा दी है।[5] संस्कृत आख्यान-साहित्य दो भागों में विभक्त किया गया है—नीतिकथा (Diadectic fables) और लोककथा अथवा मनोरंजक कथा (Fairy-tales)। प्रथम प्रकार की

---

१. शब्दश्छन्दोऽभिधानार्थो इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यगैर्वशी॥

—काव्यालंकार, १. ९.

२. भामह, काव्यालंकार, १. २५-२८.

३. दण्डी, काव्यादर्श, १. २३-२८

४. सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे। —काव्यालंकार, १. १८.

५. आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः।

कथाओं का लक्ष्य होता है उपदेश और दूसरे प्रकार की कथाओं का मात्र मनोरंजन।[1]

इस प्रकार कथा-आख्यायिका की परिभाषा विभिन्न आचार्यों तथा कोशकारों ने विभिन्न प्रकार से की है। हिन्दी साहित्य कोश में कथा की परिभाषा इस प्रकार की गई है : 'किसी ऐसी कथित घटना का कहना या वर्णन करना जिसका कोई निश्चित परिणाम हो। घटना के वर्णन में कालानुक्रम भी आवश्यक है, जैसे सोमवार के पश्चात् मंगलवार, दिन के बाद रात, बचपन के बाद यौवन आदि। मनुष्य, पशु-पक्षी, नदी-पहाड़ आदि। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं से कथा की घटना का सम्बन्ध हो सकता है। जिससे सम्बन्धित घटना हो, उसकी किसी विशेष परिस्थिति या परिस्थिति का आदि और अन्त से युक्त वर्णन ही कथा है'।[2] प्रसिद्ध उपन्यास आलोचक ई० एम० फोर्सटर ने लिखा है कि कथा, समय की शृंखला में बँधा हुआ घटनाओं का पूर्वापर विवरण है।[3] इसी के समान एडविन म्योर की भी परिभाषा है। वे लिखते हैं : 'गद्य-काव्य की सबसे सरल विधा कथा है जो घटनाओं को अद्भुत ढंग से ब्योरेवार रिकार्ड करती है'।[4]

यहाँ संस्कृत कथाकाव्यों के लक्षणों के साथ-साथ यह जान लेना भी अनिवार्य हो जाता है कि कथाकाव्यों की भाषा के विषय में आचार्यों का क्या मत रहा था। यों दण्डी आदि के अनुसार कथा गद्य में ही रचित होनी चाहिए। परन्तु रुद्रट की मान्यता है कि कथा के आरम्भ में देवता और गुरु की वंदना होनी चाहिए। ग्रन्थकार को ग्रंथ एवं स्वयं का परिचय देना चाहिए। कथोद्देश्य व्यक्त करना चाहिए। सकल शृंगारों से

---

१. डा० सत्यनारायण पांडेय, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २७१.

२. डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्यकोश, पृ० १८३-८४.

३. "It is narrative of events arranged in their time sequence." —E. M. Forster, Aspects of Novel, p. 47.

४. "The most simple form of prose fiction is the story which records a succession of events, generally marvellous." —Edwin Muir, The Structure of Novel, p. 17.

विभूषित कन्यालाभ ही इस कथा का उद्देश्य होता है। इस प्रकार संस्कृत में कथा गद्य और अन्य भाषाओं में पद्य में लिखी जाती है :

कन्यालाभफलां वा सम्यग्विन्यस्य सकलशृङ्गारम्।
इति संस्कृतेन कुर्यात् कथामगद्येन चान्येन ॥[1]

उपर्युक्त श्लोक में 'कथामगद्येन चान्येन' पद ध्यान देने योग्य है। संस्कृत भाषा का स्पष्ट उल्लेख करके लक्षणकार ने 'अन्येन' पद से अपभ्रंश-प्राकृत की ओर इंगित किया है, यह अधिक संभव जान पड़ता है। यदि संस्कृताचार्यों के कथासम्बन्धी उक्त लक्षणों से निष्कर्ष निकाला जाए तो रुद्रट की परिभाषा का दृष्टिकोण काफी उदार कहा जायगा। वैसे लक्षणग्रंथों में आचार्यों ने इन सब बातों का ध्यान न्यूनतम ही रखा है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि रुद्रट से कुछ पूर्व की कौतूहल कवि की 'लीलावती' नामक कथा मिली है जो ठीक रुद्रट के कथालक्षणों पर घटित होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि रुद्रट ने कथा या महाकथा के लिए जो लक्षण बताये हैं वे उस समय की प्राकृत या अपभ्रंश की कथाओं को देख कर ही लिखे गये होंगे। हिन्दी प्रेमाख्यानकों में से एकाधिक प्रेमाख्यानकों पर रुद्रट की परिभाषारूपी कसौटी कसी जा सकती है। पुहुकर कवि कृत 'रसरतन' में रुद्रट की परिभाषा का अनुसरण किया गया है।[2] पुहुकर ने आरम्भ में देव-वंदना की है। सूफी प्रेमाख्यानकों की तरह शाहेवक्त की स्तुति भी की है—आदि।

कथा और आख्यायिकों में कुछ सूक्ष्म भेदों के होते हुए भी इनके संदर्भ में कहा जा सकता है कि ये एक ही श्रेणी की रचनाएँ होती थीं। इनमें कोई मौलिक भेद प्रतीत नहीं होता। हितोपदेश, कथासरित्सागर, सिंहासनबत्तीसी, बैतालपचीसी, कादम्बरी, हर्षचरित, वासवदत्ता, दशकुमारचरित आदि कथा-आख्यायिकाओं की बहुत-कुछ प्रकृति एक-दूसरे से मिलती है। कथा-आख्यायिका के उपर्युक्त सभी मतों को एकत्र करके सर्वमान्य लक्षणों की रूपरेखा इस प्रकार बन सकती है :

१. कथा-आख्यायिका में रोमांचक तत्त्वों और साहसिक कार्यों जैसे युद्ध, बलपूर्वक विवाह, कन्याहरण, भयंकर यात्रा, मार्ग की दुरूह

---

१. रुद्रट, काव्यालंकार, १६. २०-२३.

२. डा० शिवप्रसाद सिंह, रसरतन की भूमिका, पृ० ७८.

कठिनाइयाँ, देव-असुर, गन्धर्व-यक्षादि के अलौकिक कार्यों का बहुत अधिक विस्तार होता है।

२. कथा-आख्यायिका का कथानक अधिक प्रवाहयुक्त, इतिवृत्तात्मक और आकर्षक होता है किन्तु उसका मूलाधार यथार्थ जीवन नहीं होता (बाण की हर्षचरित सदृश कुछ रचनाएँ इसके लिए अपवादस्वरूप हैं)। इसमें कल्पना-जन्य अलौकिक, अतिमानवीय एवं अतिप्राकृत तत्त्वों, यात्राओं तथा असम्भव घटनाओं की अधिकता होती है। परिणामस्वरूप उसमें काल्पनिक कथा का चमत्कार और असम्भव या अविश्वसनीय घटनाओं की भरमार होती है।

३. कथा-आख्यायिका में कथानक की कोई श्रृंखलित योजना नहीं होती। उसका कथानक स्फीतियुक्त, उलझा हुआ और जटिल होता है। प्रायः उसका प्रारम्भ ही कथांतर से होता है, फिर उसमें कथा के भीतर कथा और उस अन्तर्गत कथा में भी गर्भकथाएँ भरी रहती हैं। कुछ कथाएँ ऐसी भी होती हैं जिनमें अनेक कथाएँ किसी एक सूत्र से परस्पर बाँध दी गई रहती हैं। यद्यपि उन सबका अस्तित्व अलग-अलग ही रहता है।

४. कथा-आख्यायिकाओं की कथाओं में विवाह और उसके लिए युद्ध तथा प्रेम के संयोग एवं वियोग पक्ष के वर्णन पर अधिक ध्यान दिया जाता है। परिणामस्वरूप उसके नायक प्रायः धीर ललित होते हैं और उनका जीवन अयथार्थ पर आधारित होता है। वे प्रायः निजन्धरी होते हैं या कथाकार द्वारा निजन्धरी ऊँचाई तक पहुँचा दिये जाते हैं। भारतीय कथाओं में विक्रमादित्य, सातवाहन, उदयन, दुष्यन्त और नल आदि ऐसे ही चरित्र हैं, जो ऐतिहासिक होते हुए भी निजन्धरी व्यक्तित्व द्वारा गढ़े हुए हैं। युद्ध, साहस एवं वीरता के कार्यों का वर्णन कथा-आख्यायिकाओं में भी होता है पर वैसा नहीं जैसा अलंकृत काव्यों में होता है। कथाकार युद्ध और वीरता को प्रेम और श्रृंगार का साधनमात्र समझता है, जिससे उसका मन इन बातों में ही रमता है।[1]

पहले लिखा जा चुका है कि हिन्दी प्रेमाख्यानकों की एक सुदृढ़ परम्परा

---

१. विस्तार के लिए देखिए—डा० शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्यों का स्वरूप और विकास, पृ० ४०१-४.

रही है। यहाँ विचारणीय यह है कि हिन्दी प्रेमाख्यानकों का मुख्य लक्षण क्या है? यह तो सुनिश्चित ही है कि प्रेमाख्यानकों अथवा प्रेमगाथाओं का आधार कोई न कोई प्रेम-कथा, प्रेम-कहानी, प्रेम-वार्ता अथवा कोई लोकवार्ता या प्रचलित कहावत ही होगी। जहाँ तक मेरा इस विषय में अध्ययन है वहाँ तक मैं यह कह सकता हूँ कि संस्कृत कथाकाव्यों की भाँति हिन्दी प्रेमाख्यानकों को किसी एक परिभाषा के वृत्त में नहीं घेरा जा सकता। हिन्दी प्रेमाख्यान अपनी पृष्ठ-भूमि में जहाँ एक ओर भारतीय प्राचीन परम्परा को सुरक्षित रखे हुए हैं वहाँ दूसरी ओर अभारतीय विशेषकर सूफी परम्परा के प्रभाव से अछूते नहीं रह सके हैं। सूफी प्रेमाख्यानकों की एक अलग धारा रही है। इस बात का संकेत मैंने पूर्व भी किया है कि कोई भी प्रेम-कथा चाहे वह चरितकाव्य के रूप में अथवा दन्तकथा के आधार पर रचित अथवा लोकवार्ता आदि से सम्बन्धित होकर सामने आई, उसे प्रेमगाथा या प्रेमाख्यान कहने में संकोच की क्या बात है? हाँ, यह बात अवश्य द्रष्टव्य होगी कि उस कथा, आख्यायिका अथवा आख्यान में प्रेमकथा की प्रधानता है या नहीं। यदि प्रेमकथा की प्रधानता नहीं है तो अवश्य ही विषयान्तर होगा।

साधारणतया प्रेमाख्यानकों के सन्दर्भ में लोक-मर्यादा का प्रश्न उठता है। ऐसी स्थिति में मेरा विचार है कि कोई भी सजग कृतिकार जान-बूझकर लोकमर्यादा के परे की बात नहीं लिखता। यदि वह चरमोत्कर्ष की बेला में लोकमर्यादा का अतिक्रमण बरबस कर जाता है तो क्षम्य है। चूंकि 'प्रेमाख्यानकों में लोकमर्यादा का अतिक्रमण दोष नहीं गुण समझा जाता है।'[1]

हिन्दी प्रेमाख्यानकों को अध्ययन की सुविधा के लिए तीन भागों में विभक्त करके देखा जा सकता है। अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि उपलब्ध प्रेमाख्यानक तीन प्रकार के हैं :[2]

१. आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए लिखे गये काव्य।
२. विशुद्ध लौकिक प्रेम-काव्य।
३. अर्द्ध-ऐतिहासिक प्रेमगाथाएँ।

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ० २४८.
२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० २६३.

प्रथम श्रेणी में मुख्य रूप से सूफी कवियों की रचनाएँ आती हैं। सूफियों के अतिरिक्त अन्य भक्त कवियों ने भी इस शैली को अपनाया है। अत- एव इन काव्यों की दो श्रेणियाँ हो जाती हैं[1] :

१. सूफी कवियों के लिखे प्रेमकाव्य

२. अन्य भक्त कवियों द्वारा लिखे गये प्रेमकाव्य

उक्त भेद को निम्न प्रकार से भी कहा गया है :

१. **शुद्ध प्रेमाख्यानक काव्य :** जिसमें स्त्री-पुरुष के लौकिक प्रेम का चित्रण किया हो, जैसे—छिताईवार्ता।

२. **रहस्यवादी प्रेमाख्यानक काव्य :** जिन काव्यों में लौकिक प्रेम के माध्यम से पारलौकिक प्रेम का निरूपण किया जाता हो। इस प्रकार के काव्यों में सूफ़ी कवियों की रचनाएँ प्रमुख हैं।

३. **प्रेमप्रभाव-निरूपक काव्य :** इसमें कथा नाममात्र को होती है, सारा बल प्रेम-निरूपण में ही दिया जाता है।[2]

हिन्दी के प्रेमख्यानकों का मुख्य लक्षण निर्धारित करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे संस्कृत के लक्षणों को पूर्णतः नहीं स्वीकार करते। हिन्दी प्रेमख्यानकों का अपना एक निजी और नया काव्यरूप है।

हिन्दी प्रेमाख्यानकों की शिल्प-विधि की कठिनाइयों का जहाँ तक प्रश्न है, वे तो आज तक भी ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। उसका मूलभूत कारण प्रथम तो यही है कि प्रेमाख्यानकों के मुद्रण के अभाव में उस ओर किसी की सावधान दृष्टि पड़ी ही नहीं। द्वितीय यह कि किसी वस्तु से उसके शिल्प को अलग नहीं किया जा सकता। चूँकि हिन्दी साहित्य अपभ्रंश साहित्य का चिर-ऋणी है अथवा डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव की शब्दावली में, 'हिन्दी भाषा और साहित्य की विकास-श्रृंखला का सम्यक् परिचय बिना अपभ्रंश भाषा के अध्ययन के संभव नहीं है।'[3] अतएव उस ओर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है। मध्यकालीन हिन्दी के प्रेमाख्यानकों का शिल्प और कथा-संघटन अपभ्रंश से बहुत प्रभावित है। अबतक इस

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० २७८.

२. छिताईवार्ता, सं० —डा० माताप्रसाद गुप्त, परिचय, पृ० १२.

३. डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव, अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० ३९.

विषय में विद्वानों के संकेत मात्र मिलते हैं। जैसे, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'ध्यान देने की बात है कि चरित्रकाव्य या आख्यानकाव्य के लिए अधिकतर चौपाई, दोहे की पद्धति ग्रहण की गई है। चौपाई-दोहे की यह परम्परा हम आगे चलकर सूफियों की प्रेम कहानियों में, तुलसी के रामचरितमानस में तथा छत्रप्रकाश, ब्रजविलास, सबलसिंह चौहान के महाभारत इत्यादि अनेक आख्यानक काव्यों में पाते हैं।'[1] डा० भगीरथ मिश्र लिखते हैं—'जायसी, तथा प्रेमाख्यानक कवियों की कहानी और प्रेमवर्णन का मूल जैनाचार्यों द्वारा लिखी प्राकृत और अपभ्रंश कथाओं···· में मिलता है।···जायसी, तुलसी आदि की दोहा-चौपाई वाली शैली जो हिन्दी में इतनी सफल सिद्ध हुई, अपभ्रंश से ही प्रारम्भ हुई है।'[2] डा० हरिकान्त श्रीवास्तव की मान्यता है कि '·······हिन्दी आख्यानक काव्य अपभ्रंश के चरित्र और पुराण काव्यों के उत्तराधिकार में मिले।'[3] प्रो० हरिवंश कोछड़ का कथन है—'अपभ्रंश काव्यों के प्रेमाख्यानक काव्य हिन्दी साहित्य में जायसी के पद्मावत के रूप में प्रकट हुए।'[4] इसी प्रकार अन्य कतिपय विद्वानों ने इस सन्दर्भ की सूचना मात्र दी है।

हिन्दी प्रेमाख्यानकों पर जो शोध अथवा समालोचनात्मक ढंग के ग्रंथ लिखे गये हैं, उनमें डा० हरिकान्त श्रीवास्तव के 'भारतीय प्रेमाख्यान काव्य'; डा. कमल कुलश्रेष्ठ के 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य'; श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'हिन्दी प्रेमगाथा काव्य संग्रह'; पं० परशुराम चतुर्वेदी के 'मध्यकालीन प्रेमसाधना' और 'हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान'; डा० शिवसहाय पाठक के 'मलिक मोहम्मद जायसी और उनका काव्य'; श्री चन्द्रबली पांडेय के 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत'; डा० श्याममनोहर पांडेय के 'मध्ययुगीन प्रेमाख्यान' और डा० सरला शुक्ल के 'हिन्दी-सूफी कवि और काव्य' आदि का उल्लेख किया जा सकता है। यहाँ यह भी कहना अनिवार्य है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी हिन्दी-प्रेमाख्यानकों के सन्दर्भ में थोड़ी-घनी सामग्री दी ही गई थी। उल्लिखित सभी सामग्री अपने क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान तो रखती है, परन्तु इन सभी में शिल्प पर

---

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम सं०, पृ० ८-९.
२. डा० भगीरथ मिश्र, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४८.
३. डा० हरिकान्त श्रीवास्तव, भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, पृ० २६.
४. प्रो० हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ३८८.

विचार का अभाव है। कहीं शिल्प की चर्चा उठाई भी गई है तो वह नगण्य है।

हिन्दी प्रेमाख्यानकों के शिल्पगठन पर वास्तविक प्रभाव अपभ्रंश कथाकाव्यों. का पड़ा। शुद्ध भारतीय शैली के प्रेमाख्यानक अपभ्रंश के पुराण और चरितकाव्यों की देन हैं। विचारकों ने उक्त सत्य को स्वीकार किया है, फिर भी इस विषय पर विस्तार के अभाव में हिन्दी प्रेमाख्यानकों की वस्तु-गठन, शैली-शिल्प आदि का अध्ययन अधूरा ही रह जाता है। मूल प्रश्न शिल्प-विधि की कठिनाइयों का था। उक्त प्रसंग में हमने देखा कि शिल्प-विधि के अध्ययन की कठिनाइयों का समाधान अत्यधिक श्रम-साध्य एवं दुहरा व्यापार है। कारण इसका यही है कि शिल्पविधि पर आधिकारिक ढंग से किसी ने नहीं सोचा या कार्य किया। नये सिरे से कोई भी कार्य किया जाये उसमें कठिनाइयाँ होना स्वाभाविक है। ठीक यही बात हिन्दी-प्रेमाख्यानकों की शिल्पविधि के अध्ययन की कठिनाइयों के संदर्भ में कही जा सकती है।

हिन्दी प्रेमाख्यानकों का शिल्प क्या है ? इसे निर्दिष्ट करने के लिए एक कसौटी चाहिये और उसका प्रारूप यह होगा :

१. **कथावस्तु :** मंगलाचरण, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, कथान्यास, कथाविस्तार, कथोद्देश्य, युद्धवर्णन, कन्या-प्राप्ति, पारलौकिक या इहलौकिक सुख (आरम्भ, विकास-संघर्ष और फलप्राप्ति)।

२. **कथासंघटन-वस्तुवर्णन :**
   १. नगर, वन, बाग, गिरि, ताल, सरिता, हाट आदि।
   २. अश्व, सेना, आयुध, सिंहासन आदि।
   ३. सांस्कृतिक आलम्बन—संगीत, विधाएँ, धार्मिक विश्वास, अन्ध-विश्वास, आकस्मिक घटना, संयोजन आदि।
   ४. भाषा-शैली, कथा-शैली, दोहा-चौपाई, कड़वक, घत्ता, संधि, अध्याय आदि का विवेचन आवश्यक है।

'शिल्प' शब्द के अर्थ अथवा अर्थ-विस्तार पर प्रस्तुत प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में मूलरूप से विचार किया जायगा। यहाँ यह कहना आवश्यक होगा कि मैं शिल्प को सिर्फ शैली नहीं मानता। शिल्प एक व्यापक शब्द है जिसमें शैली की विशेषताएँ तो आ ही जाती हैं, पर इसके अतिरिक्त कथा की गठन (स्ट्रक्चर), रूढ़ियाँ (मोटिफ्स), वस्तुवर्णन, साज-

सज्जा तथा कथाकाव्यों का पूरा रचाव भी शिल्प के अन्तर्गत आता है। मैं यहीं प्रभाव शब्द की भी व्याख्या कर देना चाहता हूँ। प्रभाव का अर्थ सीधी छाप या सादृश्य नहीं, प्रभाव को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है, इसे एक प्रकार से अपभ्रंश कथा-शिल्प का हिन्दी कथा-शिल्प के विकास में योगदान ही कहना चाहिये। इसी योगदान की भूमिका में मेरे शोध प्रबन्ध का उद्देश्य हिन्दी प्रेमाख्यानकों और अपभ्रंश कथा-काव्यों में शिल्पगत शृंखला नियोजित करना है।

हिन्दी प्रेमाख्यानकों की तालिका

एक[1]

कृति	कृतिकार	कृतिकाल
१. चन्दायन	मुल्लादाऊद	सन् १३७० ई० (७७२ हि०)
२. सत्यवती	ईश्वरदास	,, १५०१ (१५५८ वि० सं०)
३. मृगावती	कुतुबन	,, १५०१ (९०९ हि०)
४. पद्मावती	जायसी	,, १५४० (९४७ हि०)
५. मधुमालती	मंझन	,, १५४५ (९५२ हि०)
६. रूपमंजरी	नंददास	,, १५५० के लगभग
७. माधवानल-काम-कन्दला	आलम	,, १५९१ (९९२ हि०)
८. चित्रावली	उसमान	,, १६१३ ई०
९. रसरतन	पुहकर	,, १६१६ ई०
१०. ज्ञानदीप	शेख नबी	,, १६१९ ई०
११. कनकावती	जान	,, १६१८ ई०
१२. पुहुप-बरिखा	,,	,, १६२१ ई०
१३. कामलता	,,	,, १६२२ ई०
१४. रत्नावली एवं बुद्धिसागर	,,	,, १६३४ ई०

---

१. डा० शिवगोपाल मिश्र द्वारा संपादित एवं हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी से नवम्बर १९५७ में प्रकाशित 'मंझनकृत मधुमालती' से.

कृति	कृतिकार	कृतिकाल
१५. छीता	जान	सन् १६३६ ई०
१६. रूपमंजरी	,,	,, १६३७ ई०
१७. कमलावती	,,	,, १६३९ ई०
१८. कलंदर	,,	,, १६४५ ई०
१९. नल-दमयन्ती	,,	,, १६५६ ई०
२०. नलदमन	सूरदास लखनवी	,, १६५७ ई०
२१. मृगावती की कथा	मेघराज प्रधान	,, १६६६ ई०
२२. पुहुपावती	दुखहरनदास	,, १६६९ ई०
२३. हंस-जवाहिर	कासिमशाह	,, १७२१ ई०
२४. इन्द्रावती	नूरमुहम्मद	,, १७४४ ई०
२५. विरह-वारीश	बोधा	,, १७५२-५८ ई०
२६. प्रेमरतन	फाजिलशाह	,, १८४८ ई०

दो[1] -

१. मृगावती	शेख कुतबन	१५६० वि०
२. पद्मावती	जायसी	१५७८ वि०
३. मधुमालती	मलिक मंझन	१६०२ वि०
४. चित्रावली	उसमान	१५७० वि०
५. कनकावती	जान कवि	१६७५ वि०
६. कामलता	,,	१६७८ विं०
७. मधुकरमालती	,,	१६९१ वि०
८. रतनावली	,,	१६९१ वि०
९. छीता	,,	१६९३ वि०
१०. हंस-जवाहर	कासिम शाह	१७९३ वि०
११. इन्द्रावती	नूरमुहम्मद	१८०१ वि०
१२. अनुरागबाँसुरी	,,	१८२१ वि०
१३ यूसुफ-जुलेखा	शेख निसार	१८४७ वि०

१. डा० सत्येन्द्र, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, ० २९१-२९२ से उद्धृत.

कृति	कृतिकार	कृतिकाल
१४. नूरजहाँ	ख्वाजा अहमद	१९६२ वि०
१५. भाषा-प्रेमरस	शेख रहीम	१९७२ वि०
१६. ढोला-मारू रा दूहा		
१७. रसरतन	नारायण	१६७५ वि०
१८. छिताईवार्ता	,,	१६४७ वि०
१९. विरहवारीश	बोधा	१८०९ वि०
२०. माधवानल-कामकन्दला	गणपति	१५८४ वि०
२१. माधवानलकथा	दामोदर	१७३७ वि०
२२. प्रेमविलास-प्रेमलता कथा	नटमल	१६१३ वि०
२३. राजा चित्रमुकुट-रानी चन्द्रकिरन की कथा		

प्रकाशित प्रेमाख्यानकों की सूची

१. **पद्मावत**—मलिक मुहम्मद जायसीकृत, सं०—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्र०—साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, सं० २०१२.

२. **जायसी-ग्रन्थावली**—सं०—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्र०—ना० प्र० सभा, काशी, सं० २००८.

३. **मंझनकृत मधुमालती**—सं०—डॉ० शिवगोपाल मिश्र, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, सन् १९५७.

४. **छिताईवार्ता**—नारायणदासकृत, सं०—डा० माताप्रसाद गुप्त, सं० २०१५.

५. **रसरतन**—पुहुकरकृत, सं०—डा० शिवप्रसाद सिंह, सं० २०२० (दोनों ही ना० प्र० सभा, काशी से प्रकाशित).

६. **मंझनकृत मधुमालती**— सं०—डा० माताप्रसाद गुप्त, मित्र प्रकाशन प्रा० लि०, इलाहाबाद, सन् १९६१.

७. **चंदायन**—मौलाना दाऊद दलमईकृत, सं०—डा० परमेश्वरीलाल गुप्त, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर प्रा० लि०, बंबई–४, सन् १९६४.

८. **माधवानल-कामकन्दला**—गणपति, कुशललाभ और दामोदर रचित, सं०—एम० आर० मजूमदार, ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, सन् १९४२.

९. कुतुबनकृत मृगावती—सं०—डा० शिवगोपाल मिश्र, हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग, शक सं० १८८५.
१०. मधुमालतीवार्ता—चतुर्भुजदासकृत, सं० —डा० माताप्रसाद गुप्त, ना० प्र० सभा काशी, सं० २०२१.
११. रुक्मिणीपरिणय—रघुराज सिंह जूदेवकृत, सं०—गंगाविष्णु, श्रीकृष्णदास लक्ष्मी वेंकटेश्वर, कल्याण-मुंबई, सं० १९८१.
१२. बेलिक्रिसन रुक्मिणी री—प्रिथीराजकृत, सं०—आनन्द प्रकाश दीक्षित, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर.
१३. कथा हीर राँझनि की—कवि गुरुदास गुणीकृत, सं०—सत्येन्द्र तनेजा, पटियाला, सन् १९६१.
१४. विरहवारीश माधवानल कामकन्दला चरित्रभाषा—बोधाकृत, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ.
१५. इन्द्रावती—नूरमुहम्मदकृत, सं०—श्यामसुन्दरदास, ना० प्र० सभा, काशी.
१६. ढोला-मारू रा दूहा—ना० प्र० सभा से प्रकाशित.
१७. अनुरागबाँसुरी—नूरमुहम्मदकृत, सं०—रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रबली पांडेय.
१८. उसमानकृत चित्रावली—सं०—जगन्मोहन वर्मा.
१९. चित्ररेखा—जायसीकृत, सं०—शिवसहाय पाठक, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी.
२०. बीसलदेवरास—नरपति नाल्हकृत, सं०—माताप्रसाद गुप्त तथा अगरचन्द नाहटा.

इनके अतिरिक्त उषाहरण, रूपमंजरी, बात सयाणी चारिणी री, सत्यवती की कथा, प्रेमदर्पण, हंसजवाहिर और भाषा-प्रेमरस आदि प्रेमाख्यान भी संपादित-प्रकाशित हुए हैं। हिन्दी प्रेमाख्यानकों का उक्त कार्य प्रेमाख्यानकों की परम्परा को जीवित रखने के लिए आवश्यक होने का साथ-साथ उनका अध्ययन करने वालों के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रेमाख्यानकों के संदर्भ में शोधपूर्ण कार्यों की कमी बराबर अखरती है। संपादित कार्यों की सूची में संपादन और शोधपूर्ण भूमिकाओं को प्रस्तुत करने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य 'रसरतन' के सम्पादक डॉ० शिवप्रसाद सिंह एवं 'चंदायन' के संपादक डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त का है।



अध्याय २

हिन्दी प्रेमाख्यानकों का ऐतिहासिक विकास

प्रेमाख्यानक : परिभाषा का प्रश्न

प्रेमाख्यानक, प्रेमगाथा, प्रेमकहानी और प्रेम-कथा लगभग एकार्थ-वाचक शब्द हैं। प्रेमाख्यानकों को ही कतिपय विद्वानों ने प्रेमगाथा कहा है।[1] समान अर्थ वाले शब्दों को पर्यायवाची शब्द माना जाता है। मूलतः यह व्यवस्था कामचलाऊ ही है। आख्यानक शब्द में कथा, कहानी, गाथा और कथानक आदि सभी अर्थ अन्तर्निहित हैं, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे। प्रेमाख्यान शब्द प्रेम और आख्यान के संयोग से बना है, यह प्रत्यक्ष ही है। इन दोनों शब्दों की अलग-अलग और सम्मिलित व्याख्या से प्रेमाख्यानक की परिभाषा करने में सरलता होगी। प्रेम संसार की एक ऐसी नौका है, जिसमें बैठकर संसार की सैर भी की जा सकती हैं और संसार से ऊब होने पर उससे पार भी उतरा जा सकता है। प्रेम एक ऐसा भाव है जिस पर किन्हीं बाह्य पदार्थों का प्रभाव नहीं पड़ता :

नूरमुहम्मद प्रेम पर लहे न मन्त्र न जन्त्र।
प्रेम-पीर जहाँ ऊपजे, तहाँ न औषद मन्त्र॥[2]

प्रेम का प्रभाव इतना दिव्य होता है कि 'प्रेम के दिव्य प्रभाव से उसे (प्रेमी को) अपने आस-पास चारों ओर सौन्दर्य की छाया फैली हुई दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्मसौन्दर्य प्रदर्शित करता है। यह प्रवृत्ति इस बात का पूरा संकेत करती है कि मनुष्य की अंतःप्रकृति में जाकर प्रेम का जो विकास हुआ है वह सृष्टि के बीच सौन्दर्य-विधान की प्रेरणा करने वाली एक दिव्य शक्ति के रूप में है।'[3] सत्य तो यह है कि प्रेम अनुभूतिपरक है। अतएव जिसने जैसा अनुभव किया उसने अपने ढंग से 'प्रेम' को परिभाषित किया। प्रिय से प्रेमी

---

१. डा० सत्येन्द्र, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, पृ० १३९.
२. डा० सरला शुक्ल, हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, पृ० ४७१ से उद्धृत।
३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० ८९.

की मिलनेच्छा ही प्रेम है। यह प्रेम प्रेमी और प्रेमिका को एक स्तर पर ला खड़ा करता है, जिससे वे परस्पर मिलकर एकात्म हो सकें।[1] कुछ लोगों के मत में प्रेम आनन्द (भौतिक) के अतिरिक्त कुछ नहीं है। कार्लमेंनिगर के विचार से दो व्यक्तियों के सम्मिश्रण से प्राप्त अनुभूत्यात्मक आनन्द प्रेम है।[2] परन्तु भारतीय दृष्टिकोण इससे भिन्न है। हमारे यहाँ इस प्रकार के आनन्द को 'काम' संज्ञा दी गई है। कामशास्त्र-प्रणेता वात्स्यायन लिखते हैं, **'स्पर्शविशेषविषयात्त्वस्याभिमानिकसुखानुविद्धा फलवत्यर्थप्रतीतिः प्राधान्यात्कामः।'** अर्थात् स्पर्शादिक विशेष क्रिया से सुख के साथ जो फलवान् आनन्द की प्रतीति होती है, वह काम है।[3]

कबीरदास जी ने बड़ी हृदयस्पर्शी घोषणा की थी :

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय॥[4] ४. २७७.

परन्तु इस 'ढाई आखर' की तह तक पहुँच पाना सबके वश की बात नहीं। जायसी इस प्रेम की उत्पत्ति 'विरहजन्य' मानते हैं—

'जब लगि विरह न होइ तन, हिये न उपजइ प्रेम'
—जायसी, चित्ररेखा, ६. ९८.

और जब विरह होने पर 'प्रेम' उपज गया तब भी कार्य अधूरा ही रहता

---

१. डा० भगवानदास, साइंस आफ इमोशंस, पृ० २७. "Love is the desire for union with the object loved, and therefore even tends to bring subject and object to one level in order that they may unite and become one."

२. कालमेंनिगर, लव अगेन्स्ट हेट, पृ० २७. "Love is experienced as a pleasure in proximity of a desire for fuller knowledge of one another, a yearing for mutual personality fusion."

३. वात्स्यायन, कामसूत्र, १. २. १२.

४. (अ) सं०—डा० शिवसहाय पाठक, चित्ररेखा, पृ० १४२.
कोटिक पोथी पढ़ि मरे, पंडित भा नहिं कोइ।
एकै अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होइ॥—चि०रे० ५१.
(ब) सं०—डा० श्यामसुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३०.

है अर्थात् उसे प्रेम-रस का पान नहीं होता। प्रेम-रस का पान तो उसे हो होता है जो अपना हृदय प्रेम की व्यथा से उसी प्रकार छेद लेता है जिस प्रकार कि केतकी के काँटे से भौंरा अपना तन छेद डालता है :

भंवर भयेउ जस केतकि कांटा, सो रस पाइ होइ गुर चांटा ।।
—वही, पृ० ९७.

वास्तव में तो इस प्रेम को वही पा सकता है जिसकी पैठ अतिशय गहरी हो सके। कविवर देव की स्वीकारोक्ति है—

प्रेम सों कहत कोउ-ठाकुर न ऐंठो सुनि।
बैठो गाड़ि गहरे, तो पैठो प्रेम घर में ।।

इस प्रेम-घर तक पहुँचने का मार्ग अत्यन्त सुगम भी है और दुर्गम भी। सुगम तब है जब मन छल-कपट से रहित हो। घनानंद के शब्दों में :

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेक सयानप बांक नहीं।
तहं साँचे चलें तजि आपनपो, झिझके कपटी जे निसांक नहीं ।।[1]

और दुर्गम तब है जब मन अस्थिर हो, कपटयुक्त हो। तब यह मार्ग मृणालतन्तु पर आधारित होता है। किसी क्षण भी प्रेम-सड़क रसातल में जा सकती है। अतएव यह कहा जा सकता है कि प्रेम का पथ अति विकराल है। बोधा ने कहा है :

अति छीन मृणाल के तारहु ते तेहि ऊपर पांव दे आवनो है।
सुई वेह ते द्वारस कीन तहाँ परतीति को टांडो लदावनो है ।।
कवि बोधा अनी घनी तेजहु तें चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यंह प्रेम को पंथ कराल महा तलवार की धार पे धावनो है ।।

जो भी हो, चाहे प्रेम के अनेक रूप हों, अथवा उसके पंथ अनेक हों; फिर भी सच्चा प्रेम सभी अवस्थाओं में एक-सा रहता है। भवभूति ने लिखा है, सच्चा प्रेम सुख दुःख में अद्वैत रहता है। वृद्धावस्था आने पर भी प्रेमरस में कोई न्यूनता नहीं आती। समय व्यतीत होने पर बाह्या-वरणों के हट जाने से जो स्नेह का सार स्थित रहता है, वही सच्चा प्रेम है।

१. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, घनानंद (सुजानहित), पद्य २६७, पृ० ८६.

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यत्,
विश्रामो हृदयस्थ यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं,
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥[1]

भवभूति ने प्रेम को सभी अवस्थाओं में अद्वैत माना है। इस रहस्य का निर्गुणिया संत कबीर ने उद्घाटन किया है :

कबीर बादल प्रेम का हम पर बरस्या आय।
अंतर भीग्यी आत्मा, हरी भई बनराइ ॥ ३४ ॥[2]
(गुरु० कौ अंग)

जिसकी आत्मा ही प्रेम में डूब चुकी हो, निःसंदेह उसका प्रेम अद्वैत होगा। जो व्यक्ति प्रेम-शून्य है उसे कबीर धिक्कारते हैं :

जिहि घटि प्रीति न प्रेमरस, फुनि रसना नहिं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि भये बेकाम ॥ १७ ॥[3]
(सुमि० कौ अंग)

प्रेम-जगत का विस्तार इतना अधिक है कि उसे लिपिबद्ध कर पाना कठिन है। उल्लेखनीय और आश्चर्य की बात तो यह है कि निर्गुण संतों ने भी 'प्रेम' बिना अपना निस्तार संभव नहीं समझा। अस्तु, मुख्यरूप से उक्त प्रेम को लौकिक एवं पारलौकिक इन दो भेदों में विभाजित किया गया है। प्रेमाख्यानकों की परिभाषा के संदर्भ में डॉ० सत्येन्द्र का यह कथन है 'उसी के (निर्गुणधारा के) साथ प्रबन्धकथाओं को लेकर एक काव्यधारा और खड़ी हुई। इन कथाओं में प्रेमकथाओं की प्रधानता रही। ये प्रेमगाथाएँ कहलाती हैं।'[4] फलतः मेरे विचार से, जिस कहानी, कथा, गाथा, लोकवार्ता अथवा आख्यानादि में सफल या असफल प्रेम की सोद्देश्य पूरी बात कही जाये, उसे प्रेमाख्यान की संज्ञा दी जानी चाहिए। आगे 'आख्यानक' शब्द के अर्थ पर विवरण प्रस्तुत किया गया है।

---

१. भवभूति, उत्तररामचरित, १. ३९.
२. सं०—डा० श्यामसुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३.
३. वही, पृ० ५.
४. डा० सत्येन्द्र, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, पृ० १३९.

आख्यान शब्द की व्युत्पत्ति (आ + ख्या + ल्युट् (अन्) भावे) की गई है। सामान्य और विशेष के भेद से इसके दो अर्थ किये गये हैं :

(क) सामान्य अर्थ : १. कथन, निवेदन, उक्ति. २. कथा, कहानी. ३. प्रतिवचन. ४. उत्तर (यथा : अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः)—अष्टाध्यायी, ८. २. १०५.

(ख) विशेष अर्थ :

१. भेदक धर्म (इस अर्थ में उपर्युक्त 'ल्युट्' प्रत्यय 'भाव' (क्रियापद से प्रकट होने वाला कर्म) अर्थ न होकर 'करण' अर्थ में गृहीत होगा एवं 'आख्यायते अनेनेति–आख्यानम्' यह व्युत्पत्ति होगी ।)

इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग 'लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' (अष्टाध्यायी, १. ४. ९०) में हुआ है।[1]

२. पुरावृत्तकथन ('आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः' सा० द०), ऐतिहासिक कहानी, पौराणिक कथा ।

वेदों में आये हुए ऐसे ही आख्यानों का संग्रह 'पुराणसंहिता' नाम से अथर्ववेद में उल्लिखित है। जैसे, सुपर्ण और पुरुरवा इत्यादि के आख्यान ऋग्वेद में मिलते हैं। मनुस्मृति के तृतीयाध्याय में पितृश्राद्ध के अवसर पर किये जाने वाले कर्मों के विवरण में लिखा है :

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥

—मनुस्मृति, ३. २३२.

इसी पर कुल्लक भट्ट ने मन्वर्थमुक्तावली में व्याख्यान लिखते हुए लिखा है : 'आख्यानानि सौपर्णमैत्रावरुणादीनि ।'

३. महाभारत इत्यादि इतिहास ग्रन्थ : अनेक आख्यानों एवं उपाख्यानों का 'जय' नामक इतिहास ग्रन्थ में (वर्तमान महाभारत के मूल रूप में) संग्रह होने के कारण ही परिवर्द्धित महाभारत को आख्यान-काव्य का नाम प्राप्त हुआ होगा ।

---

१. देखिये, तारानाथकृत वाचस्पत्यम् कोश.

४. इन महाभारत आदि आर्षकाव्यों के सर्गों में वर्णित अलग-अलग उपाख्यानों को भी आख्यान कहा जाता था। इस अर्थ के प्रामाण्य में तारानाथ ने स्वकृत 'वाचस्पत्यम्' में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है :

नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।
अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः॥

और इनका उदाहरण देते हुए लिखा है, 'यथा भारते रामोपाख्यानं, नलोपाख्यानं इत्यादि।

(ग) हिन्दी में यह शब्द प्राय: प्राचीन कथानक या वृत्तान्त के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है।

(घ) पर्याय : कथा, कथानक, आख्यायिका, वृत्तान्त इत्यादि।

(ङ) व्यापक अर्थ : कहानी, कथा और इसी अर्थ में उपर्युक्त पर्याय दिये गये हैं। इसका सीमित अर्थ है ऐतिहासिक कथानक, पूर्ववृत्त-कथन।[1]

आख्यान शब्द के उपर्युक्त अर्थों से आख्यान की व्यापकता पर विशद प्रकाश पड़ता है। वास्तव में कहानी, कथा, कथानक, आख्यायिका और वृत्तान्त को आख्यान के पर्यायवाची मान लेने पर उसके अर्थ-विस्तार का स्पष्टीकरण हो जाता है। संभवत: आख्यान शब्द के उक्त अर्थविस्तार से कुछेक लोगों को यह संदेह होगा कि 'फिर कहानी, कथा आदि का भेद कैसे जाना जा सकेगा ?' यहाँ मैं यह कहना चाहूँगा कि जहाँ कथा, कहानी और उपन्यास में भेद है, वहीं सभी में किसी न किसी रूप में कथा-तत्त्व का पाया जाना अवश्यम्भावी है। अतएव आख्यान के अर्थ-विस्तार को भी एक सीमित घेरे में देखना चाहिए। यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर दूँ कि चरित, पुराण, काव्य, खण्डकाव्य, रासो-रासक और महाकाव्य तक को (यदि उनमें प्रेमकथा की प्रधानता है तो) प्रेमाख्यान या प्रेमाख्यानक कहने में मुझे कोई सीमोल्लंघन की बात दृष्टिगोचर नहीं होती। इससे कोई साहित्यिक गतिरोध भी उत्पन्न नहीं होता।

हिन्दी में हिन्दू और सूफी दो प्रकार के आख्यानक काव्य लिखे गये हैं। दोनों ही प्रकार के आख्यानकों के रचयिता भारतीय थे। अतः उन

---

१. डा० आद्याप्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्यकोश, भाग १, पृ० ८८ से उद्धृत.

आख्यानकों को भारतीय कहा जा सकता है। यह सत्य है कि हिन्दू कहे जानेवाले आख्यानकों में भारतीय संस्कृति के लोकतत्त्वों, दन्तकथाओं अथवा पौराणिक कथनों से कथा का संयोजन तो किया ही गया है, दूसरी ओर भारतीय परिवेश का भी पूर्ण ध्यान रखा गया है। सूफ़ी आख्यानों में ऐसी बात नहीं है। इन आख्यानों के कथा-स्रोत भले ही भारतीय हों, कथा की आत्मा और उद्देश्य भारतीयेतर रहे हैं। जो हो, अपने सिद्धान्तों को उदार बनाकर सूफ़ियों ने हिन्दी-साहित्य को उपकृत तो किया ही है। भारतीय संस्कृति और साहित्य में इतर संस्कृति और साहित्य का खपाने की क्षमता प्रारम्भ से ही रही है। हिन्दी प्रेमाख्यानकों को हिन्दू और सूफ़ी इन दो वर्गों में बाँटना बहुत वैज्ञानिक नहीं प्रतीत होता क्योंकि धार्मिक मान्यताओं के आधार पर साहित्य का वर्गीकरण कथमपि उचित नहीं है। वैसे भी शिल्प की दृष्टि से इनमें कोई विशेष अन्तर भी दिखाई नहीं पड़ता। दोनों ही अपभ्रंश कथाशिल्प से पूरी तरह प्रभावित हैं। पर साहित्य में इस तरह के वर्गीकरण चलते रहे हैं। स्वयं शुक्ल जी ने 'हिन्दू हृदय' और 'मुस्लिम हृदय' की बात कही है। आगे चलकर हरिकान्त श्रीवास्तव ने भारतीय आख्यान-काव्य परम्परा को हिन्दू और सूफ़ी वर्गों में बाँट दिया है। मैं भी सुविधा के लिए यह वर्गीकरण स्वीकार करके चला हूँ। वैसे मेरा उद्देश्य दोनों ही प्रकार के आख्यानकों के शिल्प पर अपभ्रंश का प्रभाव दिखाना ही है।

हिन्दू प्रेमाख्यानकों की श्रेणी में ढोला-मारू रा दोहा, वीसलदेवरासो, सदयवत्स-सावलिंगा, लखमसेन-पद्मावतीकथा, सत्यवती की कथा, माधवानल-कामकन्दला (गणपति, कुशललाभ, दामोदर और अज्ञात कवि द्वारा रचित), प्रेमविलास, प्रेमलताकथा, रूपमंजरी, उषा को कथा, बेलि कृष्ण-रुक्मिणी री, छिताईवार्ता, रसरतन, नल-दमयन्तीकथा, रुक्मिणीमंगल, नलदमन, माधवानल नाटक, पुहुपावती, चंदकुँवर री बात, नलचरित्र, विरहवारीश, नलोपाख्यान, मधुमालती, नल-दमयन्ती-चरित, कामरूप-चन्द्रकला की प्रेम कहानी, उषाहरण, उषाचरित, उषा की कथा (कवि रामदासकृत), रमणशाह-छबीली-भटियारी की कथा, कामरूप की कथा, रुक्मिणीमंगल, रुक्मिणीपरिणय, नलदमयन्ती की कथा (अज्ञात कवि), प्रेमपयोनिधि, बात सायणी चारणी री और राजा चित्रमुकुट और रानी चन्द्रकिरण की कथा आदि प्रेमाख्यानक आते हैं।

इनमें से कतिपय प्रेमाख्यानकों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

हिन्दू प्रेमाख्यानकों का संक्षिप्त परिचय

ढोला-मारू रा दोहा[1]—यह लोक-काव्य है। इसके रचनाकाल के संबंध में एक मत नहीं है। डॉ० सत्येन्द्र इसका १००० से आरम्भ और सत्रहवीं शताब्दी में अन्तिम रूप मानते हैं।[2] डा० हरिकान्त श्रीवास्तव १००० से १६०८ सं० इसका रचनाकाल मानते हैं।[3] डॉ० मोतीलाल मेनारिया सं० १५३०,[4] डा० शम्भूनाथ सिंह १८५०[5] सं० से पूर्व और डॉ० नामवर सिंह १५वीं शताब्दी[6] इसका रचनाकाल मानते हैं। समय निर्धारण की मुख्य कठिनाई का कारण इसका किसी एक कवि की रचना का न होना ही रहा है। निःसन्देह इसकी कथा बड़ी सरस और मार्मिक है जो संक्षेप में इस प्रकार है :

नरवर के राजा नल को ढोला नामक एक सुन्दर पुत्र था। एक बार पूगल में दुर्भिक्ष पड़ा। वहाँ के राजा पिंगल ने नरवर में आकर शरण ली। पिंगल के मारवणी नाम की एक पद्मिनी कन्या थी। यद्यपि उस समय ढोला की अवस्था ३ वर्ष और मारवणी डेढ़ वर्ष की थी तथापि दोनों के अभिभावकों ने उनको परिणयसूत्र में बाँध दिया। कालान्तर में सुकाल आने पर राजा पिंगल अपने पूगल देश लौट गया। पुत्री के छोटी होने के कारण, उसको भी साथ लेता गया। ढोला के युवक होने तक वह अपने पीहर में ही थी। इधर ढोला का विवाह मालव की राजकुमारी मालवणी से हो गया। मारवणी के परिवार में इस विवाह के समाचार से चिंता होना स्वाभाविक ही था। अतः पिंगल ने नल के पास संदेशवाहकों को

---

१. सं०—श्री रामसिंह, सूर्यकरण पारीक और नरोत्तम स्वामी, ना० प्र० सभा, काशी, ई० १९३४.

२. डा० सत्येन्द्र, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, पृ० २२६.

३. डा० हरिकान्त श्रीवास्तव, भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, पृ० ३४.

४. श्री मोतीलाल मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य.

५. डा० शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्यों का स्वरूप विकास, पृ० २२४.

६. डा० नामवर सिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २६०.

भेजा। परन्तु मालवणी संदेशवाहकों को ढोला से भेंट होने के पूर्व ही मरवा देती थी। एक बार पिंगल ने ढाढ़ियों को दूत बना कर भेजा। मालवणी ने इन्हें दीन जान कर नहीं मरवाया। ढाढ़ियों से मारवणी का समाचार ज्ञात करके ढोला विरह से व्याकुल हो गया। ढोला मारवणी के पास जाने की तैयारी में था कि मालवणी को मालूम हो गया। वह चौकन्नी हो गई। एक दिन उसके सोने पर ढोला ऊँट लेकर चला। परन्तु दैवात् ऊँट के बोल उठने से वह जाग गई और ढोला को रोकने का असफल प्रयास किया। इस पर भी मालवणी ने सुग्गे को पढ़ाकर भेजा कि रास्ते में ढोला को संदेश दो कि मालवणी मर गई। परन्तु ढोला ने इस समाचार को भी अनसुना कर दिया।

प्रेमी को प्रेमिका के प्राप्त करने में यदि अनेकों अकल्पित और दुःसाध्य बाधाओं का सामना न करना पड़े तो वह प्रेम ही क्या ? शायद इसीलिए ढोला के मार्ग में एक रोड़ा और आ टकराया। ऊमर सूमरा ने मारवणी से परिणय का प्रस्ताव पिंगल को भेजा। प्रस्ताव अस्वीकृत हो जाने पर वह जल उठा। वह मौके की तलाश में रहने लगा। ऊमर सूमरा को जब यह पता चला कि ढोला अकेले ही जा रहा है तो उसने अपने भाग्य को सराहा। उसने ढोला से मिलकर घात करने का निश्चय किया। ढोला उसकी चाल में फँस गया। मारवणी को एक नर्तकी ने जो उसके पोहर की हो थी, उसे ऊमर सूमरा को चाल बता दी। मारवणी ने ऊँट को छड़ी मार कर भगा दिया, जिससे ढोला उसे पकड़ने आया तो उसने उसे रहस्य बता दिया। वे ऊँट लेकर भागे। ऊमर सूमरा ने उनका पीछा किया। ऊँट के पैर बँधे होने पर भी वह बड़ी तेजी से भाग रहा था। मार्ग में किसी चारण के ध्यान आकृष्ट करने पर, ऊँट पर बैठे ही बैठे उसने अपनी छुरी द्वारा ऊँट का बन्धन कटवाया। अब ऊँट और भी तेजी से भागा। ऊमर सूमरा हताश होकर लौट आया। नरवर पहुँचकर ढोला ने मारवणी और मालवणी दोनों को समझाकर एक कर लिया और सभी साथ-साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे।

वीसलदेवरासो—वीसलदेवरासो के तीन संस्करण प्राप्त हैं।[1] इसके

१. (क) सं०—सत्यजीवन वर्मा, का० ना० प्र० सभा से प्रकाशित, सं० १९८२.
(ख) सं०—डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी-परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय.
(ग) सं०—डा० तारकनाथ अग्रवाल, हिन्दी प्रचारक, वाराणसी, ई० १९६२.

रचयिता नरपति नाल्ह नामक कवि हैं। राजमती का विरह-वर्णन इसमें बारहमासे के माध्यम से अधिक उभरा है। इसे प्रेमकथानक अथवा काव्य न मानने वालों का कारण युक्तियुक्त साथ ही सामयिक नहीं जान पड़ता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के लिए 'यह काव्यग्रन्थ नहीं, केवल गाने के लिए लिखा गया था।'[१] 'न तो इसमें कोई काव्यसौष्ठव है और न वर्णनों में किसी प्रकार की रोचकता मिलती है।'[२] जान पड़ता है, बात कुछ दूसरे ढंग की कह दी गई है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद का कथन है कि अनुभूतिरहित या हृदयहीन काव्य यह नहीं है।[३] डॉ० माताप्रसाद गुप्त इस रचना को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वीसलदेव के वियोग में राजमती का बारहमासा है, वह ललित है किन्तु प्रयास के अनन्तर जो दोनों का मिलन कवि ने वर्णित किया है, वह भी बहुत सरस है।[४] ग्रंथ के रचनाकाल के सम्बन्ध में भी प्रमाणों की भिन्नता के कारण मत-वैभिन्य है। श्री सत्यजीवन वर्मा इसका रचनासं० १२१२ मानते हैं। डॉ० तिवारी ने विजोल्यां के शिलालेख का प्रमाण देते हुए विग्रहराज तृतीय को भोज के भाई उदयादित्य का समकालीन सिद्ध किया है। भोज की पुत्री राजमती का विवाह वीसलदेव तृतीय से सिद्ध किया है। उन्होंने विग्रहराज का समय ११५० और ग्रन्थरचनासं० १२७२ माना है।[५] डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने सं० १४०० के आसपास रचनाकाल सिद्ध किया है।[६] अस्तु, इस विषय में विस्तार आवश्यक नहीं है। ग्रन्थ की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है :

कवि कथा प्रारम्भ करने से पहले अपनी सुप्त काव्य शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए गणेशजी और सरस्वती की वंदना करता है। धारा नगरी में राजा भोज का राज था। इनके अस्सी सहस्र हाथी और ५ अक्षौहिणी सेना थी। पुत्री राजमती के विवाहयोग्य हो जाने के कारण अपनी रानी के प्रस्ताव पर राजा भोज ने ज्योतिषी को वर खोजने को

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३०.
२. डा० उदयनारायण तिवारी, वीरकाव्य, पृ० १९६.
३. आ० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दी-साहित्य का अतीत, पृ० ७६.
४. डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी-साहित्यकोश, भाग २, पृ० ३६६
५. डा० उदयनारायण तिवारी, वीरकाव्य, पृ० १९४.
६. डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी-साहित्यकोश, भाग २, पृ० ३६६.

कहा। अजमेर के राजा से विवाह तय हुआ। समय से बारात राजद्वार पर पहुँची। चारों ओर स्वागत में हर्षोल्लास का वातावरण था।

भांवरों के समय प्रथम फेरे में राजा भोज ने अपने जामाता वीसलदेव को आलीसर तथा मालदेश दे दिया। दूसरे फेरे में रानी सपादलक्ष देश, अपार धनराशि, तोड़ा, टंडक, बूंदी और कुडालदेश देती है। तीसरे फेरे में भोज राजमती के साथ ताजी और केंकाण (घोड़े) मंडीवर का देश देता है। चौथे फेरे में उसे समस्त गुजरात और चित्तौड़ आदि मिलते हैं। इस प्रकार बहुत से सामान देकर भोज ने वीसलदेव को विदा किया। राजमती को हाथी पर बैठाकर वीसलदेव अजमेर की ओर गया। रास्ते में 'आनासागर' मिलता है। राजा अजमेर पहुँचकर सुख-भोग से रहने लगता है।

मुख्य कथा अब प्रारम्भ होती है। वीसलदेव को अधिक धन मिलने से घमंड हो गया। वह एक दिन रानी राजमती से भी घमंड की बातें करने लगा। राजमती ने भी ताना मारा कि गर्व नहीं करना चाहिए, उड़ीसा के राजा तो तुमसे कई गुने अधिक धनी हैं। राजा को ठेस पहुँची। उन्होंने रानी से पूछा कि तुम जैसलमेर की रहने वाली हो, तुम्हें उड़ीसा का कैसे पता चला? इस पर राजमती अपने पूर्वजन्म की कहानी सुनाती है कि मैं पूर्वजन्म में हरिणी थी और उड़ीसा के जंगलों में रहती थी। एकादशी का व्रत निर्जल करती थी। एक दिन मुझे एक अहेरी ने बाण मारे और मैंने जगन्नाथ जी के सामने अपने प्राण त्याग दिये। उनसे यह प्रार्थना भी की कि अब मेरा जन्म पूर्व देश में न हो, क्योंकि वहाँ के लोग खराब होते हैं और अच्छी वस्तुओं का भोग नहीं करते।

वीसलदेव उड़ीसा जाने का दृढ़ निश्चय करता है। राजमती के अनेक प्रकार से समझाये जाने पर तथा अपनी भाभी द्वारा भी समझाये जाने पर वह उड़ीसा जाने का निर्णय अटल रखता है। वह ज्योतिषी से जाने का मुहूर्त्त पूछता है। परन्तु उस ज्योतिषी को रानी पहले ही मना लेती है कि मुहूर्त्त ४ माह बाद का निकाले। रानी ने सोचा था कि इस अवधि में वह अपने पति को मना लेगी। किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। मुहूर्त्त आने पर वह यात्रा पर निकल पड़ा।

इधर जैसे-जैसे दिन बीतते हैं, रानी की व्यथा बढ़ती जाती है। बारहमासे द्वारा रानी की व्यथा का वर्णन कवि ने किया है। ११ वर्ष

बाद रानी एक दूत अपने पति के पास भेजती है। वह सातवें मास में उड़ीसा पहुंचता है। राजा से राजमती की शोचनीय दशा का वर्णन करता है। राजा आने के लिए वहाँ के राजा से कहता है। वहाँ की रानी कई शादियों का प्रलोभन देकर रोकने का असफल प्रयास करती है। वीसलदेव वहाँ एक योगी को रानी को अविलम्ब अपने पहुंचने की सूचना देने के लिए राजी कर लेता है। योगी इधर से पहुँच रहा है और उधर राजमती की बाँई भुजा और बाँई आँख फड़कने का शुभ शकुन होता है। योगी पहुंचकर रानी को सूचना देता है कि तुम्हारा पति तीसरे दिन तक आ जायेगा।

योगी के कथनानुसार राजा तीसरे दिन पहुँच जाता है। रानी बहुत प्रसन्न होती है। अजमेर में खुशियाँ मनाई जाती हैं। रानी एक बात से अधिक प्रसन्न है। वह कहती है कि पति की अनुपस्थिति में उसे किसी प्रकार का कलंक नहीं लगा। यद्यपि एक कुटनी ने उसे विचलित करने को चेष्टा की थी। वीसलदेव के आ जाने पर दोनों सुखपूर्वक रहने लगे। कवि अपने ग्रन्थ को इस शुभकामना के साथ समाप्त करता है कि जिस प्रकार राजमती रानी अपने राजा से मिली, इसी प्रकार इस संसार में सभी मिलें। यहीं ग्रन्थ समाप्त होता है।

सदयवत्स-सावलिंगा—इसको रचना संवत् १५०० में श्री केशव द्वारा हुई।[1] डॉ० श्याम परमार ने 'सारंगा-सदावृज' के परिचय में लिखा है : 'उत्तर भारत का यह कथा-गीत गुजरात में 'सदैवत (सदयवत्स)-सावलिंगा', छत्तीसगढ़ के गोंड़ा में 'सदाविरज-सारंगा' तथा मालवा और राजस्थान में 'सुदबुद-सारंगा' नाम से प्रचलित है। जायसी ने इस प्रेम-कथा का उल्लेख किया है। अब्दुल रहमानरचित 'संदेशरासक' में इसका उल्लेख आया है। छत्तीसगढ़ में प्रचलित कथा उत्तर भारतीय रूप से तनिक भिन्न है। उसमें सारंगा का नवलखा हार कहीं खो जाता है। सदाविरज अनेक कठिनाइयों का सामना करके उसे खोज लाता है और सारंगा को प्रदान करता है। वस्तुतः कहानी बहुत पुरानी है। राजस्थानी और मालवी में इसके आधार पर अनेक 'ख्याल' और 'माच' (लोक नाट्य) की रचना हुई है।'[2] इस कथा की लोकप्रियता के

१. डा० सत्येन्द्र, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, पृ० २२६.
२. डा० श्याम परमार, हिन्दी-साहित्यकोश, भाग २, पृ० ५८८.

विषय में श्री अगरचन्द नाहटा ने एक लेख में लिखा है : 'सदयवत्स-कथा का सर्वाधिक प्रचार राजस्थान में रहा प्रतीत होता है। केवल हमारे संग्रह में ही इस कथा की (राजस्थानी भाषा की) १२ प्रतियाँ उपलब्ध हैं। बीकानेर की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में १२, सरस्वती भंडार उदयपुर में ५, कुँवर मोतीचन्द जी के संग्रह में ३, बृहद् ज्ञान भंडार में ३ प्राप्त हैं।[1]

लखमसेन-पद्मावतीकथा[2]—इस कथा के लेखक दामो ने इसे 'वीरकथा' कहा है और इसका रचनाकाल ज्येष्ठ वदो नवमी, दिन वुध-वार सं० १५१६ लिखा है :

संवत् पनरह सोलोत्तरा मझारि, जेष्ठ वदि नवमी बुधवार।
सप्त तारिका नक्षत्र द्रढ जाणि, वीर कथा रस करूँ वखाण ॥४॥[3]

ऐसा लगता है कि वीररसप्रधान रचना के उद्देश्य से दामो ने काव्य के प्रारम्भ में ही यह सूचना दे दी है। जिस काव्य में कुमारी कन्या ही १०१ राजाओं के वध करने वाले से विवाह करने की बात कहे, उसमें वीररस तो प्रधान होगा ही। फिर भी यह रचना प्रेमाख्यान है। रचना आकार-प्रकार में लघु है। प्रकाशित रूप में मात्र ३४ पृष्ठों की रचना है। कथा का सारांश इस प्रकार है :

प्रारम्भ में कवि शारदा माँ और विघ्नहरण गणेशजी की वन्दना करता है। स्वरचना-समय आदि लिखकर कथा प्रारम्भ करता है। एक सिद्धनाथ नाम का योगी था जो घर-घर, ग्राम-ग्राम सर्वत्र विचरण करता चलता था। एकबार गढ़सामोर भी वह योगी आकाश मार्ग से पहुँचा। वहाँ का राजा हंसराज था। योगी ने उसकी मनमोहिनी कन्या पद्मावती को देखा और उस पर मोहित हो गया। राजकुमारी से उसने प्रश्न किया कि तुम विवाहिता हो या अविवाहिता। सुकुमारी ने उत्तर दिया कि जो व्यक्ति १०१ राजाओं का वध करेगा मैं उसी से शादी करूँगी। योगी इसके उपाय पर विचार करने लगा। वह तो सिद्ध था ही। उसने किसी एक कुएँ से गढ़सामोर तक सुरंग बनाई। गढ़सामोर के राजा

१. श्री अगरचन्द नाहटा, राजस्थान-भारती, अप्रैल, ई० १९५०.
२. सं०—नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, परिमल प्रकाशन, प्रयाग, ई० १९५९.
३. दामोचरित, वही, पृ० १.

हंसराय की बाला को प्राप्त करने के लिए चन्द्रपाल, चन्द्रसेन, अजयपाल, धरपाल, हमीर, हरपाल, दंडपाल, सहसपाल, विजयचंद्र आदि ९९ राजाओं को सुरंग वाले कुएँ में डाल दिया। अब कुमारी के कथनानुसार दो राजाओं का लाना शेष था। अतः उसी प्रयत्न में योगी एक विजौरा नीबू लेकर लखनौती के राजा लखमसेन के पास पहुँचा। वहाँ पर आवाज लगाकर आकाश में उड़ गया। प्रतिहार ने लखमसेन से कहा तो उन्होंने योगी की खोज की। योगी आकर वह विजौरा नीबू देकर फिर गायब हो गया। इस चमत्कार से लखमसेन उसकी ओर आकृष्ट हो गया और अपना राजपाट छोड़कर वन में चला गया। वहाँ योगी से भेंट हुई। राजा को प्यास लगने पर योगी उसे उसी निर्मित कुएँ पर ले गया और धक्का देकर उसी में गिरा दिया। लखमसेन को सुरंग में पड़े ९९ अन्य राजाओं से योगी के छल का पता चल गया। उसने धीरे-धीरे सभी राजाओं को बाहर कर दिया। वह स्वयं वहाँ रह गया। इस बात का पता योगी को भी चल गया। योगी शीघ्र ही सुरंग पर पहुँचा और एक ५२ हाथ की शिला कुएँ पर ढंक दी जिससे कुएं में अँधेरा हो गया। लखमसेन को बड़ी घुटन होने लगी और वह आत्महत्या की सोचने लगा। वह कुएँ से ईंटें उखाड़ने लगा। ईंटे उखाड़ते समय उसे कुछ प्रकाश दिखाई दिया। अतएव उसे आशा हो गई। उसने वहीं से मार्ग खोज निकाला और उससे वह एक सुन्दर तालाब पर पहुँच गया। वहाँ के सुन्दर दृश्यों का अवलोकन करता हुआ निकटवर्ती नगर में पहुंच गया। वहाँ उसने अपने को लखनौती के लखमसेन का पुरोहित बताया और एक ब्राह्मण के घर में रहने लगा। एक बार वह ब्राह्मण उसे राजदरबार में भी ले गया। बाद में उसे वहीं पुरोहित भी नियुक्त करा दिया। इसी बीच पद्मावती को उसने देखा, पद्मावती ने भी उसे देखा। पद्मावती उस समय तक विवाह योग्य हो चली थी। अतः उसका स्वयंवर रचा गया। अन्य राजाओं के साथ ही लखमसेन ब्राह्मण के वेष में आया। राजकुमारी ने उसी को माला पहना दी। सभी लोग बिगड़ गये। उसने अपनी वीरता का परिचय दिया। कनकावली के राजा वीरपाल से उसका घोर युद्ध हुआ। अन्त में उसका वास्तविक परिचय मिल जाने के कारण पद्मावती का विवाह उसी के साथ सम्पन्न हुआ।

दूसरी ओर सिद्धनाथ योगी जो कि उसकी विजय से चिढ़ा था, उसने लखमसेन को स्वप्न दिया कि मुझे पानी पिला नहीं तो मैं तुझे श्राप दूँगा। जिससे राजा डर गया और पद्मावती से कहकर उसे पानी पिलाने चल पड़ा। परन्तु योगी ने कहा कि मेरी आज्ञा मानने की प्रतिज्ञा करो तभी मैं पानी पियूँगा। राजा ने स्वीकार किया। जब राजा को पुत्रोत्पन्न हुआ तो वह उसे पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार योगी के पास ले गया। योगी ने पुत्र के ४ टुकड़े करने को कहा। शिशु के चार टुकड़े कर दिये गये। जिससे प्रथम टुकड़े से एक धनुषबाण निकला, दूसरे से एक तलवार निकली, तीसरे से एक धोती और चौथे से एक सुन्दरी निकल पड़ी। राजा इस घटना के कारण मर्माहत हो गया और घर-बार त्यागकर जंगल की राह ली। वह काफी दूर निकल गया। उसने वही धोती पहन आकाश में गमन किया और कपूरधारा नगर में पहुँचा, जहाँ का राजा चन्द्रसेन था। वहाँ उसने हरिया सेठ के लड़के को जल में डूबने से बचाया। उसी सेठ के यहाँ वह रहने लगा और तब उसने वहाँ की राजकुमारी चंद्रावती का दर्शन किया। दोनों एक-दूसरे पर आसक्त हो गए। आगे प्रेम बढ़ता गया। वे चुपके-चुपके एक-दूसरे से मिलने लगे। जिसका भण्डाफोड़ होने से चन्द्रसेन बहुत क्रुद्ध हुआ और लखमसेन को मरवाना चाहा। चन्द्रसेन को इसका वास्तविक परिचय मिल जाने पर दोनों का विवाह सम्पन्न हो गया। पद्मावती भी लखमसेन के बिना विरह में छटपटा रही थी। वह सिर्फ एक बार तो अवश्य उससे मिलना चाहती थी। इस कारण वह अनेकों प्रयत्न कर रही थी। इसी बीच योगी और लखमसेन की भिड़न्त हो जाती है। राजा ने योगी को मार डाला। फिर पद्मावती और लखमसेन एक-दूसरे से मिलते हैं। पद्मावती की भेंट चन्द्रावती से होती है। लखमसेन अपनी इन दोनों पत्नियों को साथ लेकर अपने श्वसुर हंसराय के यहाँ पहुंचा। वहाँ से प्रसन्नतापूर्वक कुएँ के मार्ग से पुनः लखनौती आ गया। वहाँ आकर सभी के साथ सुख से रहने लगा।

सत्यवती की कथा[१]—संवत् १५५८ में ईश्वरदास द्वारा प्रणीत इस रचना में इन्द्र के पुत्र ऋतुवन और चन्द्रोदय की पुत्री सत्यवती की कहानी है। यह विशेष महत्त्वपूर्ण कृति नहीं है।

---

१. हिन्दुस्तानी पत्रिका, भाग ७, पृ० ८१ में प्रकाशित.

माधवानल-कामकन्दलाप्रबन्ध[1]—मध्यकालीन प्रेमाख्यानकों में कामकन्दला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उस समय यह कथा इतनी अधिक लोकप्रिय थी कि कई कवियों ने इसे अपनी रचनाओं का विषय बनाया। जिस माधवानल-कामकन्दलाप्रबन्ध की यहाँ चर्चा की जा रही है, वह कवि-वर गणपतिकृत सं० १५८४ की रचना है। इसका कथासार इस प्रकार है :

सर्वप्रथम कवि ने रतिपति मदन की वंदना की है तब फिर सरस्वती और गणेश की। अभिधेय, प्रयोजन, संबन्ध और कविपरिचय देने के बाद प्रबन्ध का प्रारम्भ किया है। सरस्वती नदी के तीर पर शुक शंकर जी का तप करता है। काम का आह्वान करता है। काम से कर जोड़कर प्रार्थना करता है कि 'कृपा करके मुझे दीजिए'। काम प्रश्न करता है 'क्या काम दूँ'। इसके बाद वेदव्यासवचन, काम-युद्धप्रयाण, कामप्रयोग और उसकी निष्फलता, रति-प्रोत्साहन तथा शुक-काम संवाद होता है। शुक काम को श्राप देता है। काम की कृपायाचना पर शापानुग्रह होता है। इसके बाद ब्रह्मशाप का माहात्म्य बतलाया गया है। माधव का जन्म होता है और यक्षिणी उसका हरण कर ले जाती है। कथा इस प्रकार आगे बढ़ती है। पुष्पावती नगरी में कामसेन नाम का नृप राज्य करता था। उस नगरी में एक ब्राह्मण युवक रहता था जो मदन के समान सुन्दर था। उसके सौन्दर्य पर नगरांगनाएँ मुग्ध हो उसके पीछे-पीछे हो लेती थीं। नागरिकों ने मिलकर राजा से इसका समाधान करने को कहा। राजा ने इसकी जाँच की तो पता चला कि उनकी स्वयं की स्त्री की भी रुझान उधर होने लगी तो उसे देशनिकाला दे दिया।

माधवानल देशाटन करते हुए अमरावती पहुँचा। वहाँ के राजा को जब इसके असाधारण गुणों का पता चला तो राजा ने इसे अपने दरबार में ससम्मान स्थान दिया। राजा की दरबारी नर्तकी जिसका नाम काम-कन्दला था, सभा में नृत्य कर रही थी। एक षट्पद ने गुंजार के साथ नर्तकी का व्यवधान किया। फिर भी वह अबाधित नृत्य करती रही। माधवानल ने उसकी अत्यधिक प्रशंसा की और उसे वही उपहार दे दिया जो राजा ने उसे ससम्मान भेंट किया था।

राजा अविलम्ब आक्रोशित हो उठा और उसने माधवानल को शहर

---

१. श्री एम० आर० मजूमदार द्वारा संपादित और गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज़ से प्रकाशित.

छोड़ देने की आज्ञा दी। सुन्दरता उसके लिए अपराध बन गई थी। वह शहर छोड़ने से पहले कामकन्दला से मिला। कामकन्दला ने उसे अपने घर आमन्त्रित किया। दोनों ही उस मुलाकात से एक-दूसरे के प्रति प्रेम में आबद्ध हो गये। दोनों ने प्रेम-प्रतिज्ञाएं कीं और दुःखित हृदय दोनों एक-दूसरे से अलग हो गये।

माधव उज्जैन पहुँचा। वहाँ उसने अपने दुःख को महाकालेश्वर के मंदिर की दीवाल पर लिख दिया। राजा विक्रम रात्रि में शहर की जानकारी के लिए परिभ्रमण को निकला। वह मंदिर गया तब वहाँ दीवाल पर माधव द्वारा लिखित लाइनों को पढ़ा। राजा ने इन लाइनों के लेखक का पता लगाने का काम एक वृद्ध राज्य कर्मचारी को सौंपा। माधव का पता लगा लिया गया और उसे राजा विक्रम के सामने पेश किया गया। विक्रम ने माधव के प्रेम को देख कामकन्दला को उसे दिलाने का निश्चय किया। और यह भी निश्चय किया कि यदि कामसेन कामकन्दला को नहीं देगा तो उससे युद्ध करके उसे लाया जायेगा।

विक्रम ने पहले कामकन्दला के प्रेम की परीक्षा लेने का विचार किया। वह छिपकर कामकन्दला के पास गया और अपने लिए उससे इच्छा व्यक्त की। उससे यह भी कहा कि माधव की मृत्यु हो गई है। इतना सुनते ही कामकन्दला अचेत होकर मरणासन्न हो गई। राजा को इसके प्रेम पर विश्वास हो गया। तब उसने वापिस होकर माधव की भी परीक्षा ली। माधव की भी वही दशा हुई।

विक्रम अपने इस कृत्य पर हार्दिक पश्चात्ताप करने लगे। वे इस सोच में पड़ गये कि उन्हें एक स्त्रीहत्या और ब्रह्महत्या का पाप लगेगा। इतने में उनके एक मित्र वेताल की शक्ति ने परलोक से आकर इस संकट का निवारण किया। दोनों प्रेमियों को पुनः मिला दिया। विक्रम ने उन दोनों की शादी खूब सजधज और धूमधाम से की। दोनों प्रेमी-प्रेमिका आनन्द और सामाजिक प्रतिष्ठा के साथ जीवन यापन करने लगे।

इस काव्य की कतिपय अपनी विशेषताएँ हैं। प्रथम तो काव्य का आरम्भ कामदेव की स्तुति से किया गया है। प्रबन्ध के द्वितीय अंग में कला-अभिज्ञान, कामकन्दला का नखशिखान्त वर्णन, तृतीय अंग में पुष्पावती नगरी का विस्तृत वर्णन, चतुर्थ अंग में चमत्कार, माधववशी-

करण प्रयोग, पंचम अंग में कामकन्दलानृत्य-प्रसंग, वस्त्रपरिधान, केशप्रसाधन, केलियुद्ध, षष्ठ अंग में वेश्याव्यवसाय, द्वादशमासविरह-वर्णन, पद्मिनीचरित, शुभशकुनसूचक, सप्तम अंग में विकटमार्ग-वर्णन, महावन-प्रवेश, कामामृत-प्रयोग, माधव-कामकंदला-मिलन और अष्टम अंग में मदनावाससामग्री-वर्णन और द्वादशमासभोग-वर्णन विशेष द्रष्टव्य तथा महत्त्वपूर्ण अंश हैं।

माधवानल-कामकन्दला—यह अज्ञात कवि द्वारा रचित सं० १६०० की रचना है। याज्ञिक संग्रह, लखनऊ में इसकी प्रति सुरक्षित है।[1] इसमें माधव और कामकन्दला की प्रसिद्ध कथा वर्णित है।

जैसा कि लिखा जा चुका है कि किसी समय माधव और कामकन्दला की कथा अत्यधिक प्रचलित थी। इसीलिए कई कवियों ने अपने काव्यों का इसे उपजीव्य बनाया। गणपतिकृत और एक अज्ञात कविकृत उक्त कथा का परिचय अभी कराया गया है। कुशललाभकृत कामकन्दलाचउ-पई सं० १६१३ में लिखी गई।[2] दूसरी रचना एक संस्कृत में मिलती है जो संस्कृत गद्य-पद्य मिश्रित है। इसके रचनाकार का नाम आनन्दधर है। कृति का माधवानलाख्यानम्, माधवानलनाटकम् और माधवानलकथा नाम दिया हुआ है।[3] रचनाकार ग्रन्थ-समाप्ति पर लिखता है कि जो इस कथा को सुनता है उसे कभी विरह-दुःख नहीं आ सकता।[4] सं० १७३७ में इसी कथा को लेकर दामोदर कवि ने भी माधवानल-कामकन्दलाकथा लिखी।[5]

कविवर दामोदर विरचित कथा में कहा गया है कि राजा गोविन्द-चन्द्र की सम्राज्ञी माधव पर आसक्त हो गई। माधव से उसने प्रेम-

---

१. डा० शिवप्रसाद सिंह द्वारा संपादित रसरतन, पृ० ६७ (भूमिका) से उद्धृत.

२. ये रचनाएँ गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज़ में प्रकाशित हैं.

३. वही.

४. आनन्दधर विरचित कामकन्दलाख्यानम्, पृ० ३७९.

माधवानलसंज्ञं हि नाटकं शृणुयान्नरः।
न जायते पुनस्तस्य दुःखं विरहसंभवम् ॥२३३॥

५. गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज़ में प्रकाशित.

प्रस्ताव किया। माधव के अस्वीकार कर देने पर उसने राजा से कहकर (कि सारे नगर की स्त्रियाँ इसके पीछे-पीछे घूमती हैं, इसका आचरण ठीक नहीं है आदि) माधव को देशनिकाला दिलवा दिया। माधव इधर-उधर भटकता फिरा। वह वीणा वादन में प्रवीण था। कामावती नगरी के राजा कामसेन को अपने गुणों से प्रभावितकर उनके दरबार में सम्मान पाता है। उनके यहाँ की वेश्या कामकन्दला से प्रेम करने पर वहाँ से भी निष्कासित होता है। उज्जैन पहुँचकर राजा विक्रम की सहायता से कामकन्दला को प्राप्त करता है और सुख के साथ भोग करता है।

इन रचनाओं के अतिरिक्त श्री योगेन्द्रप्रताप सिंह ने कुछ अन्य रचनाओं की सूचना दी है। वे लिखते हैं : 'इनके अतिरिक्त अवधी में रचित आलमकृत 'माधवानलभाषा' अधिक प्रसिद्ध हुई है। आलम के पश्चात् बोधा कवि ने भी सुमान नामक वेश्या को सम्बोधित करके खेतसिंह के मनोरंजनार्थ एक अन्य 'माधवानल-कामकन्दला' की रचना की थी। सन् १८१२ ई० में हरिनारायण कवि द्वारा भी 'माधवानल-कामकन्दला' के प्रणयन का उल्लेख मिलता है। इन समस्त रचनाओं में आलमकृत 'माधवानलभाषा' सर्वोत्तम कही जा सकती है। इसका रचनाकाल सं० १६४० है'।[1]

बुद्धिरासो[2]—यह एक प्रेमकथा है। इसकी प्रति मेरे देखने में नहीं आई। अतः इसके विषय में अधिक नहीं लिखा जा सकता। इसके विषय में हिन्दी-साहित्यकोश में जैसा लिखा है वह इस प्रकार है : 'जल्ह की कृति बुद्धिरासो का रचनाकाल अनिश्चित है। कृति की हस्तलिखित प्रति सन् १६४७ ई० की लिखी हुई मिलती है। 'बुद्धिरासो' एक प्रेमकथा है, जिसमें चम्पावती नगरी के राजकुमार और जलधितरंगिनी नामक सुन्दरी के प्रेम-वियोग और पुनर्मिलन की सरस कथा है। हिन्दी की मेनासत जैसी प्रेमकथाओं के समान ही कथा की रूपरेखा है। कृति के जो उद्धरण प्रकाशित हुए हैं उनके आधार पर कृति की भाषा पृथ्वीराजरासो जैसे ग्रन्थों में प्राप्त भाषा से बहुत भिन्न नहीं लगती। किन्तु पृथ्वीराजरासो

---

१. हिन्दी-साहित्यकोश, भाग २, पृ० ४१७.

२. वही, पृ० ३६६-६७.

की भाषा की कृत्रिमता उसमें नहीं मिलती। दोहा, छप्पय, गाहा, पाघड़ी, मोतीदाम, मुडिल्ल आदि छन्दों का प्रयोग कृति में हुआ है। कृति में १४० छन्द हैं। कथा और काव्य की दृष्टि से कृति का जितना महत्त्व है उससे अधिक भाषा की दृष्टि से है। अपभ्रंश के चिन्हों से मुक्त उसे राजस्थानी ब्रजभाषा कहा जा सकता है।'

मधुमालतीवार्ता[1]—चतुर्भुजदास के इस ग्रन्थ के रचना-संवत् के विषय में ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। इसे १८३७ सं० का माना गया है। इसी कथा में कुछ संशोधन करके माधवशर्मा ने भी इसी नाम की रचना की थी। मधुमालतीवार्ता में विशेष द्रष्टव्य यह है कि इसमें जन्मान्तर की कथा का भी उल्लेख है, जो कि एक कथानक-रूढ़ि है। अवान्तर कथाओं के माध्यम से कथा का विस्तार किया गया है। इसमें पशु-पक्षियों की कहानी को भी स्थान मिला है। यह कथा पूर्णरूपेण भारतीय है, किन्तु एक बात अवश्य ऐसी है जो खटकती है। वह यह कि मालती जब शिक्षाग्रहण करने गुरु के पास बैठती है तो पर्दा लगाया जाता है। यह पर्दे की प्रथा तो मुगलों की देन है और फिर गुरु के सामने पर्दा लगाकर पढ़ने बैठना अटपटा लगता है। यह अवश्य ही विदेशी प्रभाव है। कवि ने अपनी रचना को कामप्रबन्ध कहा है।

काम प्रबंध प्रकास फुनि मधुमालती विलास।
प्रद्युमन की लीला इह कहत चतुर्भुंज दास॥ ६४७॥

अंतिम दोहे में रचना की विशेषता पर भी कवि ने प्रकाश डाला है।

राजा पढ़े सो राज गति मंत्री पढ़े ताहि बुद्धि।
कामी काम बिलास रस ग्यानी ग्यान संसुद्ध॥ ६४८॥

कथा इस प्रकार है: आरम्भ में कवि गणेशजी की स्तुति करता है। लीलाव्रती नामक एक सुन्दर देश था। वहाँ का राजा चन्द्रसेन बहुत वैभव वाला था। उसका तारनसाह नाम का एक बुद्धिमान मन्त्री था। राजा को चार रानियाँ थीं। परन्तु मालती नामक मात्र एक कन्या सन्तान थी जो अत्यधिक सुन्दर थी। इसी प्रकार मन्त्री को भी एक पुत्र ही था जिसे वह मधु कहता था। जब मधु बड़ा हुआ तो वह मान-

---

१. चतुर्भुजदासकृत मधुमालतीवार्ता, डा० माताप्रसाद द्वारा संपादित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, सं० २०२१.

सरोवर पर जाने लगा। मालती भी वहाँ आती थी। मधु को देखकर मालती के मन में उसके प्रति अनुराग हो गया। अन्य स्त्रियाँ भी जो मानसरोवर पर जल लेने आती थीं उसपर मुग्ध होती थीं।

तारनसाह ने अपने घर पर ही पुत्र की शिक्षा प्रारम्भ कर दी। राजा ने मालती की शिक्षा के लिए मन्त्री से सलाह ली तो उसने मालती को नंद के यहाँ ही पढ़ाने की सलाह दी। मालती को जब नन्द पढ़ाते थे, बीच में एक पर्दा रहता था जिसकी ओट में मालती बैठती थी। मधु नन्द के पास बैठता था।

एक दिन गुरुजी की अनुपस्थिति में मालती ने पर्दा हटाकर मधु को देखा। वह तत्काल उसपर मुग्ध हो गई और अपना प्रेम प्रकट किया। मधु ने कहा कि मैं मन्त्री का पुत्र हूँ, तुम राजा की कन्या। अतः सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस बात की पुष्टि में उसने सिंहिनी और मृग को मार डालने की कथा का उल्लेख किया। अतः हम लोगों में भी वैषम्य के कारण सम्बन्ध कैसे हो सकता है। इसी तरह मृग के सिंहिनी से पूछने पर घूहड़-काग विरोध की एक कथा सुनाई। इन कथाओं से मधु ने विषमता के सम्बन्ध दुःखदायी होते हैं यह मालती को बताया। परन्तु मालती ने कथा में सुधार करके बताया कि सिंहिनी ने अपने प्रेम को प्राण देकर भी निभाया। जब सिंह मृग के प्राण ले रहा था तब सिंहिनी मृग के सींगों पर जा पड़ी और मृग की मृत्यु से पहले ही अपने प्राण त्याग दिये। इस प्रकार सिंहिनी के प्रेम को सच्चा प्रमाणित किया।

इसके बाद मालती ने मधु को नृपति कुँवर कर्ण और पद्मावती की कथा सुनाई। नृपति कुँवर ने मन में निश्चय कर रखा था कि जो स्त्री उससे प्रेम करने के उद्देश्य से आगे बढ़ेगी वह उसी से प्रेम करेगा। उसने अपने इस हठ पर साठ विवाह किए। किन्तु एक भी स्त्री ने प्रथम मिलन पर प्रणयानुरोध नहीं किया। अतः उसने सभी स्त्रियों को छोड़ दिया। उसके गुणों की प्रशंसा सोरठ की राजकन्या पद्मावती तक पहुँची। उसने नृपति कुँवर से ही विवाह करने की प्रतिज्ञा की। उसे समझाया गया परन्तु वह नहीं मानी। विवाहोपरान्त पद्मावती भी पूर्व साठ पत्नियों के समान ही छोड़ दी जाती। परन्तु उसकी चैनरेखा नामक सखी ने समय पर सहायता की। उसने छिपकर एक गुलाबभरी पिचकारी पद्मावती को मारी, जिससे वह अचानक नृपति कुँवर के गले से लिपट

गई। नृपति ने इसे उसका प्रणय-निवेदन समझा और फिर केलि-क्रीड़ा की। मालती ने मधु से कहा कि आपने भी नृपति कुँवर जैसा हठ ठान रखा है। पुरुष को तो स्त्री के संकेत मात्र पर आगे बढ़ना चाहिये। किसी प्रकार भी मालती का आग्रह मधु ने स्वीकार नहीं किया। वह बार-बार सम्बन्ध की विषमता को ही असमर्थता बताता। अन्त में मालती के न मानने पर उसने नन्द के यहाँ पढ़ना ही छोड़ दिया।

मधु अकेला ही गुलेल लेकर मानसरोवर पर जाता। परन्तु वहाँ भी नगर की स्त्रियाँ पानी भरने के मिस आने लगी। मालती को भी यह समाचार मिला। वह भी आने लगी। उसने यह सोचकर कि अकेले के कहने से मधु नहीं मानेगा उसने अपनी सखी जैतमाल को स्थिति से अवगत कराया। जैतमाल वहाँ पहुँची और मधुकर को लक्ष्य करके मधु को उसी की निष्ठुरता पर व्यंग्य सुनाने लगी। इसी प्रकार उसने आगे चलकर मधु और मालती के पूर्वजन्म के सम्बन्धों का स्मरण कराया। उसने कहा आप दोनों मधुकर और मालती थे तथा मैं सेवती थी। प्रथम हिमपात के कारण और फिर वन में आग लगने से वह झुलस गई थी। मधुकर उसे छोड़कर चला गया था। सेवती द्वारा सेवा किये जाने पर वह ठीक हुई परन्तु मधुकर के विरह में उसने अपने प्राण तज दिये। इसके बाद जैतमाल ने समझाया कि वही मधुकर आप मधु और वही मालती मालती के रूप में अवतरित हुई है। अतः पूर्वभव का प्रेम निभाना चाहिये। मधु को पूर्वभव का तो स्मरण हो आया परन्तु उसने सम्बन्धवैषम्य की अपनी टेक को नहीं छोड़ा। इसी बीच जैतमाल ने सोलह श्रृंगार से सजी मालती को मधु के सामने किया। मालती ने मोहन और वशीकरण मन्त्र का प्रयोग किया। मधु अब उसके वश में हो गया। जैतमाल ने दोनों का गठबन्धन कर दिया।

वे दोनों मानसरोवर के पास की वाटिका में जैतमाल के साथ ही रहने लगे। मालती ने इस बात को राजा तक पहुँचा दिया। राजा ने मालती की माँ कनकमाल से सारा वृत्तान्त कहा और उनको मरवाने के अपने निश्चय से उन्हें अवगत कराया। रानी ने यह सूचना गुप्तरूप से मालती के पास भेज दी। मालती ने मधु को कहीं चले चलने को कहा। मधु अपनी हठ पर अड़ा रहा कि वह अकेले अपनी गुलेल से सबको भगा देगा। मालती ने मधु के वहाँ से टस से मस न होने के निश्चय को

जान शंकर और सूर्यादि देवताओं की प्रार्थना की। मधु ने अकेले ही रक्षा में समर्थ होने के सन्दर्भ में मलयंद सुत की कथा मालती को सुनाई जिसने मन्त्री कन्या रूपरेखा के साथ वाटिका में विहार किया था। वहाँ अचानक सिंह के आक्रमण करने पर भी उसने अपनी आत्म-रक्षा की थी।

राजा ने मधु का वध करने के लिए पदातिकों को भेजा। मधु ने उन सबको गुलेल से ही भगा दिया। पुनः राजा ने एक हजार घुड़सवारों को भेजा, परन्तु इस बार भी मधु ने उन्हें भगा दिया। जैतमाल बड़ी निपुण सखी थी। उसने सोचा कि अब राजा बहुत बड़ी सेना भेजेगा। अतः मधु-मालती ने जैतमाल की सलाह से भ्रमर-मालती-कुल का विस्तार किया। मालती की सुगन्ध से सैकड़ों भ्रमर आ गये। इस बार राजा ने पाँच हजार सेना भेजी, परन्तु भ्रमरकुल उनसे चिपक गया और सैनिकों के छक्के छूट गये। फिर राजा ने स्वयं युद्ध करने की ठानी। वह अपने हाथी-घोड़ों पर चमड़े मढ़वाकर युद्ध में आया। इस बार मालती घबड़ा गई तो जैतमाल ने कहा कि मधु काम एवं प्रद्युम्न का अवतार है अतः कृष्ण को याद करने से वे अवश्य सहायता करेंगे। मधु-मालती ने ऐसा ही किया। कृष्ण ने सहायतार्थ दो विशालकाय भारण्ड पक्षियों को और शिव-दुर्गा ने एक सिंह को भेजा। इनके आ जाने से राजा मधु-मालती का कुछ नहीं बिगाड़ सका।

राजा इस हार से बहुत व्यग्र हुआ और अपने मन्त्री तारनसाह से यह समस्या हल करने को कहा। मन्त्री को दुर्गा का वर प्राप्त था अतः उन्होंने सिंह और भारण्ड पक्षियों को रोक दिया। तारनसाह की प्रार्थना पर दुर्गा ने साक्षात् प्रकट होकर राजा की भूल बताई। उसे बताया कि मधु देवांश है, साधारण व्यक्ति नहीं। इसके बाद राजा ने अपनी भूल पर पश्चात्ताप किया और क्षमायाचना की तथा मालती और जैतमाल का विधिवत् विवाह करके उन्हें सारा राजपाट सौंप दिया। स्वयं वह गोकुलवास के लिए चला गया। इस प्रकार कथा का अन्त हुआ।

रूपमंजरी—प्रस्तुत रचना नन्ददासकृत सं० १६२५ की रचना है। निर्भयपुर के राजा की कन्या का विवाह एक क्रूर कुपुरुष से हुआ था। अपनी सखी की सलाह से अपने पूर्व पति को छोड़कर वह कृष्ण से प्रेम करने लगी। अन्त में कृष्ण उसे प्राप्त हुए। हिन्दी-साहित्यकोश में श्री

व्रजेश्वर वर्मा ने इस कृति के विषय में लिखा है : 'रूपमंजरी' एक छोटा सा कथा-काव्य है, जिसमें एक सुन्दर स्त्री के सौन्दर्य तथा लौकिक प्रेम को छोड़कर कृष्ण के प्रति उसके 'जारभाव' के प्रेम तथा उसकी एक सखी इन्दुमती के साथ उसके सम्बन्ध का वर्णन है। काव्य की नायिका रूपमंजरी स्वयं नन्ददास की मित्र रूपमंजरी है और सखी स्वयं नन्ददास हैं। यद्यपि रूपमंजरी का कथानक लौकिक शृंगार से सम्बद्ध है किन्तु उसमें नन्ददास ने अपने आध्यात्मिक भावों तथा प्रेमलक्षणा-भक्ति के अन्तर्गत परकीया प्रेम के आदर्श को स्पष्ट किया हैं। काव्यकला की दृष्टि से यह रचना उत्कृष्ट है।[१]

बेलि कृष्ण-रुक्मिणी री[२]—इसकी रचना सं० १६३७ में पृथ्वीराज राठौर ने की। इसकी मूलकथा का आधार भागवत है, जिसका उल्लेख लेखक ने स्वयं किया है :

वल्ली तसु बीज भागवत वामो महि थाणो पृथुदास मुख।
मूल ताल जल अरथ मण्डहे सुथिर करणि चढ़ि छाँह सुख ॥२९१॥[३]

भागवत को कथा और वेलि की कथा में अन्तर है। कारण कि भागवत की कथा पूर्ण भक्तिपरक है और यह कथा प्रेमकथा है। इसमें षड्ऋतु-वर्णन और रुक्मिणी के सौन्दर्य के वर्णन अंश बड़े ही रोचक हैं। इस कृति की मुख्य विशेषता यह है कि रचयिता ने ग्रन्थ-रचना तथा अपने सम्बन्धों का खुलकर परिचय दिया है। भाषा के विषय में भी कवि कहता है कि उसकी लेखनी और वाणी भाषा में, संस्कृत और प्राकृत सभी में एक समान चलती है।[४] आगे कहता है कि ज्योतिषी, वैद्य, पौराणिक, योगी, संगीतज्ञ, तार्किक, चारण-भाट तथा भाषा में विचित्र रचना करनेवाले सुकवि जब एकत्रित होंगे तब इसके पूरे अर्थ तक पहुँच

१. नंददास, रूपमंजरी, व्रजेश्वर वर्मा—हिन्दी-साहित्यकोश, भाग २, पृ० २२६

२. पृथ्वीराज राठौर, सं०—श्री कृष्णशंकर शुक्ल, साहित्य निकेतन, कानपुर से प्रकाशित.

३. वेलि कृसन रुक्मिणी री, श्री कृष्णशंकर शुक्ल द्वारा संपादित, साहित्य निकेतन, कानपुर, पृ० ११३.

४. वही, पृ० ११४.

सकते हैं।[1] अपनी रचना की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए कवि ने कृति को भागीरथी से भी बढ़कर कहा है। वह कहता है : रे भागीरथी ! तू गर्व मत कर। मेरी वेलि की तुझसे क्या समता ? चूँकि तू हर और हरि दोनों के आश्रित है, जो तैरना नहीं जानते उन्हें डुबा देती है। तू एक देश में ही प्रवाहित होती है। परन्तु मेरी वेलि ठीक इससे विपरीत काम अर्थात् सभी को पार कर देती है :

वे हरि हर भजे अतारू बोड़े ते ग्रव भागीरथी म तूं।
एक देस बाहणीं न आणां सुरसरि सम्म सरि बेलि सूं॥ २९०॥

रचना की कथा इस प्रकार है : विदर्भ देश के कुन्दनपुर नामक नगर में राजा भीष्मक राज्य करता था। उसके ५ पुत्र और लक्ष्मी के समान रुक्मिणी नामक कन्या थी। कन्या अति शीघ्र यौवन को प्राप्त हुई। अत: माता-पिता ने श्रीकृष्ण से शादी करने का निश्चय किया। रुक्मिणी अपने पूर्व जन्म की बात याद करके कृष्ण से ही विवाह करना चाहती थी। अत: वह सफलता के लिए महादेव और पार्वती का पूजन करने लगी। जब उसके भाई रुक्म को इस शादी के निश्चय का पता चला तो उसने गाय चरानेवाले कृष्ण से शादी करने का विरोध किया। अपने माता-पिता की परवाह न करते हुए उसने शिशुपाल के पास तिलक लेकर पुरोहित को भेज दिया। शिशुपाल अन्य राजाओं के परिकर के साथ कुन्दनपुर की ओर रवाना हुआ। वहाँ उसके स्वागत की तैयारी होने लगी। रुक्मिणी इन सभी बातों से बहुत घबड़ाई। उसने नख की लेखनी और काजल की स्याही से पत्र लिखकर रास्ते में जाते हुए ब्राह्मण पथिक को देकर श्रीकृष्ण के पास भेजा। ब्राह्मण स्वयं चिंतित था क्योंकि समय इतना कम था कि मथुरा नहीं पहुँचा जा सकता था। वह कुन्दनपुर के बाहर एक वृक्ष के नीचे सो गया। प्रातःकाल जब उसकी आँख खुली तब उसने इस चमत्कार के रहस्य को जाना। कृष्ण के यहाँ जाकर पत्र दिया। श्रीकृष्ण अविलम्ब रथ लेकर चल पड़े। कुन्दनपुर पहुँचकर रुक्मिणी को सूचना भेजी। रुक्मिणी अपनी सखियों के साथ मन्दिर गई। उसके साथ जो सैनिक योद्धा गये थे वे उसके रूप को देखकर मूच्छित हो गये। इतने में श्रीकृष्ण ने आकाश मार्ग से अपना रथ पृथ्वी पर उतारा और रुक्मिणी का हाथ पकड़कर रथ में बिठाया तथा लेकर चल पड़े। इसके पूर्व

१. वही, पृ० ११६.

रुक्मिणी को बहुत भय था कि कृष्ण आयेंगे या नहीं। परन्तु बाईं ओर से छींक का होना और इसी प्रकार के अन्य शुभ शकुन हुए तो उसे कुछ सान्त्वना हुई।

जब कृष्ण ने अपना रथ दौड़ाया तो चारों ओर से आवाज आई कि दौड़ो रे दौड़ो, माधव रुक्मिणी का हरण कर भाग रहा है। इस आवाज को सुनकर रुक्म के सैनिकों ने पीछा किया। वे सैनिक कह रहे थे—रे ग्वाले ! यह माखन की चोरी नहीं है। यह गूजरी नहीं है। इस प्रकार युद्ध हुआ। बलराम भी अपनी छोटी-सी सेना के साथ युद्ध में पहुँच ही चुके थे। उन्होंने शिशुपाल के छक्के छुड़ा दिये। रुक्मिणी का भाई रुक्म बड़े दावे के साथ यह कहता हुआ आगे बढ़ा कि अबला को पकड़कर ले जा रहे हो; मेरा सामना करने पर पता चलेगा। कृष्ण को क्रोध आ गया परन्तु रुक्मिणी के मन का भाव समझकर उसे जान से नहीं मारा। निःशस्त्र करके उसके बाल मुड़ा दिए। रुक्मिणी का मन इससे खिन्न हुआ अतः उसने उसके सर पर हाथ रख दिया तो फिर तुरन्त उसके सिर पर वैसे ही बाल आ गए।

उधर श्रीकृष्ण को जब द्वारिका पहुँचने में देर हुई तो पुरजन चिन्तित हुए। इतने में हाथ में हरी डालियाँ लिए कुछ पथिकों को आता देख लोग समझ गये कि कृष्ण आ रहे हैं। अतः नगरी के एक ओर से नारियाँ और दूसरी ओर से पुरुष पंक्तिबद्ध हो श्रीकृष्ण के स्वागत में आ रहे थे। ऐसा लगता था द्वारिकापुरी दोनों भुजाएं फैलाये कृष्ण का आलिंगन करने को तैयार हो। जिस प्रकार समुद्र में नदी प्रवेश करती है उसी प्रकार बलराम और कृष्ण ने द्वारिका में प्रवेश किया।

वसुदेव-देवकी ने ज्योतिषी को बुलाकर विवाह की अन्य रस्में पूरी कीं। इसके पश्चात् वर-वधू केलिगृह में चले गये। केलिगृह का वर्णन कवि ने अपनी लेखनी से नहीं किया। वह बड़ी सूझ के साथ कहता है कि आगे की कथा देवों और ऋषियों ने भी नहीं जान पाई तो मैं उसका वर्णन कैसे कर पाता :

एकन्त उचित क्रीड़ा चौ आरम्भ
दीठी सु न किहि देव दुजि।
अदिठ अश्रुत किम कहणो आवै,
सुखते जाणणहार सुजि॥ १७३॥

इस प्रकार कृष्ण और रुक्मिणी सुख के दिन बिताने लगे। इसके बाद षड्ऋतुओं के आगमन का सुन्दर वर्णन है। वसन्तु ऋतु में कामदेव ने आकर रुक्मिणी के गर्भ में वास किया। समय आने पर कृष्ण को प्रद्युम्न नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। आगे चलकर प्रद्युम्न को भी अनिरुद्ध नामक पुत्र हुआ जिसका विवाह वाणासुर की कन्या उषा से हुआ। अन्त में कवि ग्रन्थ का उपसंहार के साथ समापन करता है।

छिताईवार्ता[1]—ग्रन्थ के रचयिता हैं नारायणदास। इसके रचना-काल के सम्बन्ध में कई प्रतियों में भिन्न-भिन्न तिथियाँ लिखी होने के कारण मतभेद है। डा० हरिकान्त श्रीवास्तव ने इसका रचनाकाल सं० १६४७ माना है।[2] परन्तु डा० माताप्रसाद गुप्त ने सप्रमाण इसका रचनाकाल सं० १५०० तथा रतनरंगकृत कृति का समय सं० १५५० माना है, जो युक्तिसंगत है।[3]

रचना कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। रचना में कई स्थल ऐसे हैं जिनसे तत्कालीन वास्तुशिल्प[4], मूर्तिशिल्प[5] और चित्रशिल्प[6] के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। युद्ध के वर्णन में उस समय की युद्धप्रणाली के साथ उस समय के युद्धास्त्रों का भी उल्लेख किया गया है। युद्ध का वर्णन साक्षात् युद्ध का दृश्य सामने ला देता है जैसे कि युद्धस्थल पर खड़े सब देख रहे हों।[7] कथा इस प्रकार है :

देवगिरि के राजा रामदेव पर अलाउद्दीन की सेना ने नुसरत खां के सेनानायकत्व में आक्रमण किया। रामदेव ने नुसरत खां को संधिपत्र देकर युद्ध टाल दिया तथा उसी के साथ दिल्ली चला गया। बादशाह प्रसन्न हो गया और उसे ससम्मान महल में स्थान दिया। रामदेव तीन वर्षों तक वहीं रहा।

---

१. डा० माताप्रसाद द्वारा संपादित, काशी ना०प्र० सभा से सं० २०१५ में प्रकाशित.
२. भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, पृ० ३५.
३. छिताईवार्ता में डा० माताप्रसाद की भूमिका देखिए, पृ० २४-२६.
४. वही, पद्य १०५ से ११३ तक और ३८२ से ३८६ तक और ३८९-९०.
५. वही, पद्य ११४ से १२२ तक.
६. वही, पद्य १२५ से १२८ तक.
७. वही, पद्य ४९६ से ५०१ तक.

इधर रामदेव की कन्या छिताई विवाह योग्य हो गयी थी। अतः रानी ने रामदेव को इसकी सूचना देकर बुलाया। रामदेव ने अलाउद्दीन से देवगिरि आने की आज्ञा माँगी। बादशाह रामदेव की सेवा से प्रसन्न था। अतः उससे कोई माँग पेश करने को कहा। रामदेव ने एक श्रेष्ठ चित्रकार माँगा जिसे वादशाह ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। रामदेव कुशल चित्रकार के साथ देवगिरि वापिस आ गया।

रामदेव ने चित्रकला प्रदर्शन के लिए एक राजभवन का निर्माण कराया जिसमें उस चित्रकार ने सुन्दर-सुन्दर चित्र बनाने प्रारंभ किये। एक दिन छिताई उस भवन में चित्र देखने आई। चित्रकार छिताई के सौन्दर्य को देखकर मूच्छित हो गया। उसके बाद वह छिताई की प्रतीक्षा में रहा। पुनः जब छिताई चित्रशाला में आई तो चित्रकार ने उसे जिस रूप में देखा उसी रूप में कागज पर उतार लिया। कुशल चित्रकार ने छिताई का मुस्कराना, चलना, बैठना सब अंकित कर लिया। एक बार पुनः छिताई आई तो वह मृग शावकों को हाथ में हरे जौ खिला रही थी। उसकी इस मुद्रा को देखकर चित्रकार पुनः मूछित हो गया। जब उसे चेत हुआ तो उसने पुनः इस मुद्रा को चित्रित कर लिया।

जब राजा का नवीन भवन बनकर तैयार हो गया तब उसने द्वारसमुद्र के राजा भगवान् नारायण के पुत्र सोंरसी के साथ छिताई का विवाह निश्चित कर दिया। छिताई का विवाह सम्पन्न हो गया। छिताई अपने ससुराल चली गई। कुछ दिन बाद पिता के बुलावे पर अपने पति के साथ आई। वे दोनों सानन्द वहाँ रहने लगे।

सोंरसी को शिकार खेलने का व्यसन पड़ गया था। रामदेव के मना करने पर भी वह नहीं माना। एक बार एक मृग के पीछे दौड़ते-दौड़ते पूरी रात बीत गई किन्तु वह मृग हाथ नहीं आया। मृग गहन जंगल में भर्तृहरि के आश्रम में पहुँच गया। भर्तृहरि की समाधि टूट गई। उन्होंने सोंरसी को बहु विधि समझाया परन्तु वह नहीं माना। अतः भर्तृहरि ने उसे स्त्री-वियोग का शाप दे दिया। सोंरसी को अपने कृत्य पर पश्चात्ताप होने लगा। वह वापस देवगिरि आ गया।

इधर चित्रशाला का कार्य पूरा हो चुका था। अतः बहुत सी भेंट के साथ अलाउद्दीन के पास चित्रकार को भेज दिया। दिल्ली पहुँचकर सभी भेंट का सामान चित्रकार ने अलाउद्दीन के सामने प्रस्तुत किया। चित्र-

कार का चेहरा कुम्हलाया देख बादशाह ने कारण जानना चाहा। सभा समाप्त होने पर चित्रकार को बादशाह ने अलग महल में बुलाया। चित्रकार ने छिताई का चित्र जब बादशाह को दिखाया तो वे मूर्च्छित हो गये। चेत आने पर उन्होंने चित्र अपनी हिन्दुनी स्त्री हयवती को दिखाया। उसने मुग्ध होकर किसी भी प्रकार छिताई को सजीव देखने की इच्छा प्रकट की।

अलाउद्दीन स्वयं विशाल सैन्यदल के साथ मार्ग में मन्दिरों को ध्वंस करके मस्जिदों का निर्माण करता हुआ देवगिरि पहुँचा। वहाँ उसने घेरा डाल दिया। सोंरसी के नेतृत्व में देवगिरि की सेना ने युद्ध किया। दोनों ओर की क्षति हुई।

अलाउद्दीन छः माह तक घेरा डाले रहा। रामदेव ने सोंरसी से छिताई को लेकर अन्यत्र चले जाने का प्रस्ताव किया। वह इस बात पर तैयार नहीं हुआ। किन्तु वह द्वारसमुद्र से सैन्य सहायता लेने चला गया। जाते समय छिताई को अपना अंगरखा (वस्त्र), कण्ठमाला तथा दक्षिणी जमघर चिह्नस्वरूप दे गया। सोंरसी के जाते ही छिताई तपस्विनी का सा जीवन बिताने लगी।

इधर अलाउद्दीन को संदेह हुआ कि दुर्ग से सोंरसी छिताई को लेकर तो नहीं निकल गया। उसने राघव चेतन को बुलवाकर अपना संदेश व्यक्त किया। उसने पद्मिनी को न पा सकने की भी बात दुहरायी। यदि उसे निश्चित पता लग जाये कि छिताई कहाँ है तो वह उसी स्थान पर आक्रमण करेगा।

राघव चेतन दो दूतियों के साथ वसीठ के रूप में दुर्ग के अन्दर पहुंच गया। बादशाह भी दुर्ग को अन्दर से देखने की इच्छा से राघव चेतन के अनुचर के रूप में उसके साथ गया। दूतियाँ रनिवास की ओर चली गईं। राघव चेतन दरबार की ओर चला गया और बादशाह नगर को ओर चला गया। बादशाह देवगिरि के सुन्दर रामसरोवर के किनारे पहुंचा। वह अपने साथ गुलेल तथा गोलियाँ लेता आया था उनसे पक्षियों का शिकार करने लगा। छिताई भी अपनी सखी मैनरेखा के साथ वहाँ पहुँची। उसे इस व्यक्ति पर संदेह हुआ अतः अपनी सखी को उसका पता लगाने के लिए छोड़कर चली गई।

मैनरेखा बादशाह के पास पहुंची और उसे गोलियाँ थमाने लगी। अब गोलियाँ समाप्त होते ही मैनरेखा ने बादशाह से कहा कि वह उसे

पहचान गई है, वह रामदेव के पास उसे ले जायेगी। बादशाह के सेना लेकर वापिस चले जाने के आश्वासन से वह मान गई। उससे लिखित प्रतिज्ञापत्र भी ले लिया। बादशाह अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सेना लेकर वापिस जा ही रहा था कि मन्त्री की जिद्द से काम बिगड़ गया। बादशाह पुनः रुक गया। फिर भीषण युद्ध हुआ। मन्त्री पीपा वहुत ही लज्जित हुआ।

दोनों दूतियाँ छिताई को पथभ्रष्ट करने चली थीं। परन्तु छिताई को जब संदेह हुआ तो दूतियों ने बहाना कर दिया कि वे उसकी परीक्षा ले रही थीं। सुब्रह नित्य की भाँति छिताई शिवमंदिर गई। दूतियों ने सब आकर वादशाह को बता दिया। दूसरे दिन बादशाह इन्हीं दूतियों और सैनिकों के साथ सुबह ही शिवमंदिर पर पहुँच गया। छिताई मंदिर आई, उसकी ४० सखियों ने युद्ध किया और मारी गईं। छिताई को बादशाह ने पकड़ लिया और अपने पीछे घोड़े पर बिठा लिया। छिताई ने उसे पिता के समान कहा तो वह लज्जित हो गया, परन्तु उसे दिल्ली ले गया। छिताई वहाँ बहुत समझाने पर भी दुःखी रहने लगी। बादशाह ने उसे राघव चेतन की संरक्षता में हर सुविधा के साथ रख दिया।

सोंरसी के द्वारसमुद्र से वापिस होने पर पूरी घटना ज्ञात हुई। वह योगी हो गया। वह दिल्ली जमुना के किनारे के विंध्यवन उद्यान में पहुँचा और अपनी वीणा बजाई। वहाँ के सभी जीवजंतु उसके पास आ गये। उसने सभी आभूषण उनको दे डाले। तदनन्तर वह नगर में गया।

छिताई के पास एक ऐसी वीणा थी जिसे सोंरसी ही बजा सकता था। उसने वह वीणा दिल्ली के कलावंत के यहाँ यह कहकर रख दी थी कि जो भी इस वीणा को बजा देगा वह उसी की हो जायेगी। योगी सोंरसी उस कलाकार के यहाँ पहुँचा और उस वीणा को निनादित किया। छिताई इस समाचार से अत्यधिक प्रसन्न हुई। योगी वहाँ से राघव चेतन के यहाँ गया और उससे अनुरोध किया कि वह बादशाह से मिलना चाहता है। बादशाह से मिलने पर उसने अपने को सिंहल का निवासी बताया और दिल्ली में लुट जाने की कहानी बतायी। उसने बादशाह को साथ ले जाकर पुनः वीणा बजाई, सभी जीवजन्तु जुट गये। उसने बादशाह को अपने सभी आभूषण उन जन्तुओं के पास दिखाये और लुटेरा बता दिया।

बादशाह ने योगी के कौशल के प्रदर्शन का आयोजन किया। आयोजन में बादशाह के निकट छिताई थी। योगी के वेश में देखने और फिर

उसके वीणावादन से छिताई के आँसू बहने लगे। वे आँसू बादशाह के कंधों पर गिरे। सोंरसी से बादशाह ने कुछ माँगने को कहा। उसने बादशाह से छिताई को माँगा। बादशाह ने छिताई की इच्छा जाननी चाही। छिताई ने सोंरसी का वास्तविक परिचय कराया तो बादशाह ने उसका बड़ा सत्कार किया और एक पिता के रूप में स्वयं छिताई को सोंरसी के सुपुर्द किया।

बादशाह ने उन्हें विदा करते समय गुजरात का देश दिया। वे दोनों देवगिरि आये। वहाँ उनका बड़ा स्वागत-सम्मान हुआ। पुनः वे द्वारसमुद्र पहुँचे। सोंरसी के पिता भगवान् नारायण उन्हें देख अत्यधिक प्रसन्न हुए।

रसरतन[1]—ऐतिहासिक या साहित्यिक स्तर पर सभी प्रेमाख्यानकों का अपना-अपना महत्त्व है। फिर भी पुहकरकृत रसरतन के विषय में यह कहना आवश्यक है कि रसरतन हिन्दी प्रेमाख्यानकों की परम्परा की एक मूल्यवान् कड़ी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रसरतन का महत्त्व इन शब्दों में स्वीकार किया था : 'कल्पित कथा लेकर प्रबन्ध-काव्य रचने की प्रथा पुराने हिन्दी कवियों में बहुत पाई जाती है। जायसी आदि सूफ़ी शाखा के कवियों ने ही इस प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं, पर उनकी परिपाटी बिल्कुल भारतीय नहीं थी। इस दृष्टि से रसरतन को हिन्दी साहित्य में विशेष स्थान देना चाहिए।'[2] परन्तु आश्चर्य होता है कि विशेष स्थान दिलाने की सिफ़ारिश करके शुक्ल जी ने रसरतन पर इससे अधिक कुछ नहीं लिखा। बाद में यत्किंचित् स्थानों पर इसकी चर्चा की गई। सन् १९५५ में डा० हरिकान्त श्रीवास्तव ने अपने 'भारतीय प्रेमाख्यान काव्य' में इस पर लिखा। इसके बाद १९६० में डा० शिवप्रसाद सिंह द्वारा महत्त्वपूर्ण विस्तृत भूमिका सहित सम्पादित होकर यह ग्रन्थ प्रकाश में आया है। कवि ने ग्रन्थ का नामकरण रसरतन इसलिए किया चूँकि उनका ग्रन्थ नवरसों से अलंकृत है। उन्होंने गुणसमुद्र को ज्ञान की मथानी और प्रेम की डोरी से मथा तब उन्हें वह नवनीत प्राप्त हुआ :

---

१. डा० शिवप्रसाद सिंह द्वारा सम्पादित पुहकरकृत रसरतन, ना० प्र० सभा, काशी.

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २२८.

गुन समुद्र मंथान ग्यान मंथानिय ढुंढिय।
जेतु हेतु गहि हाथ रतन नवरस मथ कढ्ढिय॥
वागेसुर परसाद प्रघट क्रम क्रम सब दिष्षह।
अलप बुद्धि कहं हेत धीर मुंहि दोस न दिज्जह॥
गुरु नाम सुमर पोहकर सुकवि गरुव ग्रंथ आरंभ किय।
रस रचित कथा रसकनि रुचित रुचिर नाम रसरतन दिय॥२०॥

वहि समुद्र चौदा रतन, मथे असुर सुर सैन।
इहि समुद्र नव रस रतन नाम धरो कवि तैन॥ २१॥

भारतीय प्रेमाख्यानकों का अधिकांश मूल लोक-गीतों, मुहावरों, लोक-प्रचलित किंवदंतियों अथवा दंतकथाओं के आधार पर खोजा जा सकता है। रसरतन भी एक 'दंतकथा' अर्थात् काल्पनिक कथा है। पुहकर ने इसे दंतकथा के रूप में स्वीकार किया है :

पहले दंतकथा हम सुनी। तिहि पर छंद वंद हम गुनी॥
श्रवनन सुनी कथा हम थोरी। कछुवक आप उकति तैं जोरी॥आदि खंड८९॥

रसरतन में कथा की सरसता और रोचकता का पूरा-पूरा पता उसका पाठ करने से ही चलता है। रसरतन में प्रेमाख्यानकों में आने वाली कथानक रूढ़ियों का भी प्रयोग हुआ है जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायेगा। रसरतन की रचना का समय सं० १६७३ है। कथा का सारांश इस प्रकार है :

पुहकर ने रसरतन में अद्वितीय कथा-निर्माण किया है। कामकन्दला में तो काम ने सिर्फ जन्म ही लिया था, यहाँ उसे वैरागर के राजा सोमेश्वर के पुत्र सूरसेन और चम्पावती नरेश को तनया रंभावती का संयोग कराने के लिए स्वयं दूत बनना पड़ा :

नृप तनया रंभावती, सूर पृथ्वीपति पूत।
वरनों तिनकों प्रेमरस, मदन भयो तहं दूत॥ आदि खंड १०२॥

वैरागर के राजा सोमेश्वर पूर्व दिशा में राज्य करते थे। सूर्योदय के कारण यह दिशा सर्व दिशाओं से महत्त्वपूर्ण है। राजा अतुल वैभवसंपन्न था। परन्तु पुत्राभाव के कारण वह अत्यंत मर्माहत था। एक बार वह अपनी रानियों के साथ काशी आया। यहाँ चिंतामणि पंडित ने उन्हें

मनसा, वाचा, कर्मणा शिवसेवा करने को कहा। उनके ऐसा करने पर शिव प्रसन्न हुए और महारानी कमलावती ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। ज्योतिषियों ने जन्म-लग्न-विचार करके उसके सम्बन्ध में भविष्यवाणी की कि राजकुमार बहुत गुणी होगा, चक्रवर्ती नरेश बनेगा, किन्तु तेरहवें वर्ष में त्रिया-विरह से दुःखी होगा। विरह में ३ वर्ष तक इधर-उधर कष्ट झेलता हुआ भटकेगा। चौथे वर्ष प्रिया-संयोग होने के कारण सभी दुःखों से छुटकारा पा सकेगा। इसके दो स्त्रियाँ होंगी और चार पुत्र, जो कि पृथ्वी का शासन करेंगे। यह कुमार रूप में काम, ज्ञान में गोरख, दान में बलि, साहस में विक्रमादित्य, शस्त्र-प्रयोग में अर्जुन, बल में भीम, व्रत में भीष्म, विद्या में भोज, सौन्दर्य में चन्द्रमा और शौर्य में सूर्य की तरह होगा। इसकी आयु पाँच कम सौ वर्ष की होगी। राजा ने पंडितों को दान देकर विदा किया। कुमार का लालन-पालन राज-घरानों के अनुकूल होने लगा। १२ वर्ष में उसने वेद, व्याकरणादि तथा अस्त्र-शस्त्रादि चौदह विद्याएँ सीख लीं। जब १३वें वर्ष में कुमार का प्रवेश होने लगा तो उसके अंग-अंग में तरुणाई फूट पड़ी। ज्योतिषियों की वाणी का स्मरणकर राजा ने तय किया कि कुमार से कोई प्रेम की बात न करे और न वह किसी तरुणी को देख सके।

गुर्जर देश की चम्पावती नगरी में राजा विजयपाल का राज्य था। यह राजा भी सर्वसाधनसंपन्न और सुखी था। उसके अन्तःपुर में अनेक रमणीक रमणियाँ थीं। परन्तु सन्तान के न होने से सभी व्यर्थ थीं। एक बार राजा शोचनीय दशा में बैठा हुआ था तो एक सिद्ध आया। राजा के अभिलाषा व्यक्त करने पर सिद्ध ने इन्हें चण्डी-पूजा करने का उपदेश दिया और भविष्यवाणी की कि तुम्हें एक कन्यारत्न की प्राप्ति होगी। समय आने पर महारानी पुष्पावती को स्वाति नक्षत्र में कन्योत्पत्ति हुई। पंडितों ने जन्म-लग्न देखकर भविष्यवाणी की कि यह बड़ी होनहार और भाग्यशालिनी पुत्री है। इसकी कहानी युगों तक चलेगी। ११वें वर्ष में इसे पीड़ा होगी। वह रोग चौदहवें वर्ष में दूर होगा। कन्या का लालन-पालन नृप ने बड़े लाड़-प्यार से किया। रंभा के ११वें वर्ष में प्रवेश करते ही उसके अंग में अचानक मन्मथ का प्रवेश हो गया। उसके प्रत्येक अंग का सौन्दर्य बढ़ने लगा। यौवन जल में झाँकती कमलकली की भाँति फूटने लगा।

एक समय अपने पति की सेज पर सुख में खोई रति ने पूछा—नाथ सारा त्रिभुवन तुम्हारे अधीन है, कोई भी तुम्हारे प्रेमपाश से मुक्त नहीं है। अतः मुझे बताइये कि तीनों लोकों में कौन तरुण और तरुणी सर्वाधिक सुन्दर हैं। काम ने कहा कि यों तो बहुत सों में ठीक-ठीक बता पाना कठिन है, फिर भी चंपावती नरेश की कन्या रंभावती और वैरागर के राजा सोमेश्वर का पुत्र अद्वितीय है। काम की बात सुनकर रति ने हठ किया कि दोनों का संयोग करा दीजिये। काम ने उसके हठ को पूरा करने के लिए उसे बताया—'हे सुन्दरो! दर्शन तीन प्रकार के होते हैं: स्वप्न, चित्र और प्रत्यक्ष।' तुम वैरागर जाकर रंभा के वेश में सूरसेन को दर्शन दो और मैं सूरसेन के वेश में रंभा को दर्शन दूँगा। रति ने ऐसा करके सूरसेन को प्रेम-समुद्र में निमग्न कर दिया।

कामदेव चम्पावती रम्भा के शयनकक्ष में गये। कामदेव ने रंभा पर उच्चाटन और मोहनशर का प्रयोग किया। अबला को अधीन बनाकर मदन अन्तर्धान हो गये। प्रातःकाल राजकुमारी की दशा देखकर सखियाँ तरह-तरह की शंका करने लगीं। कोई कहती हवा लगी है कोई कहती भूत का भय है। इसी प्रकार सभी परेशान थीं। इतने में आकाशवाणी हुई कि आस रखो, 'सूर विथाहर' होंगे। रानी को खबर मिली। राजा-रानी बहुत दुःखी हुए। वैद्य, सयानों के तरह-तरह के उपचार किये गए। कोई लाभ नहीं हुआ। मदनमुदिता नामक सखी ने रंभा की स्वेद, स्तंभ, रोमांच, वेपथु आदि स्मरदशाओं को देखकर उसे प्रेमपीड़ा होने का अनुमान किया। अपनी इस शंका को उसने अन्य सखियों पर प्रकट किया। सभी सखियाँ रंभा के पास गईं। मदनमुदिता ने छलपूर्वक नलदमयंती, कामकन्दला, उषाअनिरुद्ध की कथा सुनाई। अन्तिम कथा को सुनकर रम्भा आकृष्ट हुई। मदनमुदिता ने कसम दिलाकर मन में पैठे चोर का नाम पूछ लिया। रम्भा के कुछ ही दिनों में जब काम की दसवीं दशा निधन समीप आने लगी तब लाचार हो मदनमुदिता ने रानी को बता दिया। मुदिता की राय मानकर रानी ने राजा से छिपाकर अनेक चित्रकार राजकुमारों का चित्र लाने के लिए भेजे।

इधर रम्भा अपने प्रिय की आशा लगा रही थी। उधर सूरसेन बिना जल की मछली के समान तड़फ रहे थे। उन्हें दिन, रात, सूर्य-चन्द्र किसी की पहचान नहीं रही। जिस दिन से उन्होंने रम्भा को स्वप्न में देखा था

उसी दिन से विरहवृक्ष अंकुरित हो गया था। उनके विरह को दूर करने के विभिन्न उपाय किये जा चुके थे, परन्तु सभी असफल सिद्ध हुए। इसी बीच वैरागर में बुद्धिविचित्र नामक चित्रकार देश-देशान्तरों का भ्रमण करता हुआ पहुँचा। नगर में प्रवेश करते हुए उसे शकुन हुए। वह राज-भवन के पुजारी देवदत्त के यहाँ ठहरा। उन्हों के माध्यम से राजकुमार से मिला और उनसे राजकुमारी की सही-सही स्वप्न आदि की बातें बताई। राजकुमार ने भी चित्रकार को स्वप्न की बात सुनाई। तब चित्रकार ने रम्भा का ७ सखियों के साथ वाला चित्र दिखाया। वह चित्र पहचान गया और उसे हृदय से लगाकर शान्ति पाता तथा नैनों से अलग नहीं कर पाता। चित्रकार ने राजकुमार को बातों की गोपनीयता की शपथ दिलाई। राजकुमार ने रम्भा के लिए एक पत्र और अँगूठी चित्रकार के हाथ भेज दी। चित्रकार को भी बहुत से उपहार भेंट कर विदा किया। रम्भा के स्वयंवर में आने की बात चित्रकार ने राजकुमार से समझा दी।

बुद्धिविचित्र चंपावती पहुंचकर मंत्री सुमतिसागर से मिला। मुदिता ने चित्र, पत्र और मुद्रिका राजकुमारी के पास भेज दिए। रानी को जब यह खुशखबरी मिली उसने राजा को सुता-स्वयंवर करने की सलाह दी। स्वयंवर की विधिवत् तैयारी होने लगी। राजभवन और उसके सामने अनेक साज-सामान एकत्र होने लगा।

इधर रंभा की सखियाँ प्रिय को रिझाने, वशीभूत करने और स्वयं के श्रृंगार के नवीन ढंग रंभा को सिखाने लगीं। लज्जा, पतिसेवा आदि की दीक्षाएँ मिलीं। मदन के प्रमुख स्थान और उन्हें उद्दीप्त करने की विधियाँ बताई गईं। कोककला का पूरा ज्ञान कराया गया। चौरासी मुद्राएँ सखियों ने बताईं। प्रिय के अप्रिय वचनों को भी सह जाने की सलाह दी गई। इस प्रकार सखियों ने उसे अनेक शिक्षाओं से अवगत कराया।

सूरसेन ने विजयपाल द्वारा आयोजित स्वयंवर में जाने की इच्छा मंत्री से व्यक्त की। मंत्री ने राजा को सूरसेन को चंपावती भेजने के लिए तैयार कर लिया। वैशाख कृष्णा पंचमी तदनुसार पुष्य-नक्षत्र गुरुवार के दिन विजययात्रा का निश्चय हुआ। पुत्र को विदा करते समय रानी कमलावती का कंठ भर आया।

सूरसेन की सेना चली। सेना में हाथी-घोड़े आदि सभी अच्छी नस्ल के थे। इसका वर्णन कवि ने आलंकारिक भाषा में विस्तृत रूप से किया है। सूरसेन अपनी सेना के साथ विस्तृत मार्ग तय करके मानसरोवर के तट पर पहुंचे। वहाँ का दृश्य बड़ा मनोरम और सुहावना था। सूरसेन ने वहीं रात्रि-विश्राम का निश्चय किया। उसी दिन अर्द्धरात्रि के बाद अप्सराएँ वहीं जलक्रीड़ा करने आईं। सभी अप्सराएँ सुन्दर आभूषणों से युक्त थीं। चांदनी रात का सुहावना मौसम था। ये अप्सराएँ रंभा की सलाह से क्रीड़ा-कमलों से खिलवाड़ करती रहीं। मंदिर के वहाँ उन्होंने देखा कि एक सुन्दर युवक एक बहुमूल्य पलंग पर सोया हुआ है। सूरसेन के रूप को देखकर अप्सराओं को अपनी अभिशप्ता सखी कल्पलता की याद आई जो इन्द्र के शाप से पृथ्वी पर आ गई थी। उन्होंने सोचा कि यदि कल्पलता का विवाह इस सुन्दर युवक से हो जाय तो उसका अभिशाप वरदान में बदल जायेगा। इसी उद्‌देश्य से अप्सराओं ने पलंग उठाया और ब्रह्मकुण्ड की ओर ले चलीं। कल्पलता के पास पहुँचकर अप्सराओं ने उसको उस युवक से गंधर्व-रीति से विवाह करने पर राजी कर लिया। शीघ्र ही कल्पलता का श्रृंगार करके उससे युवक को जगवाकर आरती उतरवाई। सखियाँ उन दोनों को केलिक्रीड़ा करने के लिए छोड़कर हट गईं। सूरसेन ने इसे रंभा समझा। क्योंकि जो जिसकी आखों में बसता है उसे वही दिखाई पड़ता है। दोनों आलिंगन-पाश में बंध गये। इस स्थान पर दोनों की सुरत्ति-केलि का वर्णन कवि पुहकर ने कामशास्त्र के आचार्य के रूप में ही किया है। सुरति के बीच में कल्पलता की 'चतुराई' से सूरसेन को सन्देह हुआ कि यह रंभा नहीं है। कुमार ने उसका परिचय पूछा। कल्पलता ने बताया कि वह इन्द्रसभा की एक अप्सरा है। एक नृत्य में बाधा के कारण नल ने उसे मर्त्यलोक में आने का शाप दे दिया। परन्तु उसने दया करके कहा कि तेरा पति एक नरेश होगा, मेरी कृपा से सुख-भोग में कमी नहीं होगी। बाद में कुमार के अनुरोध पर कल्पलता ने अप्सराओं का नृत्य दिखलाया। एक दिन सोये हुए कुमार के गले में रत्नजटित 'उरवसी' में रंभा का चित्र देखकर उसका भेद पूछा। कुमार ने बात छिपा ली। कुछ समय बाद कुमार को रंभा की याद सताने लगी। वह एक साधु-मण्डली के पास चम्पावती का मार्ग पूछने के लिए गया। मार्ग का पता चला कि वह विकट मार्ग है। परन्तु कुमार योगी का वेश बना,

वीणा बजाता हुआ कठिन मार्ग पर शंकर का ध्यान करता हुआ चंपावती की ओर चला।

इधर प्रातःकाल वैरागर के मन्त्री गुनगंभीर ने कुमार को शैया के साथ लापता पाया तो उनकी सारी गम्भीरता समाप्त हो गई। सभी विह्वल हो उठे। मंत्री ने चित्ररेखा और मधुमालती की कथा सुन रखी थी। अतः उन्होंने सोचा—हो न हो शैया को कोई अप्सरा उड़ा ले गई हो। उन्होंने सेना को चंपावती की ओर बढ़ने का आदेश दिया।

बहुत दिनों तक पथ-पीड़ाओं के झेलने के बाद कुमार एक अद्‌भुत-अनुपम बाग में पहुंचे। वहाँ एक सुन्दर तालाब था। उसमें सुन्दरियाँ जल भर रही थीं। उसी स्थान पर सूरसेन ने अपनी वीणा बजाई, जिससे समस्त स्त्रियाँ, जीव-जन्तु इकट्‌ठे हो गये एवं मुग्ध हो उठे। सूरसेन ने चम्पावती नगर में प्रवेश किया। उनके आने की सूचना नगर में पहले ही फैल चुकी थी। वे शिवमन्दिर में पहुँचे और शिव की स्तुति की।

इधर लग्न का समय आ पहुँचा परन्तु सूरसेन का कोई पता नहीं। देश-देश से कुमारी के स्वयंवर के लिए भूपति आने लगे। रम्भा को चिन्ता हो चली। सूरसेन की वीणा का नगर में शोर था। रम्भा की सखी गुनमंजरी इस रहस्यमयी योगी का रहस्य जानने आई जिससे योगी ने एक विरह की गाथा कही। गुनमंजरी ने अन्तःपुर जाकर सारा भेद मदनमुदिता को बताया। रम्भा की आज्ञा से मदनमुदिता योगी से मिलने गई। कुमार ने बुद्धिविचित्र का पता पूछा और रम्भा से मिलने की इच्छा व्यक्त की। मुदिता ने रम्भा को आश्वस्त किया कि सेना पीछे आ रही है। रम्भा विवाह के पूर्व शिवयाचना के लिए शिवमन्दिर पहुँची। चम्पावती की सेना रम्भा के साथ गई और मन्दिर के चारों तरफ खड़ी रही। सूरसेन और रम्भा प्रथम मिलन के अवसर पर एक-दूसरे को अवाक् देखते रह गये। रम्भा लौटी तो कुमार बेहोश हो गया। मदनमुदिता ने उसे सब काम सावधानी से करने की सलाह दी। वह लौटकर वैरागर से आने वाली अपनी सेना से मिला। चम्पावती नरेश ने अपने मन्त्री को बुलाकर सूरसेन और उनकी सेना को उचित स्थान देने को कहा।

शुभ दिन पर मंडप की रचना कराकर विजयपाल ने स्वयंवर के लिए मंडप में आगमन का सभी नरेशों को निमन्त्रण दिया। रम्भा की सखियों ने रम्भा को बहुविध सजाया-संवारा। उसका रूप अप्सराओं से

भी आकर्षक था। मंडप में लगातार नरेश आ-आकर अपना स्थान ग्रहण कर रहे थे। सभी नरेशों के बीच सूरसेन सूर्य के समान तेजवान् था। कुमारी ने मंडप में प्रवेश किया और अनेक नरेशों के सामने से होती हुई वह सूरसेन तक पहुँचकर रुक गई और गले में जयमाला डालकर पैरों पर झुक गई। यह विवाह बड़े उल्लास और आनन्द के साथ सम्पन्न हुआ।

चम्पावती नरेश ने सूरसेन से प्रार्थना की कि सूरसेन रम्भा को पुत्र प्राप्ति तक चम्पावती में रहें। विजयपाल ने अपना राज्य रम्भा के होने वाले पुत्र के नाम संकल्प कर दिया। मन्त्री ने राजा की आज्ञा मानकर सूरसेन से चम्पावती रहने का आग्रह किया। रम्भा को रात्रि के समय छलपूर्वक सूरसेन के पास चित्रशाला में पहुंचा दिया। उसके मनोरथ पूर्ण हुए। सूरसेन ने कल्पलता से विवाह की बात छिपा ली।

उधर कल्पलता विरह से तड़प रही थी। यहीं कवि ने बारहमासे का सुन्दर चित्रण किया है। सभी सुहावने महीने बीतते गये पर कल्पलता का प्रिय नहीं आया। अन्त में उसने विद्यापति नाम के शुक को अपना विरह बताकर चम्पावती भेजा। ऐसे विलक्षण शुक को रम्भा ने अपने बाग में देखकर पकड़ लिया और सोने के पिंजरे में बन्द करके दूध-भात खिलाया। शुक के रहस्य को रम्भा ने सूरसेन से जान लिया और कल्पलता को शीघ्र ले आने का आग्रह किया। कुमार अपनी सेना लेकर ब्रह्मकुंड की ओर चल पड़ा। साथ में परिचारिकाएँ और रम्भा भी थीं। मायानगर की सीमा पर पहुँचते ही मदन ने मार्ग रोका। अतः युद्ध हुआ। युद्ध में विजय हुई। उसमें कटे हुए मुण्डों की माला सूरसेन ने शिव को पहनाई। कल्पलता की और रम्भा की भेंट दो बहनों के समान हुई। समय से रम्भा को पुत्रोत्पत्ति हुई। जिसकी खुशी में याचक भी अयाचक बन गये, इतना दान दिया गया।

उधर पुत्र के पास न होने से राजा सोमेश्वर और रानी कमलावती की बुरी दशा थी। वे बार-बार कलियुग को कोसते जिसमें बेटे जन्मदाता माँ-बाप को भूलकर पत्नी के ही हो जाते हैं। उन्होंने पुरोहित-पुत्र पुरुषोत्तम को चम्पावती से सूरसेन को लाने के लिए भेजा। सूरसेन माँ-बाप की खबर पाते ही अविलम्ब अपनी रानियों के साथ वैरागर के लिए चल पड़ा। कुछ आवश्यक जनों को साथ लिया और दहेज आदि का सामान पीछे आने को छोड़ दिया। सूरसेन अपने माँ-बाप के घर पहुँच गया। माँ

का आँचल दूध से भींग गया। सूरसेन ने स्वयं के और रानियों के लिए एक भव्य प्रासाद का निर्माण कराया। सूरसेन समस्त राजाओं को जीत चक्रवर्ती हुए। कुमार के चार लड़के थे। जब सूरसेन ने ३० वर्ष तक युवराज पद संभाला तो सोमेश्वर की मृत्यु हो गई। इससे उन्हें बहुत दुःख हुआ। किसी प्रकार धैर्य धारण किया। रम्भा ने अपने पुत्र चन्द्रसेन को चम्पावती से बुला लिया। एक बार एक नटमण्डल ने एक खेल रचाया। यह खेल २२ खंडों के महल में रचाया गया। इस खेल को देख कर सूरसेन को वैराग्य हो गया और वे पंडित चिन्तामणि तथा अपनी रानियों के साथ काशी चले गये।

मृगावती—इस नाम की कई रचनाएँ लिखी गईं। जिस रचना का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है, वह मेघराज प्रधान की कृति है। इसका रचनाकाल सं० १७२३ है। डा० हरिकान्त श्रीवास्तव ने इसका रचना-काल सं० १६०६ सम्भवतः प्रमाणाभाव के कारण ही लिखा होगा।[1] कुतुबनकृत मृगावती का सम्पादन डा० शिवगोपाल मिश्र ने किया है। उसकी भूमिका में उन्होंने मृगावती नाम की आठ विभिन्न लेखकों की रचनाओं का उल्लेख किया है।[2] प्रस्तुत कृति के विषय में जो उन्होंने लिखा है, यहाँ मैं वैसा ही उद्धृत कर रहा हूँ :

'मेघराज प्रधानकृत सं० १७२३ में ओड़छा के राजा सुजान सिंह के भतीजे अर्जुन सिंह की आज्ञा के अनुसार मेघराज ने मृगावती कथा लिखी। इसकी एक प्रति बूँदी के राजकीय पुस्तकालय में है और एक दूसरी प्रति की सूचना भी उदयशंकर शास्त्री ने दी है जो सं० १८०६ की चैत्र सुदी २ को लिखी है (देखिए—साप्ताहिक 'आज '२३ मार्च, १९५८)········ ।'[3]

प्रेमपयोनिधि—कवि मृगेन्द्र द्वारा रचित इस रचना का प्रणयन सं० १९१२ में हुआ था। रचना के अन्तर्गत वे सभी विशेषताएँ मौजूद हैं जो एक प्रेमाख्यान में होनी चाहिए। जगह-जगह अद्भुत चमत्कार की बातें प्रस्तुत की गई हैं। समुद्र में तूफान से नौका का टूटना, शुक आदि पक्षियों

---

१. डा० हरिकान्त श्रीवास्तव, भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, पृ० ४१.

२. कुतुबनकृत मृगावती, डा० शिवगोपाल मिश्र द्वारा सम्पादित, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित, भूमिका, पृ० ६.

३. वही,

का कथानक में भाग लेने जैसी अनेक कथानक रूढ़ियों का भी प्रयोग हुआ है। कथा इस प्रकार है :

प्रजापालक एवं धर्मात्मा राजा प्रभाकर सुन्दरनगर में राज्य करते थे। सन्तान न होने के कष्ट से दुःखी थे। भगवान् के भजन-पूजन से उन्हें एक पुत्ररत्न हुआ। ज्योतिषियों ने लग्न देख भविष्यवाणी की कि यह बालक बहुत प्रतापी राजा होगा। पन्द्रह वर्ष की आयु में प्रेम-पीड़ा के कारण घर छोड़ देगा। इधर-उधर मार्ग में कठोर कष्ट होंगे। बाद में ३ विवाह करके घर लौट आयेगा।

पिता ने इसीलिए १३ वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते कुमार की शिक्षा समाप्त करा दी और विवाह कर दिया। इसकी पत्नी चन्द्रप्रभा नामक एक रूपवती राजकुमारी थी। इन दोनों का जीवन बड़े आनन्द के साथ बीतने लगा। एक दिन दोनों नगर में घूमते-घूमते 'गुदड़ी' बाजार की ओर निकल गये। वहाँ एक कोने में बहुत भीड़ जमा थी। राजकुमार कुतूहलवश उधर देखने गया तो देखा एक आदमी एक सुन्दर तोते को बेच रहा है। कुमार ने तोता खरीद लिया और चन्द्रप्रभा के साथ घर वापिस आ गया।

राजकुमार तोते को अपने शयनागार में ही रखता था। एक दिन चन्द्रप्रभा ने खूब शृङ्गार किया और अपने रूप के विषय में उसने सखियों से पूछा, सखियों ने प्रशंसा की। लेकिन चन्द्रप्रभा और कुछ सुनना चाहती थी। वह अपने रूप पर मुग्ध हो रही थी। इससे वह तोते के पिंजरे के पास गई और उससे पूछा कि "क्या तुमने मुझ-सी सुन्दरी को कहीं देखा है?" तोते ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसने फिर वही प्रश्न दोहराया। तोता फिर चुप ही रहा। चन्द्रप्रभा ने पुनः वही प्रश्न किया। इस बार तोते ने नम्रता से कहा कि "किसी को गर्व नहीं करना चाहिए क्योंकि रावण का भी गर्व टूट गया था, तुम्हारा क्या?" वह इस उत्तर से आग-बबूला हो उठी। उसका चेहरा क्रोध से लाल था। इतने में राजकुमार आ गया और उसने चन्द्रप्रभा से उसके क्रोध का कारण पूछा। चन्द्रप्रभा कुछ नहीं बोली। तोते ने सारी बात यथावत् सुना दी और कहा—इसी पर यह क्रुद्ध है। उसने राजकुमार को बताया कि उत्तर देश में कनकपुर नाम का एक सुन्दर नगर है। वहाँ पहुंचने में १ वर्ष लगेगा। उस नगर की राजकुमारी संसार की सबसे सुन्दर स्त्री है। उसका नाम 'ससिकला'

है। चन्द्रप्रभा तो उसके सामने कुछ भी नहीं है। इतना सुनते ही चन्द्रप्रभा पिंजरे को उठाकर ले गई। उस दिन से कुमार ससिकला के विरह से सन्तप्त रहने लगा।

एक दिन तोते से मार्गदर्शन कराने की प्रार्थना की। इस पर प्रेम-मार्ग की कठिनाई का तोते ने उपदेश दिया। किन्तु राजकुमार मानने को तैयार नहीं हुआ। दूसरे दिन राजकुमार तोते को साथ ले ससैन्य कनक-पुर की ओर चल पड़ा।

तीन दिन के बाद वह एक सुन्दर वन में पहुँचा। मृगों को देखकर कुमार के मन में मृगया का विचार आ गया। उसने अपना घोड़ा मृग के पीछे दौड़ा दिया। शाम हो गई परन्तु मृग हाथ नहीं आया। कुमार को प्यास लगी। वह सामने ही एक झोपड़ी में गया। वहाँ एक संन्यासी ध्यानस्थ था। इसके पहुँचने पर उसने अपनी आँखें खोलीं और इससे वहाँ आने का कारण पूछा। राजकुमार ने सारी घटना बता दी। संन्यासी ने राजकुमार को आँख मिलाने को कहा। राजकुमार ने जब आँख मिलाई तो उसमें कनकपुर, ससिकला आदि साक्षात् हुए। कुमार ससिकला का रूप देख मूच्छित हो गया। जब उसे चेत हुआ तो उसने अपने को वहीं पाया जहाँ से वह चला था। परन्तु वहाँ उसके साथी नहीं मिले।

दूसरे दिन कुमार अकेला ही कनकपुर की ओर चला। गर्मी के कारण वह एक सरोवर में स्नानहेतु प्रविष्ट हुआ। उसमें घुसते ही उसे ऐसा लगा कि कोई नीचे की ओर खींच रहा है। नीचे वह जमीन पर पहुँच गया। वहाँ उसने एक सुन्दर फुलवारी देखी। उसमें एक महल बना था। वह महल की ओर बढ़ने लगा तो उसे सुन्दरियाँ दृष्टिगोचर हुईं। उनमें से एक सुन्दरी मणिजटित्त सिंहासन पर बैठी थी।

कुमार के पहुँचते ही सुन्दरी ने कुमार का स्वागत किया और उसे सिंहासन पर बिठाया। उसे सुस्वादु भोजन कराया। अपने महल में ले जाकर उसे बताया कि वह जादूगर महिपाल की बेटी है। उसने यह भी बताया कि वह बहुत दिनों से उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। कुमार ने ससिकला के प्रति अपना अनुराग बताया और जाने की अनुमति चाही। सुन्दरी ने कुमार से एक दिन रुक जाने को कहा। वह रुक गया। दूसरे दिन जब वह जाने लगा तो उसने जादू से भस्म करने की धमकी दी। अतः वह नहीं गया, वहीं रहने लगा। महिपाल-सुता ने काफी दिन बाद

कुमार को एक गुटिका दी और कहा कि मैं प्रतिदिन रात को लौटती हूँ। आप अकेले रहते हैं अतः इस गुटिका को लेकर कहीं भी घूम सकते हैं। कुमार एक दिन वहाँ से निकल धरमपुर नगर पहुँचा। इस नगर में उसकी भेंट वहाँ की राजकुमारी सूरजप्रभा से हो गई। वह उसे अपने महल में ले गई। दूसरे दिन उससे छुटकारा पा वह कनकपुर की ओर चला। १४ दिन बाद वह कनकपुर पहुँचा। वहाँ उसे पता चला कि ससिकला को कुछ लोग मन्त्रबल से उठा ले गये हैं। कुमार ने उसे खोजने का सफल प्रयास किया। इस प्रकार दोनों मिले और दोनों का विवाह हुआ। कुमार घर को लौटा तो उसने रास्ते में सूरजप्रभा को भी साथ ले लिया। मार्ग में उसकी भेंट मंत्रीसुत से हो गई। मंत्रीसुत दोनों राजकुमारियों को पाने का षड्यन्त्र रचने लगा। एक बार दोनों मित्र घूमने निकले तो एक मृत बन्दर मिला। कुमार ने अपना मन्त्रबल दिखाने के लिये बन्दर के शरीर में प्रवेश किया। मंत्रीसुत ने धोखा किया। वह कुमार के शरीर में प्रविष्ट हो गया और अपने शरीर को काट डाला। कुमार के वेश में राजकुमारियों के पास गया। परन्तु राजकुमारियों को शक हो गया। इधर उस बुद्धिमान् बन्दर की चर्चा सब जगह हो रही थी। सूरजप्रभा उस बन्दर के पास गई तो बन्दर (कुमार) ने उसे पहचाना। दूसरे दिन सूरजप्रभा एक मरा तोता ले गई और बन्दर के प्राण तोते में लेकर घर आ गई। तोते ने मंत्रीसुत को अपना परिचय दिया। वह घबड़ाया। सूरजप्रभा ने मन्त्रबल से मंत्रीसुत के प्राण निकाल दिये और तोते के प्राण उसमें डाल दिये।

कुमार दोनों रानियों को साथ ले घर लौटा। रास्ते में महिपाल-सुता का घर मिला। महिपाल ने अपनी लड़की का अपमान करने के कारण राजकुमार से युद्ध किया। महिपाल हार गया। यहीं चन्द्रप्रभा द्वारा भेजा हुआ उसे एक तोता मिला। उसने चन्द्रप्रभा के विरह की दशा का वर्णन किया। कुमार जहाज पर चढ़कर घर वापिस आ रहा था कि समुद्र में भयंकर तूफान आ गया और जहाज टूट गया। कुमार की चीत्कार पर सिन्धुपुरुष ने प्रकट होकर उसे सान्त्वना दी और उसकी दोनों रानियों को यक्षिणी की सहायता से खोजकर कुमार को सौंप दिया। इस प्रकार कुमार अपनी पत्नियों के साथ घर पहुँचा।

रुक्मिणीपरिणय[1]—इसके रचयिता श्री रघुराज सिंह जूदेव हैं। रचना-

१. सं०–प्र०–गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मी वेंकटेश्वर, कल्याण-मुंबई, सं० १९८१.

काल सं० १९०७ है। काव्य की दृष्टि से यह कोई महत्त्वपूर्ण कृति नहीं है। यह श्रीमद्भागवत के आख्यानों के आधार पर लिखी गई रचना प्रतीत होती है। प्रथम खंड में रुक्मिणीपरिणय का संक्षिप्त परिचय मात्र है। इसके बाद जरासंधवध, कालिवध आदि की कथा कई अध्यायों में दी गई है। सातवें अध्याय में कृष्ण और बलराम के विवाह का नारद-उग्रसेन द्वारा वार्तालाप कराया गया है। इसके बाद नारद रुक्मिणी के पिता भीमसेन के पास जाते हैं और उनसे श्रीकृष्ण के रूप-गुणों की प्रशंसा करते हैं। यह कथा विस्तार से कही गई है जिससे रुक्मिणी के हृदय में कृष्ण के प्रति अनुराग उत्पन्न हो जाता है। नारद इसी प्रकार द्वारिकापुरी पहुँचकर कृष्ण से रुक्मिणी के गुणों की चर्चा करते हैं जिसे सुनकर कृष्ण के हृदय में रुक्मिणी को व्याह लाने की इच्छा होती है। कृष्ण उसे विवाहने जाते हैं। सभी समस्याओं पर विजय पा वे रुक्मिणी का परिणय करके ले आते हैं। रुक्मिणी की अनेक सखियों के साथ रास का भी वर्णन किया गया है।

इस प्रकार हिन्दू प्रेमाख्यानकों की एक लम्बी परम्परा रही है। मध्ययुगीन हिन्दू प्रेमाख्यानकों की परम्परा (सं० १०००–१९१२) में मृगेन्द्र के प्रेम-पयोनिधि को अन्तिम कृति माना जा सकता है।[1]

सूफ़ी प्रेमाख्यानक

सूफ़ी प्रेमाख्यानकों के अन्तर्गत निम्नलिखित रचनाएँ परिगणित की जा सकती हैं :

रचना	रचयिता	रचनाकाल
चन्दायन	दाऊद दलमई	१३७९ ई०
मृगावती	कुतुबन	१५०३–४ ई०
पद्मावती	जायसी	१५४० ई०
मधुमालती	मंझन	१५४५ ,,
रतनावती	जान	१६३४ ,,
रतनमंजरी	,,	
कामलता	,,	१६२१ ,,
मधुकरमालती	,,	१६३४ ,,
कथा मोहनी	,,	

१. डा० हरिकान्त श्रीवास्तव, भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, पृ० २१.

रचना	रचयिता	रचनाकाल
ग्रन्थ लैलै-मजनूँ	जान	
रूपमंजरी	,,	
कथा कलन्दर तथा तमीम-अंसारी आदि	,,	१६४५ ई०
ज्ञानदीप	शेख नवी कृत	१६१९ ई०
इन्द्रावती	नूरमुहम्मद	११७८ हि० सन्
पुहुपावती	हुसेन अली	११३८ हि० सन्
प्रेमचिन्गारी	नजफ अली	१८०९ ई०
भाषा प्रेमरस	शेख रहीम	१९१५ ई०
कथा कामरूप	कवि अज्ञात	
चित्रावली	उसमान	१६१३ ई०
पुहुप-वरिषा	जान	१६२१ ई०
छीता	,,	१६३६ ई०
कनकावती	,,	१६१८ ई०
कंवलावती	,,	
नलदमयन्ती	,,	१०७२ हि० सन्
कलावती	,,	१०८३ ,,
कथा विजरखाँ साहिजादे वा देवल दे की चौपाई	,,	

चन्दायन[1]—चन्दायन मौलाना दाऊद की रचना है। इसका रचनाकाल सन् १३७९ ई० आँका गया है। सूफ़ी प्रेमाख्यानकों में सर्वाधिक प्राचीन कृति चन्दायन ही है। इसे प्रकाश में लाने का पूरा-पूरा श्रेय डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त को है। उन्होंने चन्दायन के अनुशीलन में चन्दायन पर हुए अद्यतन कार्यों का ब्योरा सप्रमाण प्रस्तुत किया है[2] जो अत्यन्त महत्त्व का है। उन्हें इस बात की टीस थी कि इतने समय बाद तक यह कृति प्रकाश में क्यों नहीं आई। वे लिखते हैं—'१९२८ ई० से लेकर १९५६ ई० तक

---

१. डा० परमेश्वरीलाल गुप्त द्वारा संपादित, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई से प्रकाशित।

२. विस्तार के लिए देखिये—अनुशीलन, वही, पृ० १-१८.

सूफ़ी साहित्य और प्रेमाख्यानक काव्यों को लेकर शोध का ढिंढोरा तो खूब पिटा, पर हिन्दी साहित्य के विद्वानों और अनुसन्धित्सुओं की जानकारी इस बात तक ही सीमित रही कि दाऊद ने चन्दायन नामक कोई प्रेमाख्यानक काव्य लिखा था। उसकी एक प्रति उन्हें ज्ञात भी हुई तो उसकी ओर समुचित ध्यान ही नहीं दिया गया। लोग रामकुमार वर्मा की धुरी पर चक्कर काटते रहे।'[1]

चन्दायन में अपने परवर्ती काव्यों में पाई जानेवाली सभी विशेषताएँ मिलती हैं। इसकी अपनी विशेषता यह है कि कथा का प्रारम्भ नायिका के जन्म से होता है। दाऊद ने प्रेमाख्यानकों में पाये जानेवाले कथा-अभिप्रायों का भी प्रयोग किया है। इसकी रचना लोककथा के आधार पर ही हुई। दाऊद के समय में लोरक-चंदा की लोक-कथा काफ़ी प्रचलित थी। रचना सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। कथा इस प्रकार है :

ईश्वर-मुहम्मदादि की स्तुति के उपरान्त कवि ने गोवर महर नामक स्थान के सरोवर, मन्दिर, खाई, दुर्ग, नगर निवासियों, सैनिकों, बाजार-हाट, राजदरबार और महल आदि का वर्णन किया है। राय मेहर के ८४ रानियाँ थीं जिनमें फूलारानी नामक महारानी थी।

राय मेहर के घर चाँद नामक कन्या उत्पन्न हुई। खूब खुशियाँ मनाई गईं। जब तक चाँद १२ महीने की ही हो पाई थी कि द्वारसमुद्र, मारवाड़, गुजरात, तिरहुत, अवध और बदायूँ तक उसकी प्रशंसा फैल गई! जब चाँद ४ वर्ष की हुई तो जीत के अनुरोध पर उसके बेटे बावन से सहदेव ने चाँद का विवाह रचा दिया। विवाह की १२ वर्ष की लम्बी अवधि बीत गई। चाँद का यौवन फूट पड़ा। परन्तु उसका पति उसकी सेज पर नहीं आया। वह विलाप करने लगी। उसकी ननद ने विलाप सुनकर अपनी माँ से कहा। चाँद की सास से उसकी कहासुनी हो गई और चाँद अपने पिता के यहाँ से आदमी बुलाकर पीहर चली गई। वहाँ उसे स्नानादि कराके उसका श्रृंगार किया गया। चाँद की सखियों ने उससे पति-प्रसंग की बातें पूछीं। इस पर उसने अपनी कामव्यथा कह सुनाई।

एक बार गोवर में वज्रयानी साधु आया। वह गाता हुआ नगर में भिक्षाटन कर रहा था। चाँद ने अपने झरोखे से उसे देखा। साधु की दृष्टि

---

१. वही, पृ० ७.

झरोखे में खड़ी चाँद पर पड़ी तो वह देखते ही मूर्च्छित हो गया। लोगों के पूछने पर उसने चाँद से अपनी आसक्ति की बात बताई। परन्तु सहदेवराय के भय से वह नगर छोड़कर चला गया। वाजिर एक माह इधर-उधर घूमने के बाद एक नगर में पहुंचा। वहाँ वह चाँद के विरह के गीत गा रहा था, जिन्हें सुनकर वहाँ के राजा रूपचन्द ने उसे बुलाया। रूपचन्द के पूछने पर वाजिर ने अपना स्थान उज्जैन बताया। उसने चाँद के दर्शन और उसके वियोग की बात भी राजा को बताई। राजा ने जिज्ञासावश चाँद के विषय में विस्तार से जानना चाहा। तब वाजिर ने चाँद की माँग, केश, ललाट, भौंह, नेत्र, नासिका आदि प्रत्येक अंग के सौन्दर्य का सविस्तार वर्णन किया।

चाँद के रूपसौन्दर्य का वर्णन सुनकर रूपचन्द ने सेनापति को सेना तैयारकर गोवर नगर की ओर कूच कर देने को कहा। कवि ने सेना के हाथी-घोड़ों आदि का वर्णन करने के बाद लिखा है कि राजा को मार्ग में अपशकुन हुए, परन्तु वह गोवर नगर को घेरने तक आगे बढ़ता रहा। उसने जाकर नगर घेर लिया। रूपचन्द की सेना के आ जाने से नगर में खलबली मच गई। सहदेव ने अपने दूत भेजकर आक्रमण का कारण पुछवाया। दूतों ने आकर बताया कि वह चाँद से विवाह करना चाहता है। सहदेव ने अपने मन्त्रियों के परामर्श से युद्ध ठान दिया क्योंकि उसके पास भी अश्व, अश्वारोही, हाथी आदि कम नहीं थे। दूसरे दिन युद्धारम्भ हो गया। युद्ध की भयानकता देखकर भाट ने सहदेव को सलाह दी कि सहायता के लिए लोरक को बुला लीजिए क्योंकि रूपचन्द के योद्धा शक्तिशाली हैं। राजा की आज्ञा से भाट ही लोरक को लेने गया। लोरक के आते समय उसकी पत्नी मैना उसके सामने खड़ी हो गयी और युद्ध में जाने से रोकने लगी। उसे आश्वासन दे लोरक अजयी से युद्ध-कौशल की शिक्षा ले महर के पास पहुंचा। महर ने उसे तीन पान के बीड़े दिये और कहा कि विजयी होने पर वह उसे तीन सुसज्जित घोड़े देगा।

लोरक ने अपनी सेना को लेकर युद्ध किया। युद्ध में उसकी विजय हुई। युद्ध की जीत पर महर ने लोरक को पान का बीड़ा दिया और हाथी पर बैठाकर उसका जुलूस निकाला। चाँद अपनी दासी विरस्पत के साथ धौरहर के ऊपर जुलूस देखने गई। वह लोरक को देखते ही विकल होकर मूर्च्छित हो गई। विरस्पत ने चाँद के मन की बात पूरी कर देने को कहा।

दूसरे दिन चाँद ने विरस्पत से कहा कि जिसे मैंने कल देखा था उसे मेरे घर बुलाओ या मुझे उसके घर ले चलो। विरस्पत ने लोरक को नागरिक-ज्योनार में बुलाने को कहा। चाँद ने अपनी मनौती की बात गढ़कर पिता से ज्योनार कराई। ज्योनार के व्यंजनों, पशु-पक्षियों के शिकार आदि का वर्णन किया गया है। चाँद ज्योनार के समय धौरहर पर खड़ी देख रही थी। लोरक ने उसे देखा और खाना-पीना भूल गया।

वह अपने घर जाकर चारपाई पर पड़ गया। उसकी माँ विलाप करने लगी। सयाने, वैद्यादि बुलाये गये। पर उसे कोई रोग नहीं निकला। वह कामविद्ध था। विरस्पत ने लोरक की माँ का विलाप सुना तो वह उसके घर पहुँची और रोने का कारण पूछा। कारण जानकर वह लोरक के पास गई। उसने लोरक से कहा—मैं चाँद की धाय हूँ। बुलाने पर आई हूँ। आँख खोलकर अपनी बात कहो। चाँद के नाम से लोरक उठकर बैठ गया। उसने बात कहने में लज्जा का अनुभव किया। इससे उसकी माँ वहाँ से हट गई। लोरक ने विरस्पत से चाँद को मिलाने की विनय की। उसने कहा—जोगी-वेश में भभूत लगाकर मंदिर में बैठना, वहीं वह आयेगी तब दर्शन कर लेना। वह उसकी माँ को समझाकर चली गई।

लोरक जोगी बनकर १ वर्ष तक मंदिर की सेवा में लगा रहा और प्रेम की कामना करता रहा। दीवाली के अवसर पर चाँद सखियों के साथ मंदिर आई। रास्ते में उसका हार टूट गया। सखियाँ उसके मोतियों को इकट्ठा करने लगीं। विरस्पत ने चाँद से मंदिर में चलकर विश्राम करने को कहा। चाँद और विरस्पत मंदिर गईं। विरस्पत ने मंदिर में झाँककर कहा कि आजकल मंदिर में एक भगवंत आये हुए हैं, जाकर दर्शन कर लो, सारे पाप भाग जायेंगे। चाँद योगी को देखते ही बाहर निकल आई और योगी की स्थिति बताई। सखियाँ हार लेकर आ गईं। वह हार पहन घर चली आई। चेत आने पर लोरक विलाप करने लगा। उधर चाँद ने विरस्पत से लोरक से भेंट कराने को कहा। विरस्पत ने मंदिरवाले योगी लोरक की बात बताई तो चाँद को उससे बात न करने का दुःख हुआ। विरस्पत लोरक से योगीवेश त्यागकर घर जाने को कह आई। उसने वैसा ही किया। अब दोनों एक-दूसरे से मिलने को छटपटाते थे परन्तु कोई उपाय नहीं था।

चांद ने पुनः विरस्पत को लोरक के पास भेजा। विरस्पत ने चाँद के धौरहर का मार्ग लोरक को दिखा दिया। लोरक ने एक पाट और

उसका रस्सा खरीदा। उसमें बीच-बीच में गाँठ लगाकर ऊपर एक अंकुरी बाँध ली। रात में महल की ओर चला। भादों की अँधेरी रात में उसे कुछ नहीं दिखाई पड़ रहा था। बिजली चमकी तो चाँद का दरवाजा उसे दिखा। चाँद ने लोरक को देखा। वह प्रसन्न हुई। लोरक ऊपर रस्सा फेंकता, चाँद उसे मजाक करने को बार-बार नीचे डाल देती। बाद में लोरक ऊपर पहुँचा। उसके साथ रातभर केलि की। प्रातः चाँद ने देर हो जाने के कारण उसे चारपाई के नीचे छिपा दिया। शाम को अँधेरा होते ही उसे पुनः मिलने का वायदा करके विदा किया। लोरक घर पहुँचा तो मैना का सन्देह दूर करने को उसने कहा—राजा का रास देखने में ही रात बीत गई।

इधर महर और महरि को ज्ञात हो गया कि रात्रि में महल में कोई पुरुष आया था। भृत्यों द्वारा सारे नगर में बात फैल गई। मैना को भी पता लगा। वह लोरक से क्रुद्ध हो गई। पण्डित ने चाँद को बताया कि वह असाढ़ी के पर्व पर होम-जापकर सोमनाथ की पूजा करे तो मनोकामना पूरी होगी। उसने वैसा ही किया और लोरक को पतिरूप में प्राप्त करने की मनौती मानी। मैना भी दर्शन करने गई। मैना की उदासी का कारण चाँद ने हँसकर पूछा। इस पर दोनों में मारपीट शुरू हो गई। लोरक ने आकर बीच-बचाव किया। मैना ने घर आकर चाँद की शिकायत महरि के पास भेजी जिससे वह लज्जित हुई।

चाँद की सब बात खुल जाने के कारण वह मरने की सोच रही थी। उसने विरस्पत द्वारा लोरक के पास संदेश भेजा कि वह रात में उसे भगाकर ले जाय, नहीं तो वह सुबह कटार मारकर मर जायेगी। लोरक समझाने से भगाने को तैयार हो गया। रात्रि में दोनों आभरण, मानिक, मोती के साथ भागे। लोरक और चाँद ने अपने दोनों हाथों में अस्त्र लिये। दोनों काले कपड़े पहनकर चल दिये। गोवर से दस मील दूर लोरक का भाई कँवरू रहता था अतः वे वहाँ से कतराकर चलने लगे। लोरक के भाई ने उसे देख लिया और उसके पीछे भागा। लेकिन चाँद को पीछे-पीछे आते देख वह ठिठक गया। उसने उन दोनों की भर्त्सना की।

वे तेजी से भागते हुए रात होने पर गंगा के किनारे पेड़ के नीचे सो गये। सुबह लोरक छिपा रहा। चाँद किनारे पर खड़ी हो नौका की प्रतीक्षा करने लगी। नाविक आया और उसे नौका में बैठाकर ले चला।

उससे अकेले होने का कारण पूछा। आधी नदी आने पर लोरक पानी में से निकला और नाविक को ढकेल स्वयं नौका को ले बढ़ा। इतने में बावन आ पहुंचा और केवट से सारी स्थिति समझकर नदी में कूद गया। बावन ने नदी पार करके उनका पीछा किया और दस कोस पर जाकर उन्हें पकड़ा। लोरक पर उसने तीन बाण चलाये जो बेकार गये। वह हार मानकर वापिस आ गया।

लोरक को रास्ते में विद्यादानी नामक एक ठग मिला। उसने दान के बहाने चाँद को माँगा। लोरक ने उसके हाथ-कान काटकर छोड़ दिया। विद्या ने राव करंका से इसकी शिकायत की। राव ने लोरक को बुलवाकर उससे स्थिति जानी और लोरक का सम्मान किया। वहाँ लोरक एक ब्राह्मण के घर फूलों की शय्या पर सोया। रात्रि में सुगन्ध के कारण एक सांप आया और उसने चाँद को काट लिया। सात दिन तक लोरक विलाप करता रहा तब एक गुनी ने मन्त्र से चाँद को जीवित कर दिया। वे अब हरदी की ओर चले। मार्ग में उसे युद्ध करके आगे का रास्ता मिला। मार्ग के एक वन में रात हो गई। वे वहीं पेड़ के नीचे सो गये। रात्रि में चाँद को पुनः सर्प ने काट लिया। लोरक उसे चिता पर रख ही रहा था कि गुनी ने आकर उसे जिन्दा कर दिया।

लोरक और चाँद ने पुनः हरदी की ओर कूच किया। गारुड़ी कहता हुआ निकल गया कि पाटन देश मत जाना, जाना हो तो दाहिने रास्ते को अपनाना। उन्होंने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया। शाम तक वे सारंगपुर पहुँचे। वहाँ उसने वहाँ के राजा के साथ जुआ खेला और चाँद सहित सब कुछ हार गया। चाँद ने एक बार पुनः खेलने को कहा। महीपति इस बार हार गया। लोरक ने उसे मार डाला। मार्ग में फिर साँप ने काटा। उसने जीवित होकर चार स्वप्न देखने की बात कही। उसका विवरण चाँद ने दिया। वे फिर चल पड़े। चार दिन चलने के बाद एक नगर में पहुँचे। चाँद को मन्दिर में बैठाकर लोरक नगर में खाने-पीने का सामान लाने चला गया। पूर्व स्वप्न के अनुसार टूंटा योगी आया और उसने आकर सिंगी नाद किया। चाँद वेसुध होकर उसके पीछे चल पड़ी। लोरक सामान लेकर आया तो चाँद को गायब देख विलाप करने लगा। किसी प्रकार टूंटे योगी का पता लगा वहाँ पहुँचा। परन्तु योगी के आँख दिखाते ही भाग निकला। तभी उसे सिद्ध का वचन स्मरण हो आया।

स्मरण करते ही सिद्ध उसके पास आ खड़ा हुआ। लोरक और टूंटा झगड़ने लगे। सिद्ध ने सभा में चलने को कहा। वहाँ पहुँचने पर साक्षी के अभाव में बात नहीं सुलझी। चाँद पर टूंटे ने मन्त्र चला दिया जिससे उसे कुछ याद ही नहीं रहा।

इन सब संकटों को पार करके लोरक और चाँद हरदी पहुँच गये। जिस समय इन्होंने हरदी की सीमा में प्रवेश किया, वहाँ का राजा झेतम शिकार के लिए बाहर जा रहा था। राजा ने उनका परिचय प्राप्त कर आने का कारण पूछा। तदनंतर उनको ससम्मान नाना सामग्री भेंट की। दोनों वहाँ सानन्द रहने लगे।

उधर मैना लोरक-विरह में परेशान थी। एक बार नगर में एक टाड आया हुआ था। उसने नायक सिरजन को खोलिन के घर बुलाकर उससे उसकी यात्रा के विषय में पूछा और हरदीपाटन जाने का अनुरोध किया। उससे बहुत अनुनय की कि वह लोरक को वहाँ से भेज दे।

सिरजन मैना का संदेश लेकर चार माह में हरदीपाटन आ पहुँचा। सिरज़न लोरक के घर पहुँचा। लोरक को द्वारपाल ने सूचना दी कि कोई ब्राह्मण आया है। वह तुरन्त आया और आकर ब्राह्मण को प्रणाम किया। ब्राह्मण ने आशीर्वाद देकर अपनी पोथी खोलकर बताया कि तुम्हारा राजपाट गोवर में है, तुमने मैना पत्नी को छोड़ चाँद को अपना लिया है। मैना का नाम सुनते ही लोरक घबराने लगा। उसने सिरजन से सारा हाल सुना और उसे बहुत-सा दान देकर दूसरे दिन वापिस चलने को कहा। वहाँ के राजा ने लोरक को बुलाकर सब समाचार जाना और गोवर जाने की सब तैयारी करा दी। सैनिक भी साथ कर दिये। चाँद को लेकर वह गोवर की ओर चला।

वे लोग जब गोवर से ३० मील दूर थे तब किसी ने वहाँ जाकर सूचना दे दी कि कोई राव सेना लेकर गोवर पर आक्रमण करने आ रहा है। गोवर में खलबली मच गई। परन्तु मैना को अपने स्वप्न पर विश्वास था कि लोरक सुबह तक आ जायगा। सुबह लोरक ने माली को बुलाकर गोवर जाने को कहा और उससे मना किया कि यह मत बताना कि किसने भेजा है। माली मैना को फूल देने लगा तो मैना रोने लगी। उसने कहा—पति के घर पर न रहते क्या फूल? उसे फूलों में लोरक की ही वास लगी। माली से मैना ने पूछा तो माली ने कहा—मैं तो परदेशी

हूँ, नगर देखने आया हूं। यदि तुम दूध लेकर बाग में आओ तो लोरक मिलेगा। सुबह होते ही मैना अपनी दस सहेलियों के साथ दूध-दही बेचने चली। लोरक ने चाँद को पहले ही मैना को इशारे से बता दिया और उसे चौगुने पैसे, सोना आदि से दही खरीदने को कहा। चाँद ने वैसा ही किया। चाँद ने सभी अहीरिनों को सिंदूर भरा। मैना ने ऐसा करने से रोक दिया। उसने अपने पति का हरदी में चले जाने का दुःख प्रकट किया। लोरक ने मैना से छेड़छाड़ की तो वह बिगड़ गई और घर चली आई।

दूसरे दिन पुनः सब दही बेचने गईं। चाँद ने मैना को अन्दर बुलाया और लोरक की करनी पूछने लगी। मैना ने सब पहली कहानी बता दी और यह भी कहा कि कहीं चाँद मिले तो उसका मुँह काला कर दूँ। वे दोनों झगड़ गईं। बीच में लोरक आकर प्रकट हो गया। मैना प्रसन्न हो उठी।

नगर में ऐसा शोर हो गया कि मैना आगन्तुक के साथ रहती है। इस पर अजयी उससे लड़ने आया। उसने खौडा चलाया जो बीच में ही टूट गया। लोरक को पहचान वह गले लिपट गया। लोरक घर आया, खोलिन के पैर छुए और उसने दोनों बहुओं का स्वागत किया। लोरक ने अपनी माँ से पूछा कि पीछे कैसे रहीं। माँ ने बताया—पीछे बावन आया था और मैना को गाली दी। मौकर भी अपनी सेना लेकर आया। कवरू ने उसका सामना किया। परन्तु अकेला होने से मारा गया। माँ ने कहा—तुम्हारे पीछे रात-दिन जागती-रोती रही हूँ।

मृगावती[1]—इस कृति के रचयिता कुतुवन हैं। मृगावती नाम से कई रचनाएँ प्राप्त हैं जिनका उल्लेख मेघराज प्रधानकृत मृगावती का विवरण प्रस्तुत करते समय किया जा चुका है। सूफ़ी प्रेमाख्यानक साहित्य में जब तक चन्दायन प्रकाश में नहीं आई थी तब तक यही प्राचीन कृति मानी जाती थी। मृगावती की कथा संस्कृत, जैन-बौद्ध ग्रन्थों में पाई जाती थी। कुतुवन ने दाऊद की परम्परा का ही निर्वाह किया। मृगावती में अन्तर्कथाएँ भी आई हैं जो उसके परवर्ती प्रेमाख्यानकों में भी रूढ़ हुई हैं। इसमें पुरुष-नारी दोनों पात्रों की बहुलता है। कथा इस प्रकार है:

---

१. डा० शिवगोपाल मिश्र द्वारा सम्पादित, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित,

अतुल वैभव-सम्पन्न तथा धर्म में रुचि रखने वाला एक राजा पुत्रोत्पत्ति न होने के कारण अत्यन्त दुःखी था। भगवान् की मनसा, वाचा, कर्मणा पूजा करने पर राजा को पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। पण्डितों ने कुमार को तीव्र भाग्यशाली बताया। परन्तु आगे चलकर इसे स्त्री-वियोग होगा। राजा ने खूब दान दिया। उसके लालन-पालन की भरपूर व्यवस्था की। १० वर्ष की अवस्था तक आते ही वह बड़े-बड़े ग्रन्थ समझने लगा। शिकार भी खेलने लगा।

एक दिन राजकुमार आखेट करने गया। वहाँ वह एक सप्तरंगी मृगी को देखकर मोहित हो गया। मृगी पास के एक मानसरोवर में कूद गई। राजकुँवर ने अपना घोड़ा वृक्ष में बाँध, वस्त्र उतारकर सरोवर में मृगी को खोजा। पता नहीं लगने पर वृक्ष के नीचे आकर उसकी याद में विलाप करने लगा। उसके साथी उसे खोजते-खोजते उस वृक्ष के नीचे आये। राजकुमार से उसके रुदन का कारण जानकर साथियों ने भी मृगी को खोजा परन्तु असफल रहे। राजकुमार की चिट्ठी लेकर वे घर लौट गये। राजकुमार वहीं रहा।

दो प्रहर के भीतर ही राजा ससैन्य वहाँ पहुँच गया। राजकुमार ने राजा से प्रार्थना की कि उसके लिए वहीं एक महल बनवा दिया जाय। राजा ने वैसा ही किया। चित्रशाला में अनेक प्रकार के चित्र निर्मित किये गये। कुमार इसी महल में विरह में पड़ा रहता। दैवात् उसकी धाय वहाँ पहुँची। सारा वृत्तान्त जानकर कुमार को बताया कि प्रत्येक एकादशी को मृगावती यहाँ स्नान करने आती है। यदि उसी समय उसके वस्त्र चुरा ले तो वह सदा उसी के पास रहेगी।

राजकुमार ने धाय की बात मान ली। मृगावती भी राजकुमार पर आसक्त थी। वह एकादशी के दिन अपनी सखियों के साथ स्नानार्थ वहाँ पहुँची। राजकुमार धाय के बताये मंत्रानुसार वहाँ पहले से बैठा ही था। जब सभी जल में उतर गईं तो राजकुमार ने चोर चुरा लिये। सखियाँ जो पहले से ही आशंकित थीं मृगावती को छोड़ पक्षी बनकर उड़ गईं। मृगावती मानसरोवर के अन्दर वस्त्ररहित रह गई।

मृगावती की अनुनय पर भी राजकुमार ने वस्त्र नहीं दिये। उसने एक दूसरा वस्त्र लाकर दिया। फिर उससे अपने विरह की दशा कह सुनाई। भोग-विलास से पहले ही मृगावती ने कुमार से उसकी सखियों

को आने देने की और कुमार ने उससे जीवनभर प्रेम में अनुरक्त रहने की प्रतिज्ञाएँ लीं।

राजकुमार ने पिता को इसकी सूचना दी। राजा ने प्रसन्नतापूर्वक दोनों का विवाह सम्पन्न कर दिया। वे सानन्द रहने लगे। कुछ समय बाद मृगावती के पास धाय को छोड़कर राजकुमार पिता से मिलने गया। मृगावती ने चीर प्राप्त कर लिए और धाय से यह कहकर उड़ गई—'मेरे पिता का नाम रूपमुरारि और स्थान कंचनपुर है। राजकुमार ने मुझे बड़ी सरलता से पा लिया, इसलिए मेरे महत्त्व को नहीं जानता। मैं जा रही हूँ, किन्तु वह मुझसे अवश्य मिले।'

राजकुमार वापिस आया तो धाय को विलखते देखा। वह मृगावती को न देख मूर्च्छित हो गिर पड़ा। फिर योगी का वेश धारण करके खोजने चल पड़ा। मार्ग में एक राजा मिला जिसने उसके योग का कारण पूछा। उसने सारी कथा कह सुनाई। उसे दया का संचार हुआ। अतः जंगम को बुलाकर कंचननगर का मार्ग दिखाने को उसके साथ भेज दिया। उसने समुद्र के किनारे लाकर खड़ा कर दिया और कहा—यही घाट है। एक नौका पर योगी चढ़कर चला।

समद्र में तेज़ लहर से नाव लपेट में आ गई। उसी समय एक भयंकर सर्प दिखाई पड़ा। राजा ने प्राणरक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना की। उसी समय दूसरा सर्प भी आ गया और दोनों आपस में लड़ गये। नाव भी किसी प्रकार किनारे लगी। फिर उसने एक वाटिका में प्रवेश किया जहाँ उसे एक अपूर्व भवन दिखाई पड़ा। भवन के अन्दर एक राघववंशी राजा देवराय की कन्या रूपमनि थी जिसे एक वर्ष पूर्व राक्षस उठा लाया था।

प्रथम वह उसकी सेज पर जाना नहीं चाहता था परन्तु उसके अनुरोध पर वह उसकी सेज पर बैठ गया। तभी सात सिर और चौदह भुजाओं वाला राक्षस दिखाई पड़ा। रूपमनि भयभीत हुई परन्तु राजकुमार ने अपने चक्र से उस राक्षस का वध कर दिया।

रूपमनि उसकी इस वीरता पर मुग्ध हो गई। राजकुमार ने उसे अपना पता बताया। योगी होने का कारण भी बताया। उसी समय रूपमनि का पिता अपनी पुत्री की खोज में आ पहुँचा। राजकुमार की शूरता देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। राजकुमार से अपनी कन्या से

विवाह करने का प्रस्ताव रखा और आधा राज्य देने को कहा। उसने आनाकानी की, फिर मानना पड़ा। दोनों का विवाह हुआ। राजकुमार रूपमनि की सेज पर कभी नहीं सोया। वह एक दिन अवसर पाकर मृगावती की खोज में निकल गया। काफी कठिनाई के बाद उसे एक गड़रिया मिला। गड़रिये ने राजकुमार को स्थान तक न पहुँचाकर अपने कमरे में बन्द कर लिया। वहाँ और भी अनेक बंदी थे। वह प्रतिदिन एक आदमी को भूनता था और खा जाता था। एक दिन युक्ति से गड़रिये को बकरियों के साथ कुमार बाहर निकल आया।

भागकर जा रहा था कि उसे एक भवन दिखाई पड़ा जहाँ वह छिप गया। चार पक्षी आये जो स्त्रीरूप में बदल गये। उन्होंने शृंगी बजाई तो चार मोर आये जो मनुष्य बन गये। वहाँ से वह भागा। मृगावती की खोज करने लगा। एक दिन कुमार एक वृक्ष के नीचे बैठा था। उस पर बैठे एक पक्षी ने कहा—'एक कुंवर मृगावती से अनुरक्त है। उसके लिए उसने इतने कष्ट सहे हैं किन्तु अब दोनों के मिलन का समय निकट है।' इतना कहकर पक्षी उड़ गया। आगे चलकर वह कंचनपुर नगर में पहुँच गया। उसने किंगरी बजाना प्रारंभ किया, सभी लोग दौड़े आये। रानी ने इस योगी को बुला भेजा।

मृगावती ने उसे तुरन्त पहचान लिया। फिर भी संप्रभुता के मद में वह उसका परिचय पूछती है। राजकुंवर के सही-सही बतला देने पर वह तिलमिला उठती है, फिर उसे वस्त्र पहनाकर मंदिर ले जाती है और राजा बना देती है। एक दिन मृगावती बाहर गई तो राजकुंवर से कहती गई कि इस कोठरी को मत खोलना। उसने मना करने पर भी कुतूहलवश उसे खोल दिया। उसमें एक बन्दी था जो मुक्त होने पर राजकुमार को आकाश में लेकर उड़ गया और उसे मार डालने को कहा।

मृगावती वापिस आई तो वहाँ राजकुमार नहीं था। सब जगह खोजा गया। परन्तु राजकुमार उस मायावी का अन्त करके स्वयं ही लौटा।

उधर रूपमनि के दिन विरह में बीत रहे थे। एक टाडा से उसने रो-रोकर अपनी दशा राजकुमार से कह देने को कहा। दूलभ कंचनपुर पहुँचा। राजकुमार उससे मिलने आया। राजकुमार सभी समाचारों से अवगत हुआ। अपने पिता का पत्र मृगावती को सुनाया। राजकुमार ने आधा राजपाट अपने बड़े पुत्र को देकर मृगावती और छोटे पुत्र के साथ

चन्द्रगिरि के लिए प्रस्थान किया। रास्ते में वह रूपमनि से मिला। रूपमनि के पिता ने खूब स्वागत-सत्कार किया। रूपमनि को साथ लेकर वह चल पड़ा।

राजकुमार को आखेट का शौक था। एक बार एक बहेलिये ने उसे वन में एक सिंह के आने की सूचना दी। राजकुमार जंगल में जाकर सोते सिंह को जगाने लगा। सिंह ने जागकर राजकुमार को समाप्त कर दिया। मृगावती और रूपमनि सती हो गईं। नगरवासियों ने कनेराय को सिंहासन पर बैठाया।

पद्मावती अथवा पदमावत[1]—पद्मावती हिन्दी-सूफी-साहित्य के प्रसिद्ध कवि मलिक मुहम्मद जायसी की रचना है। रचनाकाल के विषय में प्राय: मतभेद रहा है। यह सन् १५४० ई० की रचना है। हिन्दी के सूफ़ी-साहित्य पर अबतक जितना भी काम हुआ है उसमें से अधिक भाग जायसी को ही मिला है। पद्मावती की 'सर्वप्रथम उल्लेखनीय चर्चा फ्रेंच लेखक गार्सां द तासी ने अपनी पुस्तक **इस्तार दल लितरेत्यूर एन्दूई ए ऐन्दुस्तानी** के द्वितीय भाग में की थी।'[2] इसका पहला सुसम्पादित संस्करण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'जायसी ग्रन्थावली' के नाम से नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित कराया। अबतक पद्मावती की टीका-व्याख्याएँ और सुसम्पादित संस्करण कई स्थानों से प्रकाशित हो चुके हैं। डा० वासुदेव-शरण अग्रवाल ने पदमावत को संजीवनी व्याख्यासहित सम्पादित किया है।[3]

सूफ़ी-साहित्य का महत्त्वपूर्ण प्रेमाख्यान जायसी की इस रचना को कहा जा सकता है। यही कारण है कि सन् १८८१ ई० से लेकर इसके अनेक संस्करण अबतक संपादित होकर प्रकाश में आये हैं :

१. नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से १८८१ ई० में प्रकाशित.
२. सं०—पं० रामजस मिश्र, चन्द्रसभा प्रेस, काशी, ई० १८८४.
३. बंगवासी फर्म द्वारा प्रकाशित, ई० १८९६.

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा 'जायसी-ग्रन्थावली' ना० प्र० सभा से प्रकाशित.
२. पं० परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्यकोश, भाग २, पृ० २९१.
३. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल; पदमावत, साहित्य सदन चिरगांव, झाँसी से प्रकाशित.

४. सं०—मौलवी अलीहसन, कानपुर से प्रकाशित.
५. दि पदुमावति आफ म० मु० जायसी, ई० १९११-१२ में ग्रियर्सन और सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित, रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल.
६. जायसी ग्रन्थावली, सं०—पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्र० सं० ई० १९२४; द्वि० सं० ई० १९३५ में ना० प्र० सभा काशी से प्रकाशित.
७. पदमावत पूर्वार्द्ध, सं०—लाला भगवानदीन, प्रका०—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, ई० १९२५.
८. संक्षिप्त पदमावत, सं०—डा० श्यामसुन्दरदास, ई० १९२६.
९. पदुमावति, श्री सूर्यकान्त शास्त्री, लाहौर, ई० १९३४.
१०. पदुमावति, दी लिंग्विस्टिक स्टडी आफ दि सिक्स्टीन्थ सेन्चुरी हिन्दी, डा० लक्ष्मीधर (केवल १०६ छन्द), लंदन, ई० १९४९.
११. जायसी ग्रन्थावली, सं०—डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग, ई० १९५१.
१२. पदमावत संजीवनी व्याख्यायुक्त, सं०—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, चिरगांव, झांसी से ई० १९५५ में प्रकाशित.[1]

यह अपनी प्रेम-परम्परा के लिए प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में ऋतुवर्णन, समुद्र-वर्णन, प्रकृतिवर्णन, युद्ध-वर्णन, विरह-वर्णन और सुस्वादु-वर्णन आदि विस्तार के साथ वर्णित हैं। इनके अतिरिक्त कथा में रहस्यवाद एवं आध्यात्मिक पक्ष तथा सूफ़ी सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है। कथा में शुक, सिंहलद्वीप, योगी, बारहमासा, स्वप्नदर्शन आदि अनेकों कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग खूब किया गया है जिनका परवर्ती प्रेमाख्यान साहित्य पर पूर्ण प्रभाव पड़ा—इसमें सन्देह नहीं। पद्मावती नाम की बहुत सी रानियों का उल्लेख साहित्य में मिलता है। परन्तु जिस पद्मावती का वर्णन जायसी ने किया है वह अद्वितीय है। कथासार इस प्रकार है :

सिंहलद्वीप के राजा गंदर्भसेन और चम्पावती की कन्या पद्मावती परमसुन्दरी थी। उसके योग्य वर नहीं मिल रहा था। पद्मावती के पास एक हीरामन तोता था जो अत्यधिक वाक्पटु और पण्डित था। एक दिन

---

१. जायसीकृत चित्ररेखा, सं०—डा० शिवसहाय पाठक के प्राक्कथन से उद्धृत, पृ० ४९-५०.

तोता पद्मावती के वर के विषय में वार्तालाप कर रहा था तो राजा ने इसे सुन लिया। राजा ने क्रुद्ध हो उसे मरवाने को कहा। इस बार वह बचा लिया गया। परन्तु भविष्य के भय की आशंका से वह उड़ गया। उड़कर जंगल में पहुँचा, वहाँ किसी बहेलिये ने उसे पकड़ लिया। तोते को बहेलिये ने ब्राह्मण के हाथों बेच दिया। ब्राह्मण ने उसे चित्तौर के राजा रतनसेन को एक लाख रुपये में बेच दिया। रतनसेन का तोते से बहुत प्रेम बढ़ गया। एक दिन राजा रतनसेन आखेट में गया हुआ था। उसकी रानी नागमती ने तोते से सगर्व पूछा—'तोते सच-सच कहो, क्या मेरे समान इस संसार में कोई अन्य सुन्दरी है?' हीरामन ने सिंहलद्वीप की राजकुमारी की प्रशंसा कर दी। अतः रानी क्रोधित हो गई और उसे अपनी चेरी से मरवाने को कहा। चेरी रानी के कहने से उसे ले गई परन्तु राजा के भय से मारा नहीं, छिपाकर रख लिया। राजा ने आखेट से लौटने पर तोते के लिए पूछा। राजा को क्रोधित होते देख चेरी ने उनके सामने तोता रख दिया।

राजा ने हीरामन से सारी बात पूछ ली। हीरामन से पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर राजा मूर्च्छित हो गया। हीरामन के वहुत समझाने पर भी राजा को धैर्य नहीं हुआ और वह सिंहलद्वीप जाने को उद्यत हुआ। हीरामन के कहने पर राजा ने योगी का वेश बनाया। राजा के साथ में १६ सहस्र राजकुमार भी यात्रा पर चले। सबका पथप्रदर्शन हीरामन तोता कर रहा था।

रतनसेन मार्ग की आपदाओं को झेलता हुआ कलिंग देश पहुँचा। कलिंग से जहाजों में बैठकर सिंहलद्वीप की ओर सोलह सहस्र योगी राजकुमारों के साथ रतनसेन चल पड़ा। सात समुद्रों को पार करके वह सिंहलद्वीप पहुँचा। हीरामन तोते ने सभी को शिवमंदिर में ठहरा दिया। रतनसेन से उसने कहा कि वसन्तपञ्चमी के दिन पद्मावती यहाँ पूजन करने आती है अतः तबतक यहीं ठहरना होगा। हीरामन पद्मावती के पास चला गया।

हीरामन ने पद्मावती से रतनसेन के विषय में सब कुछ बताया। वह उसके लिए विकल हो गई। वसन्तपञ्चमी को वह मंदिर गई और वहाँ रतनसेन को देखा। रतनसेन पद्मावती को देखते ही मूर्च्छित हो गया। वह मूर्च्छित रतनसेन के पास गई और चन्दन से उसके सीने पर

लिखकर चली आई कि तूने अभी भिक्षा के योग्य योग नहीं सीखा है, जब समय आया तो तू सो गया।

रतनसेन को जब चेत हुआ तो वह जल मरने को उद्यत हुआ। परन्तु उसके प्रेम को सच्चा जानकर शिव-पार्वती ने साक्षात् उपस्थित होकर उसे आश्वस्त किया और एक सिद्धि-गुटिका प्रदान की। इस गुटिका की शक्ति से राजा ने योगियों के साथ गढ़ में प्रवेश किया। गंधर्वसेन ने रतनसेन को पकड़कर फाँसी पर लटका देने की आज्ञा दी। एक योगी को आपत्ति में देख पार्वती और शिव भाट-दम्पति के रूप में आये और रतनसेन राजा को पद्मावती के योग्य वर कहकर गंधर्वसेन से कहा कि वह पद्मावती का विवाह इससे कर दे। गंधर्वसेन के क्रोधित होने पर योगी भी क्रोधित हो गये। किसी प्रकार गंधर्वसेन ने शिव को पहचान लिया और उनके पैरों पर गिरकर क्षमा माँगी। पद्मावती का विवाह रतनसेन से सम्पन्न हुआ।

इधर सिंहलद्वीप में रतनसेन सानन्द रहने लगा। उधर नागमती की वियोग में दुर्दशा हो रही थी। उसके वियोग से पशु-पक्षी भी व्याकुल थे। एक दिन एक पक्षी ने रानी से उसकी व्यथा सुनी और उसका संदेश लेकर सिंहलद्वीप पहुँचा। पक्षी से चित्तौड़ और नागमती का दुःख सुनकर रतनसेन बहुत दुःखित हुआ। कुछ समय बाद वह पद्मावती और अपार धनराशि को लेकर चल पड़ा।

जिन जहाजों से वे लोग आ रहे थे, समुद्र में तूफान आ जाने के कारण सब छिन्न-भिन्न हो गये। सब सम्पत्ति, मित्रादि समुद्र के गर्भ में समाहित हो गये। पद्मावती बहकर समुद्र की कन्या लक्ष्मी के पास पहुंच गई। लक्ष्मी ने जब पद्मावती की कथा सुनी तो उसने अपने पिता से सभी को खोज लाने की प्रार्थना की। समुद्र ने सबको मिला दिया। वे सभी चित्तौड़ वापिस आ गये। नागमती पति को पाकर अति प्रसन्न हुई।

राजा रतनसेन के दरबार में राघवचेतन नामक एक पंडित था। उसने एक बार यक्षिणी की सिद्धि से राजा को गलत तिथि में द्वितीया बताकर सिद्ध कर दिया। बाद में भेद खुलने पर राजा ने उसे देश-निकाला दे दिया। उसने पद्मावती को देखा और उस पर मुग्ध हो गया। बाद में धन पाने की लालसा से उसने अलाउद्दीन के समीप जाकर पद्मावती के रूप की प्रशंसा की।

अलाउद्दीन ने पद्मावती को पाने की इच्छा से एक दूत चित्तौड़ भेजा। रतनसेन ने साफ़ मना कर दिया। अलाउद्दीन सेना लेकर आ धमका। आठ वर्ष तक वह गढ़ को न जीत सका। अन्त में उसने एक चाल चली। उसने सन्धिपत्र लिखकर गढ़ में प्रवेश किया। वहाँ दर्पण में पद्मावती के रूप को देखकर वह मूच्छित हो गया। पुनः राजा जब उसे गढ़-द्वार तक छोड़ने आया तो उसने उसे बन्दी वना लिया। वह राजा को दिल्ली ले गया और जेल में डाल दिया।

सभी रानियाँ दुःखी थीं। राजा देवपाल ने अवसर देखकर पद्मावती के पास दूतियों द्वारा घृणित प्रस्ताव भेजा, जिसमें वह असफल रहा। पद्मावती ने गोरा-बादल से मिलकर एक युक्ति सोची। उसने सोलह सौ पालकियों को सजवाकर उनमें राजपूतों को सवार करा दिया। पालकी उठाने वाले भी राजपूत ही थे। वह दिल्ली पहुँची। बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ। रानी की प्रार्थना पर उसने राजा रतनसेन के बंधन काट दिये। उसे बादल और कुछ वीरों के साथ चितौड़ भेज दिया गया। उधर गोरा ने वीरता के साथ अलाउद्दीन की सेना का सामना किया। परन्तु सभी मारे गये।

चित्तौड़ आने पर जब रतनसेन ने देवपाल का घृणित कार्य सुना तो उसने देवपाल पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में देवपाल और रतनसेन दोनों ही मारे गये। नागमती और पद्मावती दोनों ही अपने पति के साथ सती हो गईं। तदनन्तर अलाउद्दीन अपनी सेना के साथ चित्तौड़ पर चढ़ आया। बादल ने उसका सामना किया परन्तु उसके साथ समस्त राजपूत काम आ गये। स्त्रियों ने भी आत्मदाह कर लिया। अलाउद्दीन ने जब गढ़ में प्रवेश किया तो सर्वत्र उसे राख की ढेरियाँ ही दिखाई पड़ीं।

चित्ररेखा[1]—पदमावत के रचयिता जायसी की ही यह रचना है। चित्ररेखा भी एक प्रेम-कथा है। विषय की दृष्टि से यह एक छोटी रचना है। प्रारम्भ में कवि पदमावत की शैली में ही जगत् के सर्जनहार की स्तुति करता है। इसके बाद मुहम्मद साहब, चार यार, पैगम्बर आदि

---

१. जायसीकृत चित्ररेखा, सं०—शिवसहाय पाठक, प्रका०—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, ई० १९५९.

का बखान कर अपनी लघुता का प्रदर्शन करता है। इसके बाद कथा चलती है, जो इस प्रकार है :

गोमती नदी के तट पर चन्द्रपुर नामक एक रमणीक नगर था। वहाँ का राजा चन्द्रभानु था। नगर के सभी मंदिर मुक्ता-माणिकों से जड़े थे। वहाँ की स्त्रियाँ स्वर्ग की अप्सराओं के सामान थीं। राजा की अतीव सुन्दरी ७०० रानियाँ थीं। महिषी का नाम रूपरेखा था। उसके गर्भ से एक सुन्दर कन्या उत्पन्न हुई। ज्योतिषियों ने उसका नाम चित्ररेखा रखा और उसे चन्द्रमा के समान, पर निष्कलंक बताया। रूप, गुण और शील में उसके समान अन्य कोई भी नहीं होगा, यह कन्नौज की रानी होगी—आदि अनेक भविष्यवाणियाँ की गईं। धीरे-धीरे चाँद की कला के समान वह बढ़ती गई। दसवें वर्ष के आते-आते उसका बदन पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसा प्रकाशित हुआ। उसके केश भ्रमर, सर्प और शेषनाग जैसे काले हो गये। उस गौरांगी की ज्योति शरद् की पूर्णिमा जैसी थी। नेत्र खंजन के समान थे। भौंहें धनुष और बरौनी वाणों के समान तथा पलकें तलवार के समान हो गई थीं।

जब वह सयानी हुई तो राजा चन्द्रभानु ने ब्राह्मणों को वर की खोज में भेजा। ब्राह्मणों ने सैकड़ों स्थानों पर वर को देखा परन्तु उपयुक्त वर कहीं नहीं मिला। अन्त में वे सिंहल के राजा सिंघनदेव के यहाँ आये। सिंघनदेव के एक लड़का था जोकि कुबड़ा था। ब्राह्मण परेशान हो चुके थे अतः उन लोगों ने अच्छा राजपाट देखकर वहीं 'वरच्छा' दे दिया। उन लोगों ने निश्चय कर लिया कि विवाह के समय दूसरा वर दिखा देंगे और विवाह होने के बाद देखा जायेगा। पुरोहितों ने स्वस्तिपाठ के साथ कुबड़े को टीका लगा दिया। लग्न निर्धारित किया गया तो ज्योतिषियों ने राहु और चन्द्रमा का योग बताया और कहा कि यह विवाह नहीं होगा।

इधर कन्नौज नगर के राजा कल्याणसिंह थे। उनके पास अपार सेना, धन-सम्पत्ति थी। परन्तु पुत्र के अभाव से अत्यधिक दुःखी थे। उन्होंने घोर तप किया, जिसके फलस्वरूप उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। पण्डित और सामुद्रिक ज्योतिषी आदि पधारे। उन्होंने कुमार को बत्तीस लक्षणों से युक्त, भाग्यवान् और सब प्रकार से उत्तम बतलाया। कुमार का

नाम प्रीतम कुँवर रखा गया। पण्डितों ने कुँवर को अल्पायु बतलाया। कुमार अपनी अवस्थानुसार बढ़ने लगा। दस वर्ष की अवस्था में ही कुमार ने अपनी सेना एकत्रित करके शत्रु पर चढ़ाई कर दी। पिता कल्याणसिंह ने पुत्र की योग्यता पर प्रसन्न होकर सब राजपाट का भार पुत्र को ही सौंप दिया। राजकुमार की योग्यता से उसके माता-पिता को इतना हर्षातिरेक हुआ कि वे कुँवर का व्याह रचाना भी भूल गये। पण्डितों की बताई गई आयु में सिर्फ ढाई दिन जब शेष रह गये तब सभी करुण क्रन्दन करने लगे। उन्हें पश्चात्ताप हुआ कि पुत्र का विवाह भी नहीं किया और वंश का सूर्य अस्त होने लगा।

प्रीतम कुँवर ने माता-पिता को समझाया तथा घोड़े पर सवार होकर काशी की ओर मुक्ति पाने के लिए प्रस्थान किया। उसके प्रस्थान करते ही कन्नौज नगर उजाड़ हो गया। माता-पिता की दशा शोचनीय हो गई।

चन्द्रपुर नगर में चित्ररेखा के विवाह की तैयारी हो रही थी। उस नगर के समीप पहुँचते-पहुँचते धूप के कारण कुँवर ने एक वृक्ष की छाया में विश्राम किया। काल के भय से उसे नींद आ गई। सिंघलदेव उसी राह से अपने कुबड़े बेटे का विवाह करने आ रहा था। संयोगवश वह भी उसी छाया में विश्राम करने के लिए रुका जहाँ कि पहले से ही प्रीतम-सिंह विश्राम कर रहा था। सिंघनदेव देखते ही समझ गया कि प्रीतमसिंह किसी राजा का पुत्र है। उसके रूप को देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और वहीं समीप में बैठकर उसको पंखे से हवा करने लगा। इतने में प्रीतमसिंह चौंककर उठ गया। जब वह चलने लगा तो सिंघनदेव ने उसके पैर पकड़ लिये और उसकी जाति-कुल तथा उदासी का कारण पूछा। उसकी बातें सुनकर सिंघनदेव ने अपनी समस्या बताई और आग्रह किया कि मेरे कुबड़े बेटे के स्थान पर तुम आज रात विवाह कर लो, कल काशी चले जाना।

सिंघनदेव ने उसे बीड़ा दिया। प्रीतमसिंह को वर के वेश में लाया गया। वह अपने मन में काशी जाने को बात सोच रहा था। राजा चन्द्रभानु के अगवानी करने वाले लोगों ने जब दूल्हे को देखा तो वे सब प्रसन्न हुए। बारात धूम-धाम से चन्द्रभानु के द्वार पर पहुँची। सखियों ने बारात और दूल्हे को देखकर चित्ररेखा से बड़ी-बड़ी बातें

'कहीं। विवाह सम्पन्न हुआ। सात खण्ड के धौरहरे में उन दोनों को सुलाया गया।

प्रीतम कुँवर को अपने स्वर्गारोहण की चिन्ता लगी थी। अतः वह दुलहिन की ओर पीठ करके चुपचाप चिन्ता में निमग्न रहा। कुमारी सो गई। जब पिछला पहर हुआ तब राजकुमार ने उस राजकुमारी के अंचल-पट पर लिखा—'मैं कन्नौज के राजा का बेटा हूँ। जो विधाता ने लिख दिया है वह मिटाया नहीं जा सकता। मेरी आयु मात्र बीस वर्ष की थी। वह पूर्ण हो गई। कल दोपहर के पूर्व मैं काशी में मोक्ष प्राप्त करूँगा। तुम्हारे लिए यह झंखना हुआ और मुझे यह दोष लगा।' इतना लिखकर प्रीतम कुँवर घोड़े पर सवार हो काशी की ओर चल पड़ा।

प्रातःकाल जब सखियाँ चित्ररेखा के समीप गईं तो देखा कि वह सोई हुई है। उसके सभी साज-सिंगार अछूते हैं। सखियों ने कुमारी को जगाया और उसके कांत के विषय में पूछा कि वह किधर है? तुम्हारे अंग अनालिंगित ही लगते हैं, इसका क्या कारण है? सखियों के बार-बार पूछे जाने पर चित्ररेखा ने कहा—'मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं। मुझे तो उनके दर्शन भी न हुए। केवल 'पीठ' मिली। मैंने तो उनके रूप को भी नहीं देखा।' अचानक उसकी दृष्टि अपने अंचल पर पड़ी। उसने वह लिखा हुआ पढ़कर सब बातें जान लीं और स्वयं भी चिता में जलने का निश्चय किया। इसके बाद उसने अपना सिंधोरा निकाला। सिंदूर लगाकर अंचल की गाँठ को हृदय से लगाकर उसने कहा कि यह गाँठ प्रीतम ने लगाई है अतः इसी के साथ मैं स्वर्ग जाऊँगी। वहीं उनसे मिलूँगी।

प्रीतम कुँवर ने काशी पहुँच कर मरने की तैयारी की। उसने दान देना प्रारम्भ किया। दान लेने वालों में महर्षि व्यास जी भी खड़े हो गये। कुंवर ने व्यास जी को भी मुट्ठी भर कर कहा—'गुसाईं! आप भी लीजिये।' और दान दिया। व्यास जी के मुख से निकल पड़ा—'चिरंजीव होओ'। राजकुमार ने आश्चर्य प्रकट किया। तब व्यास जी ने समझा। फिर भी व्यास जी ने अपना आशीर्वाद ब्रह्मा की ओर से ही बताया। कुमार की आयु की अवधि बढ़ गई। राजकुंवर ने व्यास जी के चरणों में प्रणाम किया। उसे चित्ररेखा की याद हो आई और वह वहाँ से तुरन्त घोड़े पर चढ़कर चल पड़ा।

इधर चित्ररेखा चिता में जलने को उद्यत थी। ठीक उसी समय उसे प्रीतम कुंवर दिखाई पड़े। उसने लज्जावश अपना सिर ढक लिया और चिता से उतर राजमन्दिर में चली गई। सखियों ने पुनः उसे सजाया। चारों ओर आनन्द-सा छा गया। जायसी ने 'प्रेम' की प्रसिद्ध गाथा से कथानक को अन्तिम रूप दिया :

कोटिक पोथी पढ़ि मरे, पण्डित भा नहिं कोइ।
एकै अच्छर पेम का, पढ़े सो पण्डित होइ॥

मधुमालती[1]—मधुमालती नाम की कथा एक प्रख्यात कथा रही है। इस नाम की रचना का उल्लेख हमें जायसी के पदमावत, उसमानकृत चित्रावली और बनारसीदास के अर्द्ध-कथानक आदि में मिलता है। अब यह अलग प्रश्न है कि वह मंझनकृत मधुमालती थी अथवा कोई अन्य। अस्तु, मंझनकृत मधुमालती जायसी के बाद की रचना है। इसका रचना-काल सन् १५४५ है। जायसी ने जिस मधुमालती का उल्लेख किया है वह कोई दूसरी रचना रही होगी। इसकी कथा पूर्ण काल्पनिक है। अन्य प्रेमाख्यानकों की भाँति इसमें भी अन्तरकथाएँ, बारहमासे आदि का वर्णन किया गया है। रचना की कहानी बड़ी रोचक है। अप्सराओं का मनोहर को ले जाना, योगी का वेश, नौका का टूटना आदि अनेक कथानक-अभिप्रायों का भी प्रयोग मिलता है। कथा इस प्रकार है :

कनैगिरिगढ़ नामक सुन्दर नगर में सूरजभान राजा राज्य करता था। उसके कोई सन्तान नहीं थी। इसी बीच कोई तपस्वी वहाँ आया। राजा ने तपस्वी की बारह वर्ष सेवा की। फलतः राजा को पुत्रोत्पत्ति हुई। ज्योतिषियों ने लग्न विचारकर उसका नाम मनोहर रखा। इसको चौदह वर्ष ग्यारह महीने का होने पर प्रेम-वियोग होगा और एक वर्ष तक भटकेगा। पाँचवें वर्ष में उसने विद्या आरम्भ की। बारह वर्ष में समस्त विद्याओं में पारंगत हुआ। राजकुमार जब बारह वर्ष का हुआ तो राजा ने उसका राजतिलक कर दिया और स्वयं तपस्या को चला गया।

---

१. (क) डा० शिवगोपाल मिश्र द्वारा सम्पादित, हिन्दी प्रचारक, वाराणसी, ई० १९५७.
(ख) डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, ई० १९६१.

मनोहर को संगीत से बड़ा प्रेम था। एक दिन कुछ परदेशी नृत्य करने वाले आये। मनोहर बारह बजे तक नृत्य देखता रहा। जब वह गाढ़ निद्रा में सो गया तो अप्सराएँ उसके रूप को देखकर उसके अनुकूल कन्या राजकुमारी मधुमालती के पास उसे शय्यासहित महासरनगर उठा ले गईं। मधुमालती शयन कर रही थी। उसी की शय्या के पास इसकी शय्या डाल दोनों के रूप निखरने लगीं। बाद में अप्सराओं के चले जाने पर दोनों की नींद खुली। वे दोनों एक-दूसरे पर मोहित हो गये। दोनों अपना-अपना प्रेम एक-दूसरे पर प्रकट करते हैं और एक-दूसरे का परिचय प्राप्त करते हैं। कुमार की प्रेमवार्ता सुन मालती को अपने पूर्वजन्म की बात स्मरण हो आई। दोनों बातें करते-करते एक ही सेज पर सो जाते हैं। अप्सराएँ मनोहर को उसके घर पहुँचा देती हैं। इधर सखियों ने मधुमालती की दशा देखी तो सब समझ गईं। मधुमालती ने भी उनसे कुछ छिपाया नहीं। मनोहर और मधुमालती एक-दूसरे के वियोग से व्याकुल रहने लगते हैं। मनोहर अपनी धाय से अपने प्रेम की बात बतलाता है। बाद में किसी की बात न मानकर वह योगी के वेश में मधुमालती की खोज में चल पड़ता है। वह समुद्र में नौका द्वारा यात्रा करता है। तूफान आने से नौका टूट जाती है। सभी साथी बिछुड़ जाते हैं। एक लकड़ी के तख्ते पर बैठकर मनोहर एक जंगल के किनारे पर पहुँचता है।

जंगल में एक सेज पर उसे एक सुन्दर युवती दिखाई दी। राजकुमार के पूछने पर वह अपना नाम प्रेमा बतलाती है। चित्रविश्रामपुर के राजा चित्रसेन की वह कन्या है। वह बतलाती है कि एक बार वह अपनी सखियों के साथ खेल रही थी कि एक राक्षस उसे उठा लाया। जंगल में एक वर्ष से उसने किसी मनुष्य को नहीं देखा। प्रेमा की कहानी से मनोहर को यह भी पता चलता है कि मधुमालती उसके बचपन की सखी है। प्रेमा के दिये हुए अस्त्र से मनोहर राक्षस को मारता है। प्रेमा को साथ ले वह चित्रविश्रामपुर पहुँच जाता है। उसके पिता मनोहर का स्वागत करते हैं। एक विशेष तिथि को मधुमालती अपनी मां के साथ प्रेमा के घर आया करती थी। मधुमालती इस बार प्रेमा के प्रयत्न से मनोहर से मिलती है। मधुमालती की मां को पता चल जाता है तो वह उसे शाप

दे डालती है। शाप के कारण मधुमालती पक्षी बनकर उड़ जाती है। पक्षी के रूप में उड़ती हुई वह मानगढ़ के कुंवर ताराचन्द को देखती है। ताराचन्द को वह अपनी कहानी बतलाती है। ताराचन्द मनोहर से उसे मिला देने की प्रतिज्ञा करता है। उसे पिंजड़े में साथ लेकर ताराचन्द अपने साथियों के साथ महासरनगर पहुँचता है। मधुमालती के माता-पिता को जब यह पता लगता है तो वे उसे शापमुक्त करते हैं। ताराचंद से मधुमालती के विवाह का उन लोगों ने प्रस्ताव किया तो ताराचन्द मधुमालती को अपनी बहन बता देता है। मधुमालती की मां सब समाचार प्रेमा के पास पहुँचाती है। अपनी मां से छिपाकर अपनी एक वर्ष की पक्षीरूप की व्यथा को लिखकर प्रेमा के पास भेजती है। यह सब वर्णन बारहमासे के रूप में है। संयोग से इसी समय मनोहर योगी के वेश में प्रेमा के नगर में पहुँचता है। प्रेमा और मनोहर का संदेश पाकर मधुमालती के माता-पिता उसे साथ ले प्रेमा के नगर पहुँचते हैं। मनोहर और मधुमालती का विवाह होता है। प्रेमा और ताराचन्द का विवाह हो जाता है। कुछ दिन वहाँ रहने के बाद दोनों दम्पति अपने-अपने घरों को लौट जाते हैं।

अन्त में मंझन लिखते हैं कि प्रेम की शरण में जाकर ही कोई काल की चपेट से बच सकता है। प्रेम की शरण-शाला ऐसा स्थान है जहाँ अमृत शोभित होता है और जब तक काव्य-शरीर बना रहता है, प्रेमी का नाम भी इस संसार में बना रहता है।

चित्रावली[1]—कवि उसमानकृत चित्रावली का रचनाकाल सन् १६१३ है। अन्य सूफ़ी प्रेमाख्यानकों की भाँति ही कवि ने घटनाओं का विस्तृत वर्णन किया है। यौगिक क्रियाएँ, जैसे—लुक अंजन लगाकर गायब हो जाना आदि का भी प्रयोग किया है। आश्चर्य तत्त्वों की भी कवि ने योजना की है, जैसे—देव का राजकुमार सुजान को लेकर चित्रसेन के राज्य रूपनगर उड़ जाना और पुनः उसे सुबह तक लाकर मढ़ी में सुला देना। कुछ आश्चर्यजनक घटनाएँ भी हैं, जैसे—अजगर सुजान को निगल जाता है। परन्तु सुजान को विरहज्वाला थी, इससे अजगर का पेट जलने लगा

१. चित्रावली, सम्पा०—जगमोहन वर्मा, प्र०—ना० प्र० सभा, काशी.

और उसने सुजान को उगल दिया। ऐसे कार्यों से कथा रोचक बन पड़ी है। कथा इस प्रकार है :

नेपाल के राजा धरनीधर निःसन्तान थे। शिव से याचना करने पर उन्हें सुजान नामक पुत्र पैदा हुआ। उसने कुछ काल में ही सब विद्याएँ सीख लीं। उसे मृगया का वहुत शौक था। एक दिन सदल-वल वह आखेट से लौट रहा था। आँधी आ जाने से वह मार्ग भूल गया और एक देव की मढ़ी में जाकर सो गया। वह देव अपने दूसरे देव मित्र के साथ रूपनगर को राजकुमारी चित्रावली की वर्षगांठ का महोत्सव देखने गया। सोये हुए सुजान को भी वह अपने साथ लेता गया। देवों ने राजकुमार को चित्रसारी में सुला दिया। जागने पर चित्रसारी में चित्रावली के चित्र को देखकर वह उस पर मोहित हो गया। उसने वहाँ रखे हुए रंग और तूलिका से अपना चित्र बनाया और उसे राजकुमारी के चित्र के बराबर टांग कर सो गया। देव लौटते समय उसे लेते गये। प्रातः जागने पर रात की घटना से वह विकल हो गया। इसी समय उसे खोजते-खोजते कुछ लोग वहाँ आये और उसे लिवाकर चले गये।

चित्रावली का वियोग राजकुमार को असह्य हो गया। उसके मित्र सुबुद्धि ने एक युक्ति बताई। उसी के अनुसार दोनों मित्र उसी मढ़ी में रहने लगे और दानसत्र खोल कर चलाने लगे। उधर चित्रावली ने जब राजकुमार का चित्र देखा तो वह भी विरह में विकल हो गई। एक कुटीचर ने राजकुमार के चित्र की सूचना रानी को दे दी। रानी ने इस चित्र को धुलवा दिया। इधर एक नपुंसक भृत्य राजकुमार को रूपनगर ले गया। वहाँ शिवमंदिर में चित्रावली और राजकुमार ने एक-दूसरे को देखा। जो कुटीचर चित्रावली ने निकाल दिया था उसने राजकुमार को अंधा कर दिया और उसे गुफा में छोड़ दिया। वहाँ उसे एक अजगर निगल गया। परन्तु उसकी विरहाग्नि से दग्ध हो अजगर ने उसे उगल दिया। एक वनमानुष ने उसे अंजन दिया जिससे उसे दिखाई देने लगा। थोड़ी देर बाद उसे एक जंगली हाथी ने पकड़ लिया। परन्तु एक बृहद् पक्षी उसे आकाश में ले उड़ा जिससे हाथी ने उसे छोड़ दिया और वह एक समुद्र में गिर गया। वहाँ से निकलकर वह सागरगढ़ पहुँचा और कंवलावती की पुष्प-वाटिका में विश्राम करने लगा। वहाँ राजकुमारी उसे

देखकर मोहित हो गई। घर पहुँचकर उसने उसे भोजन पर बुलाया और हार की चोरी लगाकर उसे बन्दी बना लिया।

कंवलावती के सौन्दर्य पर मुग्ध हो सोहिल नाम के राजा ने सागर-गढ़ पर आक्रमण कर दिया। सुजान ने अपने पराक्रम से उसे परास्त कर दिया। उसने कंवलावती से परिणय कर लिया। परन्तु यह निश्चय किया कि चित्रावली के मिलने तक वह संयम से रहेगा। वह राजकुमारी के साथ गिरनार-यात्रा पर निकला। संयोग से चित्रावली ने जो योगी भेजा था वह भी गिरनार पहुंचा। राजकुमार का संदेश लेकर वह चित्रावली के पास लौट गया। पुनः योगी के वेश में वह राजकुमारी का एक पत्र लेकर सागरगढ़ आया और राजकुमार को अपने साथ रूपनगर ले गया। कथक द्वारा सोहिल के युद्ध की गाथा सुनकर राजा को चित्रावली के विवाह की चिन्ता हुई। उसने चारों दिशाओं में राजकुमारों के चित्र लाने को चार चित्रकार भेज दिये। सुजान के पास जो दूत राजकुमारी ने भेजा उसकी सूचना रानी को मिल गई। वह सुजान को रास्ते में बैठाकर नगर में आ रहा था कि बन्दी बना लिया गया। इससे विलम्ब हुआ और राजकुमार पागल की तरह चित्रावली का नाम ले-लेकर पुकारने लगा। राजा ने उसका वध करने को एक हाथी भेजा जिसे उसने मार डाला। राजा स्वयं उसे मारने को उद्यत हुआ कि चित्रकार ने सुजान का चित्र दिया और बताया कि इसी ने सोहिल को मारा था। राजा ने चित्र से राजकुमार को पहचाना और उसे अपने महल में ले आया। चित्रावली का पाणिग्रहण उसके साथ हुआ।

सागरगढ़ से सुजान के जाने के बाद कंवलावती दुःखी रहने लगी। उसने हंसमित्र को दूत बनाकर रूपनगर भेजा। उसने भ्रमर की अन्योक्ति से राजकुमार को सूचना दी। उसे कंवलावती का स्मरण आ गया और वह चित्रावली को लेकर सागरगढ़ आया। वहाँ से कंवलावती को लेकर वह समुद्री मार्ग से नौका द्वारा नेपाल की ओर रवाना हुआ। समुद्र में तूफ़ान आने से नौका टूट गई। किसी प्रकार कठिनाइयों को पार करके वह नेपाल पहुँचा। वहाँ राजा ने उसे सारा राजपाट सौंप दिया। उसने दोनों रानियों के साथ बहुत समय तक राज्य किया।

प्रेमाख्यानकों में संकेतित प्रेमाख्यान

उक्त प्रेमाख्यानक काव्यों में से कतिपय ऐसे भी आख्यानक काव्य हैं जिनमें कथा-परम्परा का उल्लेख किया गया है। जायसी ने अपनी रचना पद्मावती में कुछ कथाओं का उल्लेख किया है :

विक्रम धंसा प्रेम के बारा। सपनावति गएउ पातारा॥
मधु पाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुंवर कंचनपुर गएऊ। मिरगावति कहं जोगी भयऊ॥
साध कुंवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहुँ सुरसर साधा। उषा लगि अनिरुध वर बाँधा॥[1]

जायसी की उक्त सूची से यह तो निश्चितप्राय है कि उनके ग्रन्थरचना-काल में (१) स्वप्नावती, (२) मुग्धावती, (३) मृगावती, (४) मधुमालती, (५) प्रेमावती और (६) उषा-अनिरुद्ध की कथाएँ लिखी जा चुकी थीं।

१७वीं शताब्दी के कवि बनारसीदास ने अपने आत्मचरित में इस आशय की सूचना दी है :

तब घर में बैठे रहें जाहिं न हाट बाजार।
मधुमालती मिरगावती पोथी दोइ उदार॥
ते बांचहि रजनी समे आवहि नर दस बीस।
गावैं अरु बातें करहिं नित उठि देहिं असीस॥[2]

इस प्रकार इन्होंने दो पोथियों का उल्लेख किया है।

उसमान ने अपने काव्य चित्रावली में मिरगावती, पदमावती और मधुमालती इन तीन का वर्णन किया है :

मृगावती मुख रूप बसेरा। राजकुंवर भयो प्रेम अहेरा॥
सिंहल पदुमावति मोरूपा। प्रेम कियो है चितउर भूपा।
मधुमालति होइ रूप देखावा। प्रेम मनोहर होइ तहं आवा॥[3]

इसके बाद रसरतनकार ने भी कतिपय प्रेमकथाओं का उल्लेख किया है :

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १००.
२. बनारसीदास, अर्ध-कथानक, सं०—नाथूराम प्रेमो, हिं० ग्र० र० बम्बई, ई० १९५७.
३. उसमानकृत चित्रावली, सं०—जगमोहन वर्मा, पृ० १३.

दमयन्ती–नल प्रीति कहानी, भाषति सरस मधुर मुख बानी।
बहुत आनन्द प्रेम गुन गावै, एक-एक अच्छर समुझावै॥
माधव काम को कीर्ति बखानो, जिहि सुनि मन बिसरावै रानी।
उषा कथा जबै अनुसारी, तव चितई भरि नैन कुमारी॥[1]
चित्ररेख अनुरुद्ध कों लाई, जब ऊषा मनमथ्थ सताई।
मधुमालति सों कुँवर मिलावा, सो कविता गुन गाननि गावा॥[2]
(चंपा० ७८)

चित्रित सकल प्रेमरस प्रीती, माधौ कामकन्दला रीति।
अग्निमित्र यौरावत धाता, भरतरि प्रेम पिंगला राता॥
(स्वयं० २३३-३४)

इन विभिन्न प्रेमाख्यानकों की उल्लिखित कथाओं में से मात्र दो मृगावती और मधुमालती की ही उपलब्धि हुई है। शेष उल्लिखित कथाएं हिन्दी में प्राप्त नहीं हैं। इन कथाओं के विषय में पीछे लिखा गया है।

कथाकाव्यों के शिल्पगत विकास की दृष्टि से उन पर विचार करने के बाद पता चलता है कि लगभग सभी प्रेमाख्यानों ने अपने पूर्ववर्ती प्रेमाख्यानों के पथ का अनुगमन किया है। कथाविन्यास, चरित्र, कथोद्देश्य, वस्तुवर्णन, नगरवर्णन, हाटवर्णन, सरोवर-वर्णन, युद्ध-सामग्रीवर्णन और प्रसाधन-सामग्री-वर्णन आदि में प्रायः एक जैसी वर्णन-परिपाटियाँ देखने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए शायद ही कोई प्रेमाख्यानक ऐसा हो जिसके नायक-नायिका के माता-पिता को सन्तान न होने का दुःख न रहा हो। बाद में शिव-पार्वतीस्तुति अथवा योगी आदि की इष्टसिद्धि से संतान को प्राप्ति और उस सन्तान के भविष्य की ज्योतिषियों द्वारा घोषणा। भविष्य की घोषणा में प्रायः प्रेम-विरह को घटना का समावेश, किसी दैवी सहायता का होना आदि बातें आवश्यक रूप से मिलेंगी। इन उदाहरणों को खोजने के लिए किन्हीं विशिष्ट काव्यों का नामोल्लेख करना इसलिए आवश्यक नहीं है कि यह तथ्य सभी प्रेमाख्यानकों (अपवाद-स्वरूप एक-दो को छोड़कर) की थाती है।

---

१. पुहकरकृत रसरतन, सं०—डा० शिवप्रसाद सिंह, पृ० १३८.
२. वही, पृ० १९१.

प्रेमाख्यानकों में एक बात और देखने को मिलती है वह है नायक का योगीवेश धारण करना। जैसे—छिताईवार्ता में सोरंसो योगी बनता है, चन्दायन का नायक लोरक, पदमावत में रतनसेन, मधुमालती में मनोहर, चित्रावली में सुजान और मृगावती का नायक ये सभी अपनी प्रेमिकाओं की प्राप्ति के लिए योगी बनते हैं। पुहकर, नारायणदास, दाऊद, कुतुबन, मंझन और उसमान आदि सभी ने नायिकाओं का शिख-नख वर्णन किया है, जिसमें केश, ललाट, भृकुटि, नासिका, नयन, कपोल, अधर, दंतपंक्ति, कर्ण, ग्रीवा, वक्षस्थल, कुच, कटि ,नितम्ब आदि सभी का विशद वर्णन है। नायिका के विरह-वर्णन को चमत्कारिक और गंभीर करने के लिए सभी ने षड्ऋतुओं या बारहमासे की पद्धति अपनाई है। विरहिणी नायिका अपना सन्देश किसी पक्षी द्वारा (जैसे—नागमती के विरह का संदेश सिंहल लेकर एक पक्षी जाता है) अथवा शुक द्वारा अथवा बनजारों की टोली आदि से नायक के पास भेजती है। उस संदेश की उपेक्षा कोई भी नायक नहीं करता। किन्हीं-किन्हीं कथाओं के कथानकों में अथवा कथानक-अभिप्रायों में काफी साम्य भी देखा गया है। इन सबसे यह प्रमाणित हो जाता है कि हिन्दी प्रेमाख्यानक अपने पूर्ववर्ती साहित्य के विकसित रूप हैं।



अध्याय ३

हिन्दी प्रेमाख्यानकों का शिल्प

'शिल्प' कला का अविभाज्य अंग है जो कलाकार की अमूर्त भावना को साकार रूप प्रदान करता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से मैंने शिल्प-विषय की जानकारी के लिए अपनी जिज्ञासा प्रकट की तो उन्होंने बताया कि शिल्प एक ऐसा प्राणतत्त्व है जिसे तथाकथित वस्तु से अलग करके नहीं देखा जा सकता। मतलब यह कि जिस वस्तुविषय का शिल्प है, यदि वह उस वस्तुविषय से पृथक् कर दिया जाय तो पूर्वोक्त वस्तु या विषय निष्प्राण हो जाएगा। यों तो कला में शिल्प का विकास सैद्धान्तिक पक्ष से पृथक् माना जा सकता है, परन्तु व्यवहार में उसे अभिव्यक्ति से पृथक् नहीं किया जा सकता। माध्यम के उपयोग की महत्ता पर अधिक जोर दिया जा सकता है, उसे कलात्मक कथ्य के स्वरूप से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार जहाँ कला-वैशिष्ट्य का सैद्धान्तिक अध्ययन हो सकता है वहाँ 'अच्छी तकनीक' या शिल्प की परिभाषा 'वह योग्यता' होगी जो पूर्व निर्धारित अभिव्यक्त प्रभाव की प्राप्ति के लिए किसी माध्यम में प्रयोग की गई हो।[1]

---

1. The development of technique in the arts is theoretically, but not practically separable from the development of expression. While facility in the use of a medium may be stressed in education and developed by practice, it can never be completely divorced from the character of an artistic statement. Thus while virtuousity may be theoretical studies, "good technique" must be defined in practice as the ability to employ a medium adequately to achieve a predetermined expressive effect.

   Encyclopaedia of the Arts, p. 999, edited by Dagobert Runes and H. G. Schrickles, Peter Owen, London, 1965.

एक साधारण-सा उदाहरण लेकर इस कथन को स्पष्ट किया जा सकता है—बढ़ई जब एक कुर्सी बनाता है तब उसके मस्तिष्क में कुर्सी का पूर्व-निर्धारित ढाँचा (स्ट्रक्चर) रहता है और उसी के अनुसार वह काष्ठ की पट्टियों को छीलकर उन्हें ढाँचे के अनुसार जोड़ देता है। निर्मित कुर्सी के आकार में निर्माता ने जो शिल्प गढ़ा है उसे कुर्सी से अलग नहीं किया जा सकता। हाँ, कुर्सी के ढाँचे को अलबत्ता अलगाया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार रचनाकार, कलाकार और कथाकार अपनी-अपनी अनुभूतियों से अपनी कृतियों की तो रचना करता ही है, शिल्प और विधा की भी सर्जना करता है। टाल्स्टाय का कथन है—'प्रत्येक महान् कलाकार आवश्यक रूप से अपनी विधा (फार्म) का भी निर्माता होता है।'[1] 'फार्म' अथवा विधा का स्वरूप कैसा है? यह एक अलग प्रश्न है। रचनाकार, कलाकार या कथाकार अपने 'फार्म' का निर्माता तो होता है परन्तु 'फार्म' का सुगठन एवं उसकी सुडौलता आदि आवश्यक गुण निर्माता की क्षमता और व्यक्तित्व पर निर्भर करते हैं। यही कारण है कि 'फार्म' परम्परा (ट्रेडीशन) से जुड़ा नहीं रहता, वह पीढ़ी दर पीढ़ी बदलता रहता है।'[2] कलाकार सदैव नये शिल्प की तलाश में रहते हैं और उनका यह प्रयत्न तबतक चलता रहेगा जबतक कि वे अपने कार्य से सन्तुष्ट नहीं हो जाते।[3] स्टीवेन्सन के मत से भी 'सच्चा कलाकार प्रत्येक नये विषय के साथ अपने ढंग (मेथड) को अलगाता जायगा।'[4] यही नहीं, उपन्यासों की शिल्प-विधि के सम्बन्ध में स्काट जेम्स ने जो मत व्यक्त किया है उसे यहाँ उद्धृत किया जा सकता है। स्काट जेम्स का मत है कि साधनापूर्वक लिखा प्रत्येक उपन्यास शिल्प-शैली में अपनी पृथक् समस्या उपस्थित करता है।[5] प्रत्येक उपन्यास जो उपन्यास कहलाने के योग्य

1. "That every great artist necessarily creates his own form also."—Novelist on the Novels, p. 265.
2. "Form is not tradition. It alters from generation to generation."—E. M. Forster, Two Cheers for Democracy, p. 103.
3. "Artists always seek a new technique and will continue to do so as long as their work excites them."—Ibid.
4. "With each new subject...the true artist varies his method."—Novelist on the Novels, p. 82.
5. "Every carefully written novel presents its own separate problem in method and technique."

है, अपने पृथक् नियम रखता है।[1]

भावात्मक क्रान्ति लाने के लिए अभिनव शिल्प अथवा तकनीक की अपेक्षा होती है। जब संसार को जानने के परम्परागत मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं तब व्याख्या करने के रुढ़िवादी ढंग भी अमान्य हो जाते हैं।[2] इसी कारण डा० रूथ के मत से 'कला को नित्य नया होते रहना चाहिए। उसका रचनात्मक प्रभाव अभिनव आश्चर्यकारी तत्त्वों पर निर्भर करता है। एक बार प्रस्तुतीकरण की नवीनता जहाँ धूमिल हुई नहीं कि पाठक उसे छोड़ अपने दैनिक कार्यों में संलग्न हो जाता है।'[3] उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकार अपने युग के अनुरूप अभिनव शिल्प की हमेशा तलाश करते रहते हैं। यह अभिनवता क्या परम्परा से पूर्णतः विच्छिन्न होकर ही आती है ? ऐसा नहीं होता है। क्योंकि परम्परा और अतीत पर्यायवाची नहीं हैं। परम्परा का अर्थ ही है अपने से भिन्न के साथ सम्बद्ध होती हुई प्रक्रिया। यानी परम्परा हमेशा अपने को युगानुरूप बदल लेती है जबकि अतीत किसी खास कालखण्ड में सीमित होकर रुक जाता है। परम्परा गतिशील प्रक्रिया है, वह पुराने से अनावश्यक को छोड़कर और नये से जीवंत को पकड़कर अपना संतुलन बनाये रहती है। शिल्प के साथ भी ऐसा ही होता है। कोई शिल्प अयाततः नया नहीं हो सकता। तकनीक अथवा रचना-विधान नये हो सकते हैं, परन्तु वे कहीं न कहीं परम्परा से सूत्रबद्ध अवश्य दृष्टिगोचर होंगे। यदि कथाकार अथवा रचनाकार को ऐसा कुछ कहना है जो पहले नहीं कहा गया था तो संभवतः वह अपने प्रयोग के लिए ठीक ढंग और विषय

---

1. Writers at Work, p. 37.
2. A revolution in sensibility demands new techniques. When traditional ways of knowing the world collapse, traditional forms of expression are invalidated. —A. Walton Litz, Art of James Joyce, p. 53.
3. Art must always be renewed. Its creative influence depends on surprise. When once the freshness of the presentment has faded, the reader relapses into his daily habits.—Dr. H. V. Routh, English Literature and Ideas in the Twentieth Century, p. 2.

नहीं पा सकेगा ।'[1] जान वेन का यह कथन पूर्णतः सत्य प्रतीत होता है। हिन्दी प्रेमाख्यानकों के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती अपभ्रंशादि में रचित प्रेम-काव्यों से हिन्दी के प्रेमाख्यानक ने शिल्प-शैली और ढंग में बहुत कुछ लिया है। इस सन्दर्भ में भाषा, काल और रचनाकार की रुचि का प्रभाव तो स्वीकार करना ही होगा। स्पष्टतया यों कहे कि हिन्दो-प्रेमाख्यान के शिल्प पर अपभ्रंश कथाकाव्यों का प्रभाव अवश्य पड़ा परन्तु वे हू-बहू उन्हीं की नकल नहीं हैं।

शिल्प शब्द के लिए शिथिल ढंग से कौशल, स्थापत्य, तकनीक, ढंग, रीति, शैली, विधान, विषय और आकृति (कण्टेण्ट्स एण्ड फार्म्स) आदि शब्द भी प्रयुक्त किये जाते हैं। विचारणीय यह है कि शिल्प शब्द के प्रचलित अर्थ क्या हैं ? किसी भी कथा, कहानी, नाटक या उपन्यास को श्रेष्ठतम करार देने में उसका प्रभावोत्पादक शिल्प ही मुख्य होता है। उपन्यासों के शिल्प-विधान पर विचार प्रकट करते हुए मेण्डिलो लिखते हैं कि जितने जीवंत उपन्यास हैं उतनी ही तकनीकें हैं। वास्तव में किसी को उपन्यास की तकनीक की अपेक्षा उपन्यासों की तकनीकों पर चर्चा करनी चाहिये।[2] असल में शिल्प को सब कुछ मानने वालों की संख्या कुछ कम नहीं है। मार्क शोरर का कथन है कि जब हम शिल्प की चर्चा करते हैं तब हम लगभग प्रत्येक वस्तु (रचना) की चर्चा करते हैं।[3] इसी प्रत्येक वस्तु में रचना का दृष्टिकोण भी सम्मिलित है और वह शिल्पविधि में जुड़कर उसे व्यापक बनाता है। 'औपन्यासिक गठन में

1. If he has something to say that has not been said before, it is very unlikely that he will find, ready for use, exactly the right form and content in step.—John Wain, Essays on Literature & Ideas, p. 3.
2. There are thus as many techniques as there are living novels. Indeed one should not talk of the technique of the novel, but of techniques of novels.—Time and the Novel, p. 234–235.
3. When we speak of technique, then, we speak of nearly everything.—Technique as Discovery, Forms of Modern Fiction, p. 9.

दृष्टिकोण शिल्प का मूलभूत सिद्धान्त है। एक या दूसरे दृष्टिकोण को ग्रहण करने में विषयवस्तु, चरित्र-चित्रण, वातावरण, विस्तार सभी कुछ सीमा तक निश्चित होते हैं।'[१]

ल्यूबक ने रचना के रूपाकार (फार्म) को रचनाकार के विचारों या उद्देश्यों का साधन माना है।[२] शिल्प का अर्थ करते हुए पं० सीताराम चतुर्वेदी लिखते हैं—'किसी भी कलाकृति में विशेष सौन्दर्य उत्पन्न करने का जो बौद्धिक नियोजन किया जाता है उसी को कौशल कहते हैं।'[३] यह शीर्षक-कौशल, इतिवृत्त-पुरुष-कौशल, रूपकौशल, प्रबन्ध-कौशल, पात्र-योजना-कौशल, लक्ष्य-कौशल और वर्णन-कौशल के रूप में आयोजित किया जाता है।[४] डा० नेमिचन्द्र शास्त्री 'टेकनिक' का स्थापत्य अर्थ करते हुए उसकी परिभाषा देते हैं कि 'चित्रकार ने जिस प्रयत्न के सहारे अपने चित्र को पूर्ण किया है, वह उसकी शैली माना जायेगा और भावाभिव्यक्ति की समस्त प्रक्रिया टेकनिक या स्थापत्य कही जायेगी। कथा में भावों को निश्चित रूप देने के लिये जो विधान प्रस्तुत किये जाते हैं, जिस प्रक्रिया को अपनाया जाता है, वही उसका स्थापत्य है।'[५] प्राकृत कथा-साहित्य के स्थापत्य पर विचार प्रस्तुत करते समय डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने प्राकृत-कथाओं में प्रयुक्त स्थापत्यों का सविस्तार उल्लेख अपने शोध-प्रबन्ध में किया है। प्राकृत जैन कथा-साहित्य और अपभ्रंश जैन कथा-साहित्य की

---

1. The point of view, it is apparent, is the fundamental principle of technique in the novel structure. By the adaptation of one or another point of view, plot, characterisation, tone, description are all to some degree determined.
—Carl H. Grabo, Technique of Novel, p. 81.
2. The form of the book depends on it (the intention of the novelists) and until it is known there is nothing to be said of form.—Lubbock, Craft of Fiction, p. 12.
३. पं० सीताराम चतुर्वेदी, शैली और कौशल, पृ० ३२.
४. वही, पृ० ४५५.
५. डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, हरिभद्र के प्राकृत कथा-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० १२१.

विषयवस्तु लगभग एक ही रही है। इसका कारण यह रहा है कि जैनों का जितना भी कथा-साहित्य है—चाहे वह प्राकृत, अपभ्रंश या संस्कृत में हो—कहीं न कहीं उनके तिरसठ शलाका पुरुषों के जीवन-चरितों अथवा जैनधर्म के प्रतिपादन से सम्बधित विचारों से जुड़ा हुआ रहता है। उनके विषयों में वैभिन्य रहने पर भी उद्देश्यों में साम्य देखा जाता है। अतएव प्राकृत-अपभ्रंश कथा-साहित्य के स्थापत्य में कोई विशेष मौलिक अन्तर का न पाया जाना स्वाभाविक है। डा० नेमिचन्द्र जी ने प्राकृत कथा-साहित्य के जिन स्थापत्यों का उल्लेख किया है उनके मात्र नाम देना यहाँ संगत होगा : १. वक्ता-श्रोतारूप कथा-प्रणाली, २. पूर्वदीप्ति-प्रणाली, ३. काल-मिश्रण, ४. कथोत्थ-प्ररोह-शिल्प, ५. सोद्देश्यता, ६ अन्यापदेशिकता, ७. राजप्रासाद-स्थापत्य, ८. रूपरेखा की मुक्तता, ९. वर्णन-क्षमता, १०. मंडन-शिल्प, ११. भोगायतन-स्थापत्य, १२. प्ररोचन-शिल्प, १३. उपचारवक्रता, १४. एतिह्य-आभास-परिकल्पना, १५. रोमांस-योजना, १६. सिद्ध प्रतीकों का प्रयोग और नये प्रतीकों का निर्माण, १७. प्रतीकों की उपयोगिता और वर्गीकरण, १८. कुतूहल की योजना, १९. औपन्यासिकता, २०. वृत्तिविवेचन, २१. पात्रबहुलता, २२. औचित्य-योजना और स्थानीय-विशेषता, २३. चतुर्भुजो स्वस्तिक-सन्निवेश, २४. उदात्तीकरण, २५. सामरस्य-सृष्टि और प्रेषणोयता, २६. भाग्य और संयोग का नियोजन, २७. परामनोवैज्ञानिक शिल्प, २८. अलौकिक तत्त्वों की योजना, २९. मध्यमौलिकता या अवांतर-मौलिकता[1]।

उक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि कुछ लोग शिल्प को बहुत व्यापकता और विस्तार देना चाहते हैं। वास्तव में शिल्प के सम्बन्ध में जल्दी निर्णय लेना खतरे से खाली नहीं। एलन टेट ने तो यहाँ तक कहा है कि उपन्यासकार अपने उपन्यास के विषय और उसकी रचना (स्ट्रक्चर) को पाठक के सामने इस तरह मिले-जुले रूप में रखता है कि आलोचक उसके मुख्य-गौणरूपता का परिज्ञान कदापि नहीं पा सकता।[2]

---

१. वहीं, पृ० १२३-१४६.

2. The novelist keeps before him constantly the structure and substance of his fiction as a whole to a degree to which

टी० एस० इलियट जैसे महान् कवि भी शिल्प को परिभाषित करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। 'हम कविता के शिल्प को परिभाषित नहीं कर सकते, हम नहीं कह सकते कि शिल्प कहाँ से आरम्भ होता है और उसका अन्त कहाँ होता है।'[1] फिलिप टायनबी आलोचक का सारा साहस बटोरकर कहते हैं कि हम सब रचना और उसके पीछे काम करने वाले तत्त्वों की अविभाज्यता को जानते हैं, लेकिन फिर भी यदि हम आलोचक हैं तो हमें अत्यधिक सावधान होकर उनके अन्तर को जानना चाहिए।[2] वस्तुतः यह बात तो सच है कि रचना से शिल्प तत्त्व को अलग करके नहीं देखा जा सकता परन्तु ऐसा नहीं कि उस तत्त्व को समझा ही नहीं जा सकता हो। एक भेदक दृष्टि की स्थापना तो करनी ही होगी। मूलतः रचना से शिल्प-तत्त्व को अलग करके देखने और न देखने का प्रश्न है वह कला के साथ विशेष रूप से जुड़ा हुआ है। लेखक की स्थिति में कुछ भिन्न दृष्टिकोण अपेक्षित है। किसी भी लेखक को उसकी रचना-प्रक्रिया के लिए शिल्प साधन है, साध्य नहीं—कम से कम इतना अन्तर तो मानना ही चाहिए। जोयस केरी का कथन है कि 'हम सदैव विषयवस्तु और फार्म को अविभाज्य मानने की बात करते हैं परन्तु यह बात दार्शनिक-कला में सच हो सकती है। लेखक के लिए ऐसी स्थिति अत्यधिक पेचीदा है।'[3] मार्क शोरर का मत

---

the critic can never apprehend it.—Allen Tate, On the Limits of Poetry, p. 130.

1. We observe that we cannot define the technique of verse; we cannot say at what point technique begins or ends.—T. S. Eliot, Sacred Wood, Preface, p. ix-x.

2. "We know all about the inseparability of method from those other elements which lie behind it, but if we are critics we had better beware of knowing too much about it." —Phillip Toynbee, London Magazine, May 1956.

3. "We are always told that they (content and form) are inseparable but this is true only in the art of philosophy. For the writer the situation is very much more complex."—Joyce Cary, Art and Reality, p. 96.

भी उद्धरणीय है—'विषयवस्तु या अनुभूति और अर्जित विषयवस्तु या कला के बीच के अन्तर को शिल्प कहते हैं।'[1]

शिल्प की चर्चा के प्रसंग में यह प्रश्न कि क्या कहानी या कथा शिल्प-हीन हो सकती है? एक पेचीदा प्रश्न है। इसके उत्तर में जैनेन्द्र जी कहते हैं कि—'नहीं हो सकती। क्या कोई शिशु ऐसा हो सकता है जिसके भीतर वह जटिल यन्त्र न हो जिसे मानव-यष्टि कहते हैं? लेकिन एक अबोधा भी माता बन जाती है और उसे उस जटिलता का कुछ पता नहीं होता जिसका निष्पन्न रूप उसका शिशु है। कथा का शिल्प हो सकता है और उसको जानने की भी आवश्यकता हो सकती है। किन्तु शरीर-यन्त्र का कितना भी ज्ञान हो, क्या केवल उस भरोसे किसी वैज्ञानिक ने अपने में से शिशु की सृष्टि की है? शायद ज्ञान अपनी खातिर सृष्टिमर्म से संगत ही नहीं है।'[२] जैनेन्द्र जी का इसी के अनुरूप एक वक्तव्य और भी है—'मुझे ख्याल होता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि कहानी कला या शिल्प हो ही नहीं, बल्कि सृष्टि हो। हर शिशु अपना बनाव और स्वभाव लेकर जन्मता है। दो प्राणी कभी एक से हो नहीं सकते। कारण, वे सृष्ट होते हैं, बनते नहीं हैं। एक माता-पिता की सन्तति समान नहीं हो पाती। क्योंकि प्रत्येक सृष्टि पृथक् गर्भ का फल है। यानी अपना पृथक् आनन्द, पृथक् वेदना। एक फार्मूले और एक युक्ति में से जब जितनी चाहें एक नमूने की वस्तु निकाली जा सकती है और इस काम में शायद कुछ हुनर भी दरकार हो। पर कहानी लिखने में ठीक वैसा सुभीता होता है, यह मेरा अनुभव नहीं है।'[३] इन उद्धरणों से दोनों हाथों में मोदक वाली उक्ति अधिक चरितार्थ होती है। फिर भी जैनेन्द्र जी जैसे कथाकार शिल्प की आवश्यकता को नजरन्दाज कैसे कर सकते थे? मैं तो यही समझा हूँ कि जिस प्रकार मानस-विहीन मानव की कल्पना करना व्यर्थ होगा उसी प्रकार शिल्प-हीन कहानी या कथा की भी।

---

1. "The difference between content or experience and achieved content or art is technique."
   —Technique as Discovery, Forms of Modern Fiction, p. 9.
२. जैनेन्द्रकुमार, कहानी : अनुभव और शिल्प, पृ० ७४-७५.
३. वही, साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ३५४-'५५.

भवन-निर्माण के लिए ईंट, सुर्खी-चूना ओर सीमेंट आदि आवश्यक सामग्री है। ठीक इसी प्रकार कथा-कहानी के लिए अनुभूति, कथावस्तु की योजना, चरित्र-अवतारणा आदि तत्त्वों की आवश्यकता होती है और उन्हीं की रचना-प्रक्रिया का नाम शिल्प है। भाव प्रकाशित करने की जो प्रक्रिया है वह शैली है। शैली शिल्प नहीं अपितु उसका एक अंग है। शैली का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के शील से या भाव से है। यही कारण है कि रचना-प्रक्रिया पर रचयिता के शील की जो छाप होती है वही उस रचना की शैली होती है। इसका कारण यह है कि शैली अभिव्यक्ति अथवा भाव-प्रकाशन का साधन है। परन्तु कोई भी रचनाकार या कलाकार अपनी कृति को संवार-सजाकर ही प्रस्तुत करना चाहता है अर्थात् वह उसे प्रभावोत्पादक देखने की आकांक्षा रखता है। साहित्य-कला में शैली का स्थान महत्त्वपूर्ण है। शैली उस साधन का नाम है जो रमणीय, आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक रूप से वाक्शक्ति के समस्त सरस तत्त्वों की अभिव्यक्ति में अभिनव तथा उचित शक्ति का संचार करे।[1] संस्कृत साहित्य में वृत्ति और रीति का उल्लेख किया गया है। इन शब्दों का प्रचलन शिल्प-सम्बन्धी भावों के प्राकट्य के लिए ही था। वृत्ति का उल्लेख भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है। कैशिकी, सात्वती, भारती और आरभटी ये चार प्रकार की वृत्तियाँ मानी गई हैं।[2] इन वृत्तियों को भरतमुनि ने काव्य की माता माना है (वृत्तयः

---

१. पं० करुणापति त्रिपाठी, शैली, पृ० २९.

२. वृत्तियों का लक्षण इस प्रकार दिया है :

कैशिकी—

या श्लक्ष्णनेपथ्यविधानचित्रा, स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता। कामोपभोगप्रभवोपचारा, सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता ॥

—आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण.

सात्वती—या सत्वजेनेह गुणेन युक्ता, न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटासंहृतशोभनावा, सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥

भारती—या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या, स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता, सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥

—भरतमुनि, नाट्यशास्त्र.

काव्यमातृका)। इनकी उत्पत्ति के विषय में भरतानुशासन में कहा गया है कि भारती-वृत्ति ऋग्वेद से, सात्वती-वृत्ति यजुर्वेद से, कैशिकी-वृत्ति सामवेद से और आरभटी-वृत्ति अथर्ववेद से उत्पन्न हुई :

ऋग्वेदाद् भारती वृत्तिर्यजुर्वेदात्तु सात्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणी तथा॥

वास्तव में भरत ने अपने नाट्शास्त्र में जिन वृत्तियों का उल्लेख किया है उनकी उपयोगिता नाट्यशास्त्र तक ही सीमित है। तथापि वृत्ति शब्द के इतिहास की दृष्टि से इस स्थान पर उनका उल्लेख करना असंगत नहीं है। उद्भट दूसरे पंडित हैं जिन्होंने अपने 'काव्यालंकार-सारसंग्रह' नामक अलंकारग्रन्थ में परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या या कोमला नामक वृत्तियों का उल्लेख किया है। परुषा : जब किसी अनुप्रास में श, ष, रेफ वाले वर्ण, ह्ल, ह्व, ह्य आदि प्रयुक्त होते हैं। उपनागरिका : द्विरुक्त वर्णों का प्रयोग, वर्ग के अक्षरों का वर्ग-पञ्चमों से संयोग जिसमें होता है। ग्राम्या या कोमला : जिसमें परुषा और उपनागरिका वृत्ति वाले वर्णों के अतिरिक्त अक्षरों का संघटन होता हो।[1] रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में वृत्ति को समासाश्रित कहा है। आचार्य मम्मट ने उपनागरिका, परुषा तथा कोमला वृत्ति का संकेत किया है और इन्हें रीतियों के अन्तर्गत ही रखा है।[2]

रीति के प्रमुख प्रतिष्ठापकों में से वामन का नाम प्रथम है। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना।[3] विशिष्ट पद-रचना को रीति का

आरभटी—या चित्रयुद्धभ्रमशस्त्रपात-मायेन्द्रजालप्लुतिलंघिताढ्या।
ओजस्विगुर्वक्षरबन्धगाढा, ज्ञेया बुधैः सा रमटीति वृत्तिः॥
—शृङ्गारतिलक.

१. शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता।
परुषा नाम वृत्तिः स्यात् ह्लह्वह्याद्यैश्च संयुता॥
सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्तयोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः॥
शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः॥—उद्भट, का० १. ५. ३. ७.

२. केषांचिदेता वैदर्भी प्रमुखा रीतयो मताः।—काव्यप्रकाश, ९. ४.

३. रीतिरात्मा काव्यस्य। —काव्यालंकार, २. ६.

लक्षण माना।[१] मूलतः तो रीति का सर्वप्रथम उल्लेख भामह का मिलता है। परन्तु द्रष्टव्य यह है कि भामह ने 'रीति' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने जिन दो मार्गों का उल्लेख किया है वे हैं वैदर्भ तथा गौडीय। दोनों में से वे किसी एक को महत्त्व नहीं देते। वे कहते हैं कि यह काव्य गौडीय है, यह वैदर्भ है, इस प्रकार का कथन मूर्खों की चाल है।[२] भामह का मत है कि काव्य के उदात्त होने के लिए उसका अलंकार से युक्त होना, अर्थ्य, अग्राम्य, न्याय्य तथा अनाकुल होना आवश्यक है, इस तरह का गौडीय मार्ग भी ठीक है और वैदर्भ मार्ग भी ठीक है।[३] वैदर्भी के गुण अनतिपोष, अनतिवक्रोक्ति, प्रसाद, ऋजुता, कोमल और श्रुतिपेशलत्व हैं।[४] भामह के पश्चात् दण्डी ने भी मार्गों का उल्लेख करते हुए गौडी (रीति) को हेय दृष्टि से देखा है। उनके मतानुसार गौडी काव्यपद्धति पौरस्त्य है तथा उसकी विशेषता अनुप्रास और शब्दालंकारडम्बर है।[५] अतः दण्डी वैदर्भी मार्ग [रीति] को श्रेष्ठ मानते हैं।

दण्डी के बाद काव्य की रीतियों के विषय में बाणभट्ट के हर्षचरित में चर्चा आई है। बाण ने काव्य की चार पद्धतियों का उल्लेख इस प्रकार किया है—'उत्तरवासी श्लेषमय काव्य को तथा पश्चिम के लोग केवल अर्थ को ही पसन्द करते हैं। दक्षिण के लोगों में उत्प्रेक्षा और गौड देश के लोगों में अक्षराडम्बर को पसन्द किया जाता है।[६] इन चारों प्रकार की पद्धतियों का काव्य में एक स्थान पर मिलना दुर्लभ होता है। बाण के अनुसार यदि काव्य में इनका समन्वय हो तो वही उत्तम काव्य है। 'नवीन अर्थ, अग्राम्य, स्वभावोक्ति, सरल श्लेष, स्फुट रस और विकट

---

१. विशिष्टपदरचना रीतिः।—वही, २. ७.

२. गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नाख्येयममेधसाम् ॥ —काव्यालंकार, १. ३२.

३. वही, १. ३५.

४. वही, १. ३३.

५. इत्यनालोच्य वैषम्यमर्थालंकारडम्बरम्।
अवेक्ष्यमाणा ववृधे पौरस्त्या काव्यपद्धतिः ॥—काव्यादर्श, १. ५०.

६. श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥ —हर्षचरित.

अक्षरों की संघटना काव्य में दुर्लभ है।'[१] जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है आचार्य वामन ने 'रीति' शब्द का प्रथमोल्लेख किया है। वे विशिष्ट पद-रचना को रीति कहते हैं। वामन ने शब्दगुण और अर्थगुण के भेद से गुणों के मुख्य दो भेद किये और उन्हें रीति से संबंधित बताया। इन्होंने वैदर्भी, गौडो और पांचाली तीन रीतियाँ मानो हैं। इन तीनों रीतियों में से वैदर्भी रीति की वामन ने सर्वाधिक प्रशंसा की है। वैदर्भी का ही अधिक प्रयोग करने की उनकी सलाह है क्योंकि उसमें समस्त गुण पाये जाते हैं। अन्य दोनों में कम गुण पाये जाते हैं।[२]

रुद्रट ने उक्त तीनों रीतियों में एक चौथी 'लाटीया' नामक रीति और जोड़कर इनकी संख्या चार कर दी।[३] इनके अनुसार 'वैदर्भी और पांचाली रीतियों का उपयोग शृंगार तथा करुण रस में होना चाहिए; भयानक, अद्भुत और रौद्र रसों में लाटी और गौडी रीतियों का यथोचित प्रयोग करना चाहिए।'[४] आनन्दवर्धनाचार्य ने रीति को 'संघटना' नाम दिया है। संघटना तीन प्रकार की मानी गई है—१. समासरहित, २. मध्यम समासों से अलंकृत और ३. दीर्घसमासयुक्त।[५] आनन्दवर्धनाचार्य ने 'असमासा' से वैदर्भी, 'समासेन मध्यमेन च भूषिता' से पांचाली और 'दीर्घसमासा' से गौडी रीति का निरूपण किया है। इनके अनुसार संघटना माधुर्यादि गुणों का आश्रय करती हुई रसों को अभिव्यक्त करती है।[६] राजशेखर ने उक्त तीन रीतियों के अतिरिक्त एक चोथो 'मागधीरीति' का

---

१. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषो क्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥—वही.

२. तासां पूर्वा ग्राह्या। गुणसाकल्यात्। न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात्।
—काव्यालंकार, १. २. १४-१५.

३. काव्यालंकार, २, ४-६.

४. वैदर्भीपांचाल्यो प्रेयसिकरुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम् ॥ —वही, १५. २०.

५. असमासा, समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ॥—ध्वन्यालोक, ३. ५.

६. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ति, माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान् तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥—वही ३. ६.

भी उल्लेख किया है। आगे चलकर इन्हीं चारों रीतियों में भोजराज ने 'अवन्तिकारीति' नामक एक नई रीति को स्वीकारते हुए 'सरस्वतीकंठाभरण में' वैदर्भी, गौडी, पांचाली, लाटी, आवन्ती और मागधी इन छः रीतियों का उल्लेख किया है। जहाँ दो, तीन या चार समस्त पद हों तथा जो पांचाली और वैदर्भी के अन्तराल में स्थित हो वहाँ आवन्तीरीति मानी गई है।[1]

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के नवें परिच्छेद में रीतियों के नामोल्लेख के साथ-साथ उनकी विशद परिभाषाएँ भी दी हैं। इनके अनुसार रीति, अंग-रचना की भाँति, पद-रचना अथवा पद-संघटना है जो कि रसभावादि की अभिव्यंजना में सहायक हुआ करती है।[2] रीति चार प्रकार की है—१. वैदर्भी, २. गौडी, ३. पांचाली और ४. लाटी।[3] वैदर्भी वह रीति है जिसे माधुर्य के अभिव्यंजक वर्णों से पूर्ण, असमस्त अथवा स्वल्प-समासयुक्त ललित रचना कहा गया है।[4] वैदर्भी को रुद्रट ने इस प्रकार परिभाषित किया है—'वैदर्भी रीति अथवा ललित-पद-रचना इस प्रकार की हुआ करती है जिसमें समस्त पदावली का प्रयोग नहीं हुआ करता, जहाँ एकाध पद समस्त हो जाय तो कोई हानि नहीं, जिसमें श्लेषादि दसों गुण विद्यमान रहते हैं, जिसमें द्वितीय वर्ग के वर्णों का बाहुल्य सुन्दर लगता है और जिसमें ऐसे वर्ण रहा करते हैं जो कि स्वल्प प्रयत्न से उच्चारित हो सकते हैं।'[5]

---

१. अन्तराले तु पांचाली वैदर्भ्योर्यावतिष्ठते।
सावन्तिका समस्तः स्याद्द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण, २. ३२.

२. पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसाकीनां—साहित्यदर्पण. ९. १.

३. ....सा पुनः स्याच्चतुर्विधा।
वैदर्भी चाथ गौडी पांचाली लाटिका तथा॥—वही.

४. माधुर्यव्यंजकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥—वही, ९. २.

५. असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिगुणैश्च वैदर्भी।
वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया॥—रुद्रट, काव्यालंकार.

गौडी वह रीति है जिसे ओज गुण के अभिव्यंजक वर्णों से पूर्ण, समास-प्रचुर, उद्भट रचना कहा गया है।[1] 'जिसे माधुर्य और ओज के अभिव्यंजक वर्णों को छोड़कर अन्य अवशिष्ट वर्णों अर्थात् प्रसाद के अभिव्यंजक वर्णों से ऐसी पद-रचना कहा गया है जिसमें पाँच या छः पदों के समासों से बड़े समासों का प्रयोग नहीं हुआ करता, वह पांचाली रीति है।'[2] भोजराज ने पांचाली रीति के विषय में लिखा है कि 'पांचाली रीति वह है जिसमें पाँच या छः पदों से अधिक पद वाले समास प्रयुक्त नहीं किये जाते, जिसमें ओज और कान्ति के गुण विराजमान रहा करते हैं और जो माधुर्य के अभिव्यंजक किंवा कोमल वर्णों से पूर्ण पद-रचना हुआ करती है।'[3] लाटी वह रीति है जिसमें वैदर्भी और पांचाली दोनों की विशेषताएं अन्तर्भूत हों।[4] इस प्रकार चार प्रकार की रीतियों की व्याख्या साहित्यदर्पणकार ने की है। कतिपय काव्याचार्यों ने चारों प्रकार की रीतियों का संक्षिप्त स्वरूप बताते हुए लिखा है कि 'वैदर्भी रीति का अभिप्राय 'मधुरबन्ध', गौडी रीति का अभिप्राय 'उद्धतबन्ध,' पांचाली रीति का अभिप्राय 'मिश्रबन्ध' और लाटी रीति का अभिप्राय 'मृदुबन्ध' से है।[5]

शिल्प और शैली के प्रसंग में मार्ग, वृत्ति, रीति और संघटना आदि को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ प्रस्तुत करने का मेरा उद्देश्य मात्र इतना रहा है कि हम भारतीय साहित्यशास्त्र में शिल्प-शैली आदि के बारे में प्रचलित धारणाओं का आकलन कर सकें और शिल्प के बारे में प्रचलित

---

१. ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ।
समासबहुला गौडी............—साहित्यदर्पण, ९. ३-४.

२. ....वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।
समस्तपंचषपदो बन्धः पांचालिका मता ॥—वही, ९. ४.

३. समस्तपंचषपदामोजः कान्तिसमन्विताम् ।
मधुरां सुकुमारां छ पांचालीं कवयो विदुः ॥—वही, टीका.

४. लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता ।—वही, ९. ५.

५. गौडी डम्बरबद्धा स्याद्वैदर्भी ललितक्रमा ।
पांचाली मिश्रभावेन लाटी तु मृदुभिः पदैः ॥
—वही, पृ० ६६२ से उद्धृत.

पाश्चात्य मतों के साथ उनकी तुलना कर सकें। उपर्युक्त रीतियाँ शैलियां ही हैं। उनका प्रयोग कथा, आख्यायिका और महाकाव्यों में होता था। परन्तु द्रष्टव्य है कि शैलो शिल्प नहीं क्योंकि शिल्प में भाव और रचना-प्रक्रिया दोनों का समावेश है। वाल्टर रेले के अनुसार साहित्य का कार्य द्विविध है—अर्थ के लिए शब्द ढूँढ़ना और शब्द के लिए अर्थ ढूंढ़ना।[1] प्रत्येक व्यक्ति की अपनी शैली (स्टाइल इज़ दी मेन हिमसेल्फ) होती है तथापि व्यवस्था की दृष्टि से उनका श्रेणी-निबन्धन भी होता ही रहा है।

महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथा, आख्यानक, कहानी, नाटक, निबन्ध, पत्र और आत्मकथा आदि विभिन्न विधाओं की अपनी-अपनी विवेच्य शैलियां होती हैं। ये शैलियां अनेक रूपों में प्रचलित हैं। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने शैलियों को रूपशैली और भावशैली इन दो भेदों में विभक्त किया है। रूपशैली के अन्तर्गत उन्होंने जिन शैलियों का निर्देश किया है वे इस प्रकार हैं :

१. वर्णन : सूक्ष्म और स्थूल के भेद से व्यक्ति, स्थान, वस्तु, दृश्य और अवसर का, २. इतिवृत्त या कथन : (क) कथा के रूप में, (ख) बच्चों को समझाई जाने वाली कहानियों के रूप में, (ग) वार्ता के रूप में, ३. वर्णन और कथन (इतिवृत्त) मिश्रित, ४. कविता : (क) मुक्तक, (ख) प्रगीत (ग) उक्तिबन्ध, (घ) वर्णनात्मक कविता, ५. गीत, ६. पद्यप्रबन्ध, ७. गद्यप्रबन्ध, ८. पत्र, ९. समीक्षा, १०. दिनचर्या, ११. यात्रा, १२. निमन्त्रण-पत्र, १३. आवेदन-पत्र, १४. सूचना, १५. अभिनन्दन, १६. अभ्यर्थना, १७. समाचार, १८. विज्ञापन १९. निबन्ध : (क) समीक्षात्मक, (ख विचारात्मक, (ग) विवेचनात्मक, (घ) तर्कपूर्ण अध्ययनात्मक, (ङ) गवेषणात्मक, (च) भावात्मक, २०. संवाद, २१. स्वगत, २२. नाटक: (क) एकांगी, (ख) अनेकांगी, (ग) भृत्यनाटक, (घ) श्रव्यनाटक, २३. गद्य-काव्य, २४. भूमिका या प्रस्तावना, २५ संक्षेपीकरण, २६. लेख-संपादन, २७. व्याख्या, २८. टीका, २९. आत्मकथा, ३०. परिचय, ३१. जीवन-चरित, ३२. रेखाचित्र, ३३. श्रव्य-व्याख्या, ३४. भविष्यवाणी, ३५. नाटकीय आत्म-परिचय।

1. To find words for a meaning and to find a meaning for words.—Style, p. 63.

भावशैली के अन्तर्गत निम्नलिखित शैलियाँ आती हैं :

१. विनोदात्मक, २. आत्मचिन्तनशैली, ३. आत्म-विश्लेषण, ४. विचारात्मक, ५. प्रमाणबहुला, ६. व्यंग्यात्मक, ७. व्यास-शैली, ८. आवेगात्मक, ९. भावात्मक, १०. उपालम्भात्मक, ११. लोमहर्षणशैली, १२. क्रमिकउत्तेजन शैली।[1]

पं० करुणापति त्रिपाठी ने शैलियों का व्यक्तिप्रधान शैली और विषयप्रधान शैली के रूप में वर्गीकरण किया है,[2] जो अधिक सटीक है। इन दोनों ही भेदों में वे तीन-तीन उपभेद स्वीकार करते हैं। वे हैं—रागात्मक, इन्द्रियानुभवात्मक और ज्ञानात्मक शैली। इनके अनुसार एक तीसरी शैली है आलोचनात्मक शैली जो दो प्रकार की होती है : १. निर्णयात्मक आलोचना, २. व्याख्याप्रधान आलोचना शैली।[3] चौथी रूढ़-धार्मिक और राष्ट्रीय-शैली का भी उल्लेख आपने किया है।[4]

इन सारे मतमतान्तरों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि हमारे यहाँ जिसे रीति, वृत्ति, काव्यापभेद, स्थापत्य आदि कहा गया है वह वस्तुतः शिल्प से काफ़ी भिन्न है। पश्चिम में शैली जिसे स्टाइल या टेकनिक कहते हैं वह भी शिल्प का पूरा अर्थ लेने में असमर्थ है। वस्तुतः शिल्प एक व्यापक शब्द है जिसमें वस्तु के मूल गठन, स्थापन-संगठन, विधा-आकृति तथा शैली सभी का समावेश हो जाता है। चूंकि यह शब्द केवल कथ्य-वस्तु की अभिव्यक्ति-प्रणाली से ही सीमित नहीं है, इसलिए इसे साहित्यिक कोटियों में श्रेणी-विभक्त करना भी पूर्णतः संगत नहीं होगा। शिल्प में किसी भी जाति की मनोवृत्ति का पूर्ण प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। भारतीय कथा-साहित्य का शिल्प भारतीय मानस की मनोवृत्ति का परिचायक है। सूफी आख्यानों में इसी कारण शुद्ध भारतीय शिल्प से किंचित् भिन्न मनोवृत्ति का रूप दिखाई पड़ता है। यद्यपि आगे चलकर भारतीय कथा और सूफी आख्यानकों का शिल्प एक-दूसरे से मिल-जुलकर नया रूप ले लेता है

---

१. पं० परशुराम चतुर्वेदी, काव्य में शैली और कौशल, पृ० २४-३२.

२. पं० करुणापति त्रिपाठी, शैली, पृ० १९३.

३. वही, पृ० २०१.

४. वही, पृ० २१९.

जिसे मध्यकालीन हिन्दी आख्यानकाव्यों का सही शिल्प कहेंगे, पर अध्ययन की दृष्टि से इन्हें अलग-अलग मानकर चलना ही उचित होगा।

शिल्प के दृष्टिकोण से हिन्दी-प्रेमाख्यानकों को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है : १. भारतीय, २. अभारतीय अथवा सूफी। सूफी और हिन्दू दोनों ही प्रकार के प्रेमाख्यानक पौराणिक शैली, चरितशैली और रोमांचक शैली में लिखे गये। फारसी के प्रभाव से सूफ़ी काव्यों की मसनवी शैली कुछ दृष्टियों से भारतीय प्रेमकाव्यों की शैली से भिन्न जरूर है, पर अपने को कथा और चरित्र कहने वाले हिन्दी के प्रायः सभी प्रबन्धकाव्य सीधे अपभ्रंश के चरितकाव्यों को परम्परा में आते हैं। अपभ्रंश के चरितकाव्यों की प्रायः सभी विशेषताएँ इनमें भी उसी प्रकार दिखलाई पड़ती हैं।[1] सूफी और हिन्दू परम्पराओं में रचित प्रेमाख्यानकों का सविस्तार विवरण दूसरे अध्याय में दिया गया है। अतः उनका नामोल्लेख आवश्यक नहीं है। आगे शिल्प के अन्तर्गत आने वाले सभी तत्त्वों पर विचार करते समय कथानकों की शिल्प-शैली का उल्लेख किया जायेगा। मुख्य रूप से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए।

शिल्प और काव्यरूप का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिल्प में भाव और अभिव्यक्ति के प्रकार दोनों अन्तर्भूत होते हैं। काव्य किसी अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र होता है। प्रत्येक अनुभूति की अभिव्यक्ति काव्य नहीं होती। किसी भी काव्य की अनुभूति के स्फुरण के साथ ही काव्य-रूप का भी उद्भव होता है। काव्य केवल शब्दों, वाक्यों और छन्दों में ही नहीं, काव्य-रूपों में भी बंधकर प्रकट होता है। काव्यरूप के साथ काव्य का निजी व्यक्तित्व खड़ा होता है।[2] रूप और पदार्थ दोनों ही सापेक्ष शब्द हैं। आकार या रूप के बिना वस्तु की और वस्तु के आधार के बिना आकार की कल्पना नहीं हो सकती। अशरीरी वस्तुओं के भी रूप होते हैं, जो केवल बोधगम्य हैं।[3] अरस्तू ने रूप [फार्म] को परिभाषा देते हुए लिखा है कि कला के क्षेत्र में इस रूप या फार्म का अर्थ बाहरी आकार-प्रकार नहीं है बल्कि रूप में वह सब कुछ शामिल है जो किसी वस्तु को स्पष्ट करने,

---

१. डा० शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्यों का स्वरूप-विकास, पृ० १९७.
२. डा० सत्येन्द्र, हिन्दी काव्यरूपों का अध्ययन, भूमिका, पृ० ६.
३. डा० शिवप्रसाद सिंह, सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० ३१३.

उसकी अभिव्यक्ति कराने तथा उसके अस्तित्व का स्पष्ट बोध कराने में समर्थ हो।[1]

साहित्यशास्त्र के विभिन्न आचार्यों ने काव्य के लक्षणों पर अपना-अपना मत प्रकट किया है। आचार्य भामह शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य मानते हैं, जो कि गद्य-पद्य के भेद से दो प्रकार का होता है।[2] दण्डी ने काव्य के लक्षण के विषय में पूर्वाचार्यों का स्मरण करते हुए लिखा है कि प्रजाजनों की व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर विद्वानों ने विचित्र मार्गों से युक्त काव्यवाणी-रचना के प्रकारों का विवरण दिया है, जिसमें उन्होंने काव्य के शरीर तथा उसके अलंकारों का वर्णन किया है। इस अर्थ से युक्त पदावली ही काव्य का शरीर है।[3] भामह और दण्डी ने काव्य के शरीर का आकार ही प्रस्तुत किया था परन्तु इनके बाद के आचार्य वामन ने उसमें आत्मतत्त्व की स्थापना भी कर दी। इन्होंने कहा कि रीति काव्य की आत्मा है—रीतिरात्मा काव्यस्य।[4] ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर काव्य का लक्षण किया।[5] जिस काव्य के शरीर-आत्मा आदि का जो रूपक आचार्यों ने प्रस्तुत किया था उसे राजशेखर ने स्पष्टरूप से 'काव्यपुरुष' का आकार प्रदान करके उसका वर्णन इस प्रकार किया—'शब्द-अर्थ इस पुरुष का शरीर है, संस्कृत मुख है, प्राकृत भुजा है, अपभ्रंश जंघा है, पैशाची पाद है, उरस्थल मिश्र [भाषा]

---

१. वही.

२. भामह, काव्यालंकार, १. १६.

३. दण्डी, काव्यादर्श, १. ९–१०.

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्॥
तैः शरीरं काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः।
शरीरं तावदिष्टार्थ–व्यवच्छिन्ना पदावली॥

४. काव्यालंकार, १. १.

५. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः,
तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं।
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्॥—ध्वन्यालोक, १. १.

है। सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और ओजस्वी इसके गुण हैं। उक्तिवर्ण इसके वचन हैं, रस आत्मा है, छन्द रोम हैं, प्रश्नोत्तर, प्रहेलिकादि वाग्विनोद हैं और अनुप्रास, उपमा आदि उसे अलंकृत करते हैं।[१] इनके बाद आचार्य कुन्तक ने काव्य का लक्षण अधिक विस्तार के साथ किया है। इनके अनुसार शब्द और अर्थ सहित व्यंजना-व्यापार-प्रधान मनोरम हृदयाह्लादक व्यवस्थित बन्ध काव्य है।[२] आचार्य क्षेमेन्द्र का 'औचित्य-सिद्धान्त' प्रसिद्ध है। उसी के अनुसार वे 'औचित्य' को ही काव्य का जीवित मानते हैं।[३] साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ 'रसात्मक वाक्य' को काव्य मानते हैं। **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्** में 'रसात्मक वाक्य' का अर्थ 'जिस वाक्य का आत्मतत्त्व रस हुआ करता है' किया है।[४] उक्त काव्य के लक्षणों का निरूपण करने के बाद निष्कर्ष यह निकलता है कि शब्द और अर्थ को ही अधिकांश आचार्यों ने काव्य माना है।[५] काव्य के प्रयोजन और उसके हेतुओं की भी

---

१. शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघन्यमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिवर्णं च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवल्हिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति।—काव्यमीमांसा, पृ० १४.

२. शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी॥ —वक्रोक्तिजीवित, १.

३. औचित्यविचारचर्चा, ४–५.
काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः,
यस्य जीवितमौचित्यं विचिंत्यापि न दृश्यते।
अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा,
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥

४. साहित्यदर्पण, १. ३.

५. (अ) शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा—काव्यालंकार, १. १६.
(ब) काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते —वही १. १.
(स) शब्दार्थौ काव्यम्—वही, २. १.
(द) अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्—काव्यानुशासन, पृ० १६.

उक्त आचार्यों ने विस्तृत चर्चा की है। काव्य के मूल में मम्मट ने तीन कारणों का उल्लेख किया है—१. शक्ति या प्रतिभा, २. लोक, शास्त्र तथा काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न निपुणता, ३. काव्य को जानने वाले की शिक्षा के अनुसार अभ्यास।[1] इन्हीं तीन हेतुओं से काव्य का उद्भव होता है। प्रायः काव्य के हेतुओं में आचार्यों के मतों में अधिक भेद नहीं है।

काव्य के रूपों का वर्गीकरण प्रथमतः अभिव्यक्ति के माध्यम से किया गया। भामह और दण्डी के अनुसार संस्कृत काव्य, प्राकृत काव्य और अपभ्रंश काव्य के भेद से तीन काव्यरूप हैं। साहित्यदर्पणकार ने इस ओर ध्यान देकर काव्यरूपों का दृश्य और श्रव्यकाव्य के भेदों में विभाजन किया।[2] काव्य की दृश्यता और श्रव्यता के आधार पर ही यह वर्गीकरण किया गया है। जो चाक्षुष हो, जिसे देख सकें वह दृश्य; जो सुना जा सके, जो कानों का विषय हो वह श्रव्य काव्य कहलाता है। इसका विशद विवेचन साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में देखा जा सकता है। दण्डी ने काव्यों को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र रूप में स्वीकार किया। रुद्रट ने संस्कृत, प्राकृत, मागध, पिशाच, शूरसेन और अपभ्रंश को काव्य का रूप माना। शास्त्रों के आधार पर काव्य के रूपों का विकासक्रम उक्त प्रकार से मिलता है। परन्तु काव्यरूपों में भी परिवर्तन होता रहा है। क्योंकि 'काव्यरूपों का निर्माण, उनके उद्भव और विकास की प्रक्रिया देश-काल की सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों से परिचालित होती हैं। भाषा और कवि की कारीगरी पर भी इन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है।'[3] संस्कृत के आचार्यों ने जिस काव्यरूप की चर्चा की है वह संस्कृत काव्यों को देखकर। मध्यकाल में विदेशी जातियों के सम्पर्क और लोक-भाषा के उदय के कारण लोकजीवन से सम्पृक्त बहुत से काव्यरूप सामने आये। हिन्दी के काव्यरूप इसी सांस्कृतिक परस्परावलंबन की देन हैं।

---

१. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ —काव्यप्रकाश, १. ३.

२. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।
दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्॥—साहित्यदर्पण, ६. १.

३. डा० शिवप्रसाद सिंह, सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० ३१४.

८

काव्यरूपों के परिवर्तन का मुख्य कारण भाषा में परिवर्तन का आना ही है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'जब-जब कोई जाति नवीन जातियों के सम्पर्क में आती है तब-तब उसमें नई प्रवृत्तियां आती हैं, नई आचार-परम्परा का प्रचलन होता है, नये काव्यरूपों की उद्भावना होती है और नये छन्दों में जनचित्त मुखर हो उठता है, नया छन्द नये मनोभाव को सूचना देता है।'[1] अतः स्पष्ट है कि काव्यरूपों का इतिहास युगानुकूल प्रवृत्तियों से जुड़ा हुआ है। काव्यरूप मात्र काव्यरूप नहीं अपितु अपने उद्भवकाल की परिस्थिति के उद्घोषक भी हैं। लोकभाषा अपभ्रंश और हिन्दी के काव्यरूपों का आकलन किया जाये तो एक लम्बी सूची बन जायेगी। भाषा-काव्यों का परिचय देते हुए श्री अगरचन्द नाहटा ने एक लम्बी सूची दी है, जिसे अविकल रूप में नीचे उद्धृत किया जा रहा है :

१. रास, २. संधि, ३. चौपाई, ४. फागु, ५. धमाल, ६. विवाहलो, ७. धवल, ८. मंगल, ९. वेलि, १०. सलोक, ११. संवाद, १२. वाद, १३. झगड़ो, १४. मातृका, १५. बावनी, १६. कक्क, १७. बारहमासा, १८. चौमासा, १९. पवाड़ा, २०. चर्चरी (चांचरि), २१. जन्माभिषेक, २२. कलश, २३. तीर्थमाला, २४. चैत्यपरिपाटी, २५. संघवर्णन, २६. ढाल, २७. ढालिया, २८. चौढालिया, २९. छढालिया, ३०. प्रबंध, ३१. चरित, ३२. संबंध, ३३. आख्यान, ३४. कथा, ३५. सतक, ३६. बहोत्तरी, ३७. छत्तीसी, ३८. सतरी, ३९. बत्तीसी, ४०. इक्कीसी, ४१. इकतीसी, ४२. चौबीसी, ४३. बीसी, ४४. अष्टक, ४५. स्तुति, ४६. स्तवन, ४७. स्तोत्र, ४८. गीत, ४९. सज्झाय, ५०. चैत्यवंदन, ५१. देववंदन, ५२. वीनती, ५३. नमस्कार, ५४. प्रभाती, ५५. मंगल, ५६. सांझ, ५७. बधावा, ५८. गहूंली, ५९. हीयाली, ६०. गूढ़ा, ६१. गजल, ६२. लावणी, ६३. छंद, ६४. नीसाणी, ६५. नवरसी, ६६. प्रवहण, ६७. पारणो, ६८. वाहण, ६९. पदावली, ७०. गुर्वावली, ७१. हमचड़ो, ७२. हींच, ७३. मालमालिका, ७४. नाममाला, ७५. रागमाला, ७६. कुलक, ७७. पूजा, ७८. गीता, ७९. पट्टाभिषेक, ८०. निर्वाण, ८१. संयम श्री विवाह-वर्णन, ८२. भास, ८३. पद, ८४. मंजरी, ८५. रसावली, ८६. रसायन, ८७.

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ९०.

रसलहरी, ८८. चंद्रावला, ८९. दीपक, ९०. प्रदीपिका, ९१. फुलड़ा, ९२. जोड़, ९३. परिक्रम, ९४. कल्पलता, ९५. लेख, ९६. विरह, ९७. मूंदड़ी, ९८. सत, ९९. प्रकाश, १००. होरी, १०१. तरंग, १०२. तरंगिणी, १०३. चौक, १०४. हुंडी, १०५. हरण, १०६. विलास, १०७. गरबा, १०८. बोली, १०९. अमृतध्वनि, ११०. हालरियो, १११. रसोई, ११२. कडा, ११३ झूलणा, ११४. जकड़ी, ११५. दोहा, ११६. कुंडलिया, ११७. छप्पय आदि।[1]

हिन्दी-काव्यरूपों पर विचार करते समय श्री गुलाबराय ने वि० १४वीं शताब्दी से पूर्व के जिन काव्यरूपों का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं : १. चरितकाव्य, २. कवित्त-सवैया, ३. वरवै, ४. दोहा, ५. मंगलकाव्य, ६. सबद, ७. रमैनी, ८. कहरा, ९. वसन्त, १०. चांचर, ११. रासक, १२. फाग, १३. लीला के पद, १४. आल्हा या वीर छन्द, १५. सोहर, १६. हिंडोला तथा वीर काव्यों के छप्पय, तोमर आदि छन्द।[2]

डा० रामबाबू शर्मा ने अपने शोध-प्रबन्ध में ३३८ प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर २४ काव्यरूपों की उद्‌भावना की है। वास्तव में डा० शर्मा का यह कार्य हिन्दी-साहित्य की एक उपलब्धि मानना चाहिए। उन्होंने १५वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक के प्रचलित काव्यरूपों की तालिका इस प्रकार दी है : १ वानी, २. चरितकाव्य, ३. रास, ४. कथा-वार्ता-काव्य, ५. पद, सबद, लीला के पद, ६. स्तोत्र, स्तुति, विनती-काव्य, ७. सिद्धान्त एवं उपदेशपरक काव्य, ८. प्रशस्तिकाव्य, ९. पुराण, १०. ऐतिहासिक काव्य, ११. मंगलकाव्य, १२. लीला-काव्य, १३. साखी, १४. छन्द-गीतपरक काव्य, १५. माल या मालाकाव्य, १६. संवाद, वादू, गोष्ठी, बोधसंज्ञक-काव्य, १७. बारहलड़ी या बावनी, १८. बारहमासा, १९. संख्यापरक काव्य, २०. भ्रमरगीत, २१. कथा, २२. अष्टयाम, २३. नखशिख तथा २४. नाटक।[3]

---

१. अगरचन्द नाहटा, प्राचीन काव्यों की रूप परंपरा, पृ० २.

२. गुलाबराय, काव्य के रूप, पृ० ४४.

३. डा० रामबाबू शर्मा, हिन्दी काव्यरूपों का अध्ययन, पृ० ७८.

डा० सत्येन्द्र ने ८वीं शती से १४वीं शती तक के काव्यरूपों की सूची इस प्रकार दी है : १. गाथाबंध, २. दोहाबंध, ३. पद्धड़ियाबंध, ४. चौपाई-दोहावली-रमैनी, ५. छप्पयबंध, ६. कुंडलिनीबंध, ७. रासा-बंध, ८. चर्चरी या चांचर, ९. फाग, १०. साखी, ११. सबदी, १२. दोहरे, १३. सोहर, १४. पद, १५. मंगलकाव्य, १६. चौंतीसा, १७. विप्रमतीसी, १८. बसंत, १९. वेलि, २०. विरहुली, २१. हिंडोला, २२. कवित्त-सवैया, २३. कहरा, २४. बरवै, २५. विनय, २६. लीला, २७. अखरावट, २८. नहछू, २९. रासक, ३०. रास, ३१. भ्रमरगीत, ३२. मुकरी, ३३. दो सखुने, ३४. अनमिल, ३५. ढकोसला, ३६. बुझावल, ३७. षड्ऋतु, ३८. बगसाला, ३९. नखशिख, ४०. दसम : दशावतार, ४१. भंडोआ, ४२. जीवनी, ४३. सतसई, ४४. मंगल, ४५. माहात्म्य, ४६. पच्चीसी, ४७. बत्तीसी, ४८. पुराण, ४९. संवाद, ५०. घोड़ी, ५१. पत्तल, ५२. काव्य, ५३. चरित। इन रूपों का नामकरण छंद, गीत, शैली, संख्या और विषय के आधार पर है।[1]

आरम्भिक ब्रजभाषा के काव्यरूपों का विवेचन करते हुए डा० शिव-प्रसाद सिंह ने निम्नलिखित काव्यरूप बताए हैं :

१. चरितकाव्य, २. कथा-वार्ता, ३. रास और रासो, ४. लीलाकाव्य, ५. षड्ऋतु और बारहमासा, ६. बावनी, ७. विप्रमतीसी, ८. वेलिकाव्य, ९. गेयमुक्तक, १०. मंगलकाव्य।[2]

उपर्युक्त काव्यरूपों की सूचियों से हिन्दी साहित्य के आदिकाल से १९वीं शताब्दी तक के काव्यरूपों पर प्रकाश पड़ता है।

हिन्दी में प्रेमाख्यानकों के कहा (कथा), कहाणी (कीर्तिलता), चरित, रास या रासो, वार्ता (छिताईवार्ता) आदि नाम मिले हैं। आज भी गुजराती में कहानी को वार्ता ही कहते हैं। ख्यात और बात ये दोनों शब्द पुरानी राजस्थानी में प्रचुर संख्या में कथाकाव्यों के नाम के साथ प्रयुक्त हुए हैं। इन आख्यानों में स्तवन, स्तोत्र, षड्ऋतु-वर्णन, बारह-

---

१. डा० सत्येन्द्र, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, पृ० ४६७-६८.

२. डा० शिवप्रसाद सिंह, सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० ३१५.

मासा, उपालंभ, मंगल, विआहलो, प्रहेलिका, फागु, धमाल, चांचरी, नख-शिख आदि अनेक काव्यरूप अन्तर्भुक्त मिलेंगे। पद्मावत में स्तवन, बारहमासा, षड्ऋतु-वर्णन, नखशिख आदि मिल जाते हैं। रसरतन में स्तोत्र, स्तवन, नखशिख, विवाहलो, राजप्रशस्ति, नायिकाभेद, बारहमासा आदि कई काव्यरूप अन्तर्भुक्त दिखाई पड़ते हैं।

शिल्प के अन्तर्गत शैली, काव्यरूप, कथाविन्यास और कथातत्त्वों को भी समाविष्ट करना चाहिए। यद्यपि वटवृक्ष का बीज अत्यधिक सूक्ष्म होता है तथापि उसके अन्दर एक विशाल वटवृक्ष का रूप छिपा रहता है। ठीक वैसे ही 'शिल्प' शब्द के उल्लेख मात्र से रचना (कथा-वार्ता, चरित, आख्यान आदि) की रचना-प्रक्रिया का—भाव से अभि-व्यक्ति और उसके माध्यम तक की रचना-प्रक्रिया का—बोध होता है। शिल्प का मैंने उसी व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है।

मानवशरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश पांच तत्त्वों से निर्मित होता है, हाथ, पैर, आंख, कान आदि उसके अंग-प्रत्यंग होते हैं। यदि शरीर का एक भी अंग-भंग है तो वह पूर्ण सुख से वंचित रहेगा। कथा का निर्माण भी अलग-अलग तत्त्वों के मेल से होता है। कथा के उन तत्त्वों में से यदि किसी तत्त्व का शिल्प-गठन कमजोर हुआ तो वही कथा का दोष बन जायेगा। दूसरे शब्दों में यह कि कथा के विभिन्न अंगों में सामंजस्य ही कथा को प्रभावोत्पादक और ग्राह्य बनाता है। कथा को विभिन्न तत्त्वों के माध्यम से, उसकी पूर्णता को समझने का एक शिल्प होता है। संस्कृत साहित्य-शास्त्रियों ने वस्तु, नेता और रस को कथा के तीन तत्त्व स्वीकार किये हैं। प्राकृत भाषा के वसुदेवहिण्डी नामक ग्रन्थ में कथा के छः अंगों का उल्लेख किया गया है :

१. कथोत्पत्ति—कथा की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका विवरण।
२. प्रस्तावना—कथा की पृष्ठभूमि।
३. मुख—कथा का आरम्भ।
४. प्रतिमुख—कथा के आरम्भोपरान्त फल की ओर गमन।
५. शरीर—कथा का विकास और प्राप्ति, प्रयत्न और नियताप्ति की स्थिति।

६. उपसंहार—फल की प्राप्ति।[1]

पउमचरिय में चरित के अवयवों की संख्या सात मानी गई है और इन अवयवों की पूर्णता के ऊपर ही चरित की सम्पूर्ण स्थिति निर्भर करती है। वे सात अवयव इस प्रकार हैं :

१. स्थिति—देश, नगर, ग्राम आदि का वर्णन।
२. वंशोत्पत्ति—वंश, माता-पिता, ख्याति आदि का वर्णन।
३. प्रस्थान—विवाह, उत्सव, राज्याभिषेक प्रभृति का वृत्तांत।
४. रण—राज्यविस्तार या राज्य-संरक्षण के लिए युद्ध।
५. लवकुशोत्पत्ति—साधारण क्षेत्र में या अन्य चरितो में सन्तानोत्पत्ति।
६. निर्वाण—संसार में विरक्ति, आत्मकल्याण में प्रवृत्ति एवं धर्मदेशना श्रवण या वितरण आदि का निरूपण।
७. अनेक भवावली—अनेक भवावलियों का वर्णन, भवान्तर या प्रासंगिक कथाओं का सघन वितान।

कथा के उपर्युक्त अंग-विवेचन से यह स्पष्ट है कि कथा की पूर्णता और अपूर्णता इन्हीं कथा-तत्त्वों अथवा अंगों पर निर्भर करती हैं। हिन्दी साहित्य के समीक्षकों ने कथा के कथानक, पात्र, कथोपकथन या संवाद, वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य छः तत्त्व माने हैं। कहानी, नाटक, उपन्यास और कथाकाव्यों की समीक्षा की कसौटी के लिए भी यही छः तत्त्व स्वीकृत हैं। कथा के निर्माण के लिए कथानक का होना अनिवार्य शर्त है। स्पष्ट है कि कथावस्तु ही नहीं होगी तो कथा का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। कथावस्तु के लिए कथानियोजन का चातुर्य आवश्यक है। यह कथाकार की क्षमता पर निर्भर करता है। साहित्य समाज का दर्पण इसीलिए कहा गया है कि लेखक गतिमान् संसार से ही कथावस्तु का नियोजन करता है और उसे समाज के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है। कथानक में घटनाओं और परिस्थितियों की कुतूहलपूर्ण योजना ही कथा की महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है। अपभ्रंश साहित्य के कथाकारों ने भविसयत्तकहा, पउमचरिउ, करकंडुचरिउ, जसहरचरिउ आदि रच-

---

१. वसुदेवहिण्डी, प्रका०—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, पृ० १.

नाओं के कथा-संगठन में अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। कथा की सफलता कथानक के प्रयोग या उसके विकास पर ही निर्भर करती है। कथावस्तु की रोचकता के लिए आवश्यक है कि उसमें प्रयुक्त घटनाएँ अस्वाभाविक न हों, इसीलिए कथानक में घटनाओं के स्वाभाविक विकास और प्रवाह का विशेष ध्यान रखा जाता है। प्रायः कथानक दो प्रकार के होते हैं : (१) साधारण अथवा स्थूल कथानक, (२) जटिल अथवा सूक्ष्म कथानक।

साधारण या स्थूल कथानक में चरित्र-चित्रण पर लेखक का ध्यान स्वभावतः नहीं पहुँच पाता, वह घटनाओं की परिधि में ही घिर जाता है। सूक्ष्म कथानकों में चरित्रोद्घाटन और मनोविश्लेषण के लिए पर्याप्त स्थान रहता है। वहां वातावरण के सर्जन में घटनाओं को भरा नहीं जाता। कथावस्तु में कथानक के विकास की पाँच स्थितियाँ होती हैं— शीर्षक, प्रारम्भ, आरोह, मध्यबिन्दु और अन्त। कथा के शीर्षक का चुनाव करना भी एक कला है। कुछ कथाओं के शीर्षक उनके प्रधान पात्रों अथवा नायकों के नाम से मिलते हैं और कुछ 'प्रधान पात्राओं के नाम पर। अपभ्रंश में अधिकांश कथाएं नायकों के नाम से ही हैं। हिन्दी प्रेमाख्यानकों में, विशेषकर सूफ़ियों में, नायिकाओं के नाम पर ही कथाओं के शीर्षक रखे गए, जैसे—पद्मावती, मृगावती, मधुमालती, कनकावली, पुहुपावती, रतनावली, कंवलावती आदि। लगता है यह भी कालगत रूढ़ि ही चली आई थी। कुछ कथाओं के शीर्षक विषय के आधार पर भी रखे जाते हैं।

दूसरा कथा-तत्त्व पात्रों के निर्माण का है। कथावस्तु को सजीव बनाने के लिए पात्रों का होना नितान्त आवश्यक है। पात्रों के निर्माण में कथाकारों को स्वाभाविक, सजीव और कथा के अनुकूल पात्रों का चुनाव करना होता है। विशिष्ट कथाकार की प्रमुख विशेषता यही है कि वह कथा में ऐसे जीवन्त पात्रों का चुनाव करे कि वे परिस्थितियों के अनुकूल हों।

पात्रों के निर्माण का प्रश्न जहां समाप्त हुआ वहीं कथोपकथन का प्रश्न प्रारम्भ होता है। घटनाक्रम को आगे बढ़ाने के लिए तो कथोपकथन का होना आवश्यक है ही, कथा में रोचकता और प्रभावना लाने के लिए

भी उसका होना आवश्यक है। कथोपकथन से ही कथा में कुतूहल तत्त्व का समावेश होता है।

वातावरण देश, काल और परिस्थिति के अनुकूल होना चाहिए। पात्रों और घटनाओं को वातावरण के साथ मेल खाना चाहिए। क्योंकि वातावरण का सीधा सम्बन्ध पात्रों, घटनाओं और परिस्थितियों से ही होता है। वातावरण की कल्पना दो प्रकार की कीगई है : १. बाह्य, २. आभ्यन्तर। बाह्य वातावरण से तात्पर्य सामाजिक बाह्य स्थितियों से है। आभ्यन्तर वातावरण मानसिक विचारधारा का बोध कराता है। यों दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं।

कथा-तत्त्वों में भाषा-शैली को सर्वाधिक महत्त्व देना चाहिए। कथा पाठक को तभी आकर्षित कर सकती है जब वह बोधगम्य हो। न तो इतनी दुरूह और नीरस हो कि पाठक उसे देखकर ही छोड़ दे और न इतनी चटकीली ही हो। भाषा बोधगम्य, प्रवाहपूर्ण और युगानुरूप होगी तभी वह पाठक को आकर्षित कर सकेगी। भाषा स्वाभाविक हो और पाठक की कुतूहल वृत्ति को जाग्रत करने की क्षमता रखती हो यही उसकी कथागत विशेषता होगी। रसरतन की भाषा में यह गुण है।

अंतिम कथा का तत्त्व उद्देश्य है। ऐसा लोकव्यवहार में देखा जाता है कि निरुद्देश्य कोई कार्य नहीं किया जाता। तब कथाएँ क्यों निरुद्देश्य लिखी जाने लगीं? "सकल शृङ्गारों से युक्त कन्यालाभ ही कथा का उद्देश्य है" यह आचार्य रुद्रट का मत है किन्तु हिन्दी प्रेमाख्यानकों में इसे ही एकमात्र उद्देश्य नहीं माना गया है। कन्यालाभ मनुष्य के पुरुषार्थों में सिर्फ काम के साथ सम्बद्ध है। भारतीय प्रेमाख्यानकों में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की सम्यक् सिद्धि पर भी ध्यान दिया गया है। कथा में रस के लिए कन्या-प्रसंग पर ज़ोर अवश्य ही ज्यादा दिया जाता है। अपभ्रंश-प्राकृत प्रेमाख्यानकों में भी कन्यालाभ से ही मात्र उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। यहाँ दोहरी स्थिति उपस्थित हो जाती है—या यों कहें कि कन्यालाभ तो होता ही है, धर्मलाभ भी होता है। इसका मूलभूत कारण यह है कि प्राकृत-अपभ्रंश के प्रेमाख्यानक हों अथवा अन्य ग्रन्थ, प्रायः ही जैनों द्वारा जैन सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए रचे गये। अतः कथानक चाहे जिस ढंग के रचे गये, वहाँ व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष-

प्राप्ति ही माना गया। ये ग्रन्थ तब प्रेमाख्यानकों की साहित्यिक कोटि में कैसे रखे जा सकते हैं? इस प्रसंग में इतना कहना पर्याप्त होगा कि जैनाचार्यों ने, सुन्दर अलंकारों से विभूषित, सुस्पष्ट मधुरालाप और भावों से नितान्त मनोहर तथा अनुरागवश स्वयं ही शय्या पर उपस्थित नववधू की तरह सुगम, सुश्राव्य, मधुर, सुन्दर शब्दावली से गुम्फित, कौतूहलयुक्त, सरस और आनन्दानुभूति उत्पन्न करने वाली कथा होती है[1], यह परिभाषा दी है। इन सब मूल्यों के रहते उद्देश्य में यदि प्रायः सभी एक ही तरह के उद्देश्यों को लेकर रचनाओं का अन्त करने की परम्पराओं में बँधे हैं तो भी हमारे साहित्यिक स्तर में उनसे कोई बाधा नहीं आती। द्रष्टव्य यह है कि अपभ्रंश की उद्देश्य वाली परम्परा से हिन्दी के सभी प्रेमाख्यान अछूते रहे ऐसी बात भी नहीं है। कथातत्त्वों के निरूपणोपरान्त कथानियोजन पर एक दृष्टिपात आवश्यक है।

चित्रकार किसी चित्र को तूलिका आदि लेकर अकस्मात् नहीं रच डालता, अपितु चित्र का खाका प्रथम मस्तिष्क में और तब चित्रपटल पर उंकेरता है। भवनशिल्पी भी भवन-निर्माण के पूर्व भवन का मानचित्र बनाता है। इसी प्रकार कथाकार कथानियोजन करता है। यहाँ यह विचार करना अपेक्षित नहीं कि नियोजन की क्या प्रक्रिया होती है। प्रक्रिया तो कथाकार के ऊपर निर्भर करती है। वह चाहे कल्पित कथानक गढ़कर कथा को रूप दे, चाहे तो ऐतिहासिक घटना को कथा का आधार बनाये अथवा लोक-वार्ताओं को कथा में ढाल दे और वह सभी से कुछ न कुछ ग्रहणकर एक नया आयोजन प्रस्तुत करे। तात्पर्य यह कि कथाकार को कथा के लिखने के पूर्व उसका नियोजन करना आवश्यक है। चेखव का कथन है कि 'यदि कोई कलाकार मुझसे बिना किसी नियोजन के कहानी लिखने की शेखी के साथ केवल प्रेरणा से

---

१. सालंकारा सुहया ललिय-पया मउय-मंजु-संलावा।
सहियाण देइ हरिसं उव्वूढा णव-वहू चेव॥
सुकइ-कहा-हय-हियमाण तुम्ह जइ विहुण लग्गए एसा।
पोढा-रयाओ तह वि हु कुणइ विसेसं णव-वहुव्व॥

—कुवलयमाला, पृ० ४.

कहानी लिखने का दम भरता है तो मैं उसे झक्की कहूंगा ।' यदि कथाकार कथानियोजन को स्वीकारता है तो उसकी कोई कमजोरी नहीं है। कविता, मुक्तक या गीत बिना नियोजन के एक उद्गाररूप में सामने आ सकते हैं। फिर भी उसमें किसी न किसी बाह्य या अन्तस्थ सूक्ष्म नियोजना को स्वीकार करना ही होगा। जॉयस केरी का मत है कि लेखक लिखने के पूर्व अपने से पूछता है कि 'मुझे कैसे चरित्रों की आवश्यकता है ? प्रमुख पात्र किस प्रकार के हों ? पृष्ठभूमि क्या हो ? सामान्य योजना क्या हो ? यहाँ तक कि यदि वह कथा प्रारम्भ करते समय कथावस्तु का नियोजन नहीं करता तो भी अपने पात्रों के चुनाव में तथा क्रियात्मक प्रणाली के लिए एक सामान्य विचार तो स्थिर करता ही है ।'[2]

कथा की परिभाषा के सम्बन्ध में प्रबन्ध के प्रास्ताविक में रुद्रट की मान्यता का मैंने उल्लेख किया था। वे मानते हैं कि कथा के प्रारम्भ में इष्ट देव-गुरु आदि को नमस्कार करने के बाद अपने कुल का और कर्ता का उल्लेख करना चाहिए। कथा का उद्देश्य सकल शृङ्गार से युक्त कन्याप्राप्ति है। अस्तु, इस परिभाषा के अनुसार प्रेमाख्यानकों को देखने से लगता है कि अधिकांश ने अपनी कथा-नियोजन की यही प्रणाली रखी है। पुहकर ने अपनी रचना रसरतन को 'दंतकथा' कहा है। जैसा कि इस संदर्भ में पहले कह दिया गया है कि कथा का नियोजन काल्पनिक आधार पर किया गया है अथवा ऐतिहासिक या इतिहास और कल्पना के

1. "...If an artist boasted to me of having written a story without a previously settled design, but by inspiration, I should call him a lunatic."—Novelist on the Novels.

2 "He asks himself to start with 'what character shall I need? What kind of leading characters? What background? What general scheme?' Even if he does not design a plot to begin with, he forms, and has to form, a general idea of working out in action of his choice of characters". —Joyce Cary, Art and Reality, p. 96.

मेल से—यह लेखक के ऊपर निर्भर है। 'दंतकथा' से मतलब काल्पनिक कथा से होता है। पुहकर कहते हैं :

पहले दंत कथा हम सुनी। तिहि पर छंद वंद हम गुनी।
अवनन सुनी कथा हम थोरी। कछुवक आप उकति ते जोरी॥
—आदिखंड, ८८.

रुद्रट की परिभाषा के अनुसार 'रसरतन' कसौटी पर खरा उतरता है। आदि में पुहकर ने देवता के त्रिरूप की वंदना की है :

अगुन रूप निर्गुन निरूप बहुगुन विस्तारन।
अविनासी अवगति अनादि अप अटक निबारन॥
घट घट प्रगट प्रसिद्ध गुप्त निरलेख निरंजन।
तुम त्रिरूप तुम त्रिगुन तुमहि त्रैपुर अनुरंजन॥

गणेश आदि देवताओं की वंदना के बाद इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण किया है :

प्रथम सेष अरु व्यासुदेव सुषदेवहं पायौ।
बालमीक श्रीहर्ष कालिदासहं गुन गायौ॥
माघ माघ दिन जेमि वांन जयदेव सुदंडिय।
भानदत्त उदयेन चंद वरदाइक चंडिय॥
यं काव्य सरस विद्या निपुन वाकवानि कंठह धरन।
कविराज सकल गुन गन तिलक सुकवि पोहकर वंदत चरन॥
—आदिखण्ड, १२.

इसके बाद कथा के शीर्षक का नामकरण करके छत्रसिंहासन का वर्णन किया है। इसमें जहाँगीर की प्रशस्ति है।[1] तदुपरान्त कविकुल का सविस्तार वर्णन है।[2] तब कथाप्रसंग के उल्लेख के साथ कवि कथानक की ओर अग्रसर हुआ है। कथा में प्रेम, अपहरण, विवाह, बिछोह, बारहमासा आदि की रचना उल्लेखनीय ढंग से हुई है। कन्या-लाभ को पुहकर स्वयं फल के रूप में स्वीकार करते हैं :

१-२. रसरतन, सं०—डा० शिवप्रसाद सिंह, पृ० ५-६.

जिहि कारन भव दधि मथ्यौ, अरु दुष सह्यो अपार।
जप तप सो त्रिय पाइ कै, त्रिपित भये तिहि बार ॥ स्वयंवरखंड, ३२६.

किन्तु रसरतन का कथाकार रुद्रट की परिभाषा में ही बंधा नहीं रहता। वह अन्त में अद्वैतदर्शन के आधार पर सृष्टि, जीव और मुक्ति का रहस्य समझाता है। इस पूरी कथा को एक आध्यात्मिक अर्थ दे देने का संकेत भी करता है।

सूफ़ी प्रेमाख्यानकों में भी कथानियोजन की दृष्टि से कोई मौलिक अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। यहाँ कतिपय उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जायेगी। चन्दायन में काव्य के आरम्भ में सृष्टिकर्ता की स्तुति की गई है :[1]

पहिले गावउं सिरजनहारा। जिन सिरजा इह देवस बयारा ॥१॥
सिरजसि धरती और अकासू। सिरजसि मेरु मंदर कबिलासू ॥२॥

इसके बाद पैगम्बर की स्तुति इस प्रकार की है :[2]

पुरुख एक सिरजसि उजियारा। नाँउ मुहम्मद जगत पियारा ॥१॥
सहिं लगि सबै पिरिथिमी सिरी। औ तिह नाँउ मौनदी फिरी ॥२॥

चार यार का उल्लेख :[3]

अबाबकर उमर उसमान, अली सिंघ ये चारि ॥६॥
जे निदतु विज तिस, तुरहि झाले मारि ॥७॥

शाहेवक्त फिरोजशाह की सराहना :[4]

साहि फिरोज दिल्ली बड़ राजा। छात पाट औ टोपी छाजा ॥१॥
एक पण्डित औ है पडिव्राहा। दान अपुरिस सराहै काहा ॥२॥

गुरु-प्रशंसा :

सेख जैनदी हों पथिलावा। धरम पन्थ जिह पाप गंवावा ॥१॥
पाप दीन्ह मैं गांग बहाई। धरम नाव हौं लीन्ह चढ़ाई ॥२॥

तदनन्तर नगरवर्णन से कथा आरम्भ होती है। इसी तरह मंझनकृत मधुमालती में भी प्रथम ईश्वर की वन्दना है—१-७ तक।

१-४. चन्दायन, सं०—डा० परमेश्वरीलाल गुप्त, पृ० ८१-८२.

मुहम्मद साहब की प्रशंसा :

मूल मुहम्मद सभ जग साखा। विधि नौ लाख मदुक सिर राखा॥
ओहि पटतर दोसर कोइ नाहीं। वह सरीर यह सभ परिछाहीं॥
ऊंचै कहौं पुकारि कै जगत सुनै सभ कोई।
परगट नाउं मुहम्मद गुपुत जो जानिय सोइ॥८॥

चार यार का उल्लेख :

अब सुनु चहूं मींत कै बाता। सत नियाउ सास्तर के दाता॥
प्रथमहि अबाबकर परवानां। सत गुर बचन मंत जिय जाना॥
दूजें उमर नियाउ के राजा। जेइं सुत पितैं हना बिधि काजा॥
तीजें ठाउं राउ उसमाना। जेइं रे भेद बेद का जाना॥
चौथें अली सिंघ बहु गुनी। दान खरग जेइं साधी दुनी॥९॥

शाह सलीम शाहेवक्त के वर्णन के बाद गुरु की स्तुति इस प्रकार है :

सेख बड़े जग बिधि पियारा। ज्ञान गरुअ औ रूप अपारा॥
संवरि नाउं परसै जौ आवै। ज्ञान लाभ होइ पाप गंवावै॥
गुरु दरसन दुख धोवन धनि धनि दिस्टि जो भाउ।
जो गुरु सिक्ख दिस्टि प्रतिपालै सो चारिहुं जुग राउ॥१४॥

इसके बाद पीर औलिया आदि की प्रशंसा के बाद नगरवर्णन से कथा प्रारम्भ होती है। इन उदाहरणों को देने का उद्देश्य सिर्फ इतना है कि इसी ढंग पर मिरगावती, पद्मावत, चित्रावली आदि सभी प्रेमाख्यानकों में कथानियोजन का ढंग रहा है।

सभी कथाएँ अपने-अपने विषयानुकूल परिस्थितियों में ढले रहने पर भी एक ही क्रम से आगे बढ़ती हैं। प्रायः ही राजा या रानी अथवा दोनों निःसन्तान होने के कारण दुःखी रहते हैं। भगवद्भक्ति अथवा किसी महात्मा की कृपा से पुत्ररत्न या कन्यारत्न की प्राप्ति होती है। पुत्रोत्पत्ति पर नाना ज्योतिषाचार्य जुटते हैं। पुत्र अत्यधिक भाग्यवान् होता है परन्तु विरह का दुःख उसके भाग्य में लिखा रहता है जो अपनी अवधि में समाप्त हो जायेगा आदि भविष्यवाणियाँ की जाती हैं। भविष्यवाणियाँ सच घटित होती हैं।

चन्दायन में लोरक ने चन्दा को पाने के लिए योगी का वेश धारण किया तो पद्मावत में रतनसेन पद्मावती के लिए योगी बना। मधुमालती में मनोहर ने अपनी प्रेयसी को पाने के लिए योग रमाया और चित्रावली में सुजान भी योगी बनता है। इस तरह के प्रायः ही समान प्रसंग प्रेमाख्यानकों के कथा-नियोजन में मिलते हैं। अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश चरित-कथाकाव्यों की पृष्ठभूमि में प्रणीत हिन्दी प्रेमाख्यानकों में कथाभिप्रायों की भी कमी नहीं है। वास्तव में किसी भी कथा के कथानक को गति प्रदान करने में 'अभिप्राय' अथवा कथानकरूढ़ि अद्वितीय साधन है।

वर्तमान में हम जिस 'कथाभिप्राय' शब्द का प्रयोग करते हैं साहित्य-शास्त्र में उसे 'कविसमय' कहा गया है। राजशेखर ने अशास्त्रीय, अलौकिक और परम्परागत जिन अर्थों को कवि उपनिबन्धित करते हैं—कविसमय की संज्ञा दी है।[1] 'कथाभिप्राय' के सन्दर्भ में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि अभिप्राय सर्वथा असत्य या अशास्त्रीय नहीं होते। प्रतीकरूप में प्रयुक्त अभिप्राय अपना निजी मूल्य रखते हैं। मूलतः 'कथाभिप्राय' का प्रयोग हिन्दी में 'मोटिफ' के लिए किया जाता है। शिप्ले के अनुसार 'अभिप्राय' वह शब्द या ढाँचे में ढला विचार है जो समान परिस्थितियों में या समान मनःस्थिति उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा विभिन्न कृतियों में पुनः-पुनः आता है।[2] इस परिभाषा को युक्तिपूर्ण कहना संगत होगा। 'अभिप्राय' कथानक में घटनाक्रम के अनुसार कथा में नया मोड़ लाने के लिए अथवा चमत्कार दिखाने के लिए भी प्रयुक्त किये जाते हैं। 'अभिप्राय सबसे छोटा, पहचान में आने वाला तत्त्व है जो कि एक सम्पूर्ण कहानी का निर्माण कर देता है।'[3]

---

१. अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबन्धन्ति कवयः स कविसमयः।—काव्यमीमांसा, पृ० १९०.

2. 'Motif—A word or a pattern of thought which recurs in a similar situation or to evoke a similar mood within a work or in various works of a genre.'—T. Shiple, Dictionaryof Woıld Literature, p. 274.

3. The motif is the smallest recognizable element that goes to make up a complete story.—Ibid., p. 247.

हिन्दी-जगत् में कथानक-रूढ़ियों के प्रथम प्रस्तोता हैं आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी। ऐतिहासिक चरितकाव्यों के प्रसंग में आचार्य जी ने लिखा है—'ऐतिहासिक चरित का लेखक संभावनाओं पर अधिक बल देता है। सम्भावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ कि हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय दीर्घकाल से व्यवहृत होते आ रहे हैं जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और आगे चलकर कथानक-रूढ़ि में बदल जाते हैं।'[1] कथानकरूढ़ि के स्रोतों के रूप में लोक-साहित्य या लोककथाओं को स्वीकार किया जा सकता है। ब्लूमफील्ड, पेंजर, बेनिफी, टानी, वेबर, ब्राउन आदि विद्वान् ऐसे हैं जिन्होंने भारतीय कथानक-रूढ़ियों का विस्तृत विवेचन किया है। कथाभिप्रायों पर विशेष विचार हम अपभ्रंश कथाओं की कथानक रूढ़ियों का विश्लेषण करते समय अगले अध्याय में करेंगे। कथाभिप्राय विषय की दृष्टि से घटनाप्रधान अथवा लोकविश्वासों पर आधारित और विचारप्रधान अथवा कवि-कल्पित दो प्रकार के होते हैं। इन्हीं से अनेकों उपभेद हो जाते हैं।

रासो की कथानकरूढ़ियों पर विचार करते समय आचार्य हजारी-प्रसाद जी ने जिन कथाभिप्रायों का उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं :

१. कहानी कहने वाला सुग्गा, स्वप्न में प्रिय का दर्शन, चित्र देखकर, भिक्षुओं आदि से सौन्दर्यवर्णन सुनकर किसी पर मोहित होना, २. मुनि का शाप, ३. रूप-परिवर्तन, ४. लिंग-परिवर्तन, ५. परकाय-प्रवेश, आकाश-वाणी, ६. अभिज्ञान या सहदानी, ७. परिचारिका का राजा से प्रेम और अन्त में उसका राजकन्या और रानी की बहन के रूप में अभिज्ञान, ८. नायक का औदार्य, ९. षड्ऋतु और बारहमासा के माध्यम से विरह-वेदना, १०. हंस-कपोत आदि से संदेश भेजना, ११. घोड़े का आखेट के समय निर्जन वन में पहुँच जाना, मार्ग भूलना, मानसरोवर पर किसी सुन्दर स्त्री या उसकी मूर्ति का दिखाई देना, फिर प्रेम और प्रयत्न, १२. विजयवन में सुन्दरियों से साक्षात्कार, १३. युद्ध करके शत्रु से या मत्त हाथी के आक्रमण से या कापालिक की बलिवेदी से सुन्दर स्त्री का

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७४.

उद्धार या प्रेम, १४. गणिका द्वारा दरिद्र नायक का स्वीकार और उसकी माता द्वारा तिरस्कार, १५. भरण्ड और गरुड़ आदि के द्वारा प्रिय युगलों का स्थानान्तरण, १६. पिपासा और जल की खोज में जाते समय असुर-दर्शन और प्रियावियोग, १७. ऊजड़ नगर, १८. प्रिया की दोहद कामना की पूर्ति के लिए प्रिय का असाध्य साधन का संकल्प, १९. शत्रु-संतापित सरदार को उसकी प्रिया के साथ शरण देना और फलस्वरूप युद्ध इत्यादि।[1] नीचे कतिपय प्रेमाख्यानकों की कथानक-रूढ़ियों अथवा कथाभिप्रायों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है :

चन्दायन (दाऊद) की कथानक-रूढ़ियाँ

१. ईश्वर-वंदना : मुहम्मदसाहब, चारमीत, शाहेवक्त दिल्ली सुलतान फीरोजशाह की प्रशस्ति आदि।

२. वस्तु-वर्णन के अन्तर्गत नगर तथा उसमें अमराइयों, सरोवरां, मन्दिर, नगर की खाईं, दुर्ग आदि का वर्णन।

३. पुरुषत्वहीन पति को छोड़कर परपुरुष के साथ भागना।

४. परस्त्री को अन्य पुरुष का भगा ले जाना : चाँद लोरक को भागने के लिए तैयार करती है।

५. रूप-गुणजन्य आकर्षण : चन्दायन में रूपचन्द ने जब बाजिर से चाँद की प्रशंसा सुनी तो वह व्याकुल हो उठा और उसे प्राप्त करने की चेष्टा में लग गया।

६ नायिका का अपहरण : लोरक चाँद को मंदिर में छोड़ स्वयं बाजार चला जाता है तभी टूँटा अवसर का लाभ उठाता है और चाँद को सम्मोहित करके उसका अपहरण कर लेता है।

७. पत्नी के सतीत्व की परीक्षा : लोरक हरदीपाटन से लौटने पर मैना के सतीत्व को परखता है।

८. प्रवासी पति के वियोग में पत्नी का क्षीण हो जाना : मैना लोरक के विरह में (निसदिन झुरवइ आस बैआसी) रात-दिन झुरसती है।

९. नायक का योगी के वेष में भटकना : चन्दायन में विरस्पत के कथनानुसार लोरक जोगी बनकर मंदिर में जा बैठा। वह एक वर्ष तक मंदिर की सेवा और चाँद के प्रेम की कामना करता रहा।

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७४-७५.

१०. किसी दैवी शक्ति या गुनी द्वारा नायिका की प्राण रक्षा : चन्दायन में चाँद को दो-दो बार साँप डंसता है, परन्तु गुनी आकर उसके प्राणों की दोनों बार रक्षा करता है।

मंझनकृत मधुमालती की कथानक-रूढ़ियां

१. मंगलाचरण रूप में स्तुति, मुहम्मद साहब, चारमित्र आदि की प्रशंसा। दुर्जन-निन्दा, सज्जन-प्रशंसा।

२. कनेगिरगढ़ नामक नगर का वर्णन।

३. सन्तानहीन राजा सूरजभान का एक तपस्वी की १२ वर्ष की सेवा के बाद सन्तानोत्पत्ति।

४. भविष्यवाणी : राजा को पुत्रोत्पन्न हुआ, उसके विषय में ज्योतिषियों ने भविष्यवाणियाँ कीं।

५. राजकुमार को शय्यासहित अप्सराओं द्वारा उठा ले जाना. राजकुमार मनोहर जब लगभग १५ वर्ष के हुए तो अप्सराओं ने उनके सौन्दर्य के अनुरूप कन्या दिलाने की सोचकर उन्हें मधुमालती के शयनागार में उनको शय्यासहित पहुँचा दिया।

६. पूर्वानुराग : मनोहर और मधुमालती ने एक-दूसरे को देखकर पूर्वभव से परिचित होने का स्मरण कर लिया और प्रेमासक्त हुए।

७. अभिज्ञान : दोनों ने आपस में मुद्रिकाएं बदल लीं और सो गए।

८. शय्याओं का पुनः यथास्थान पहुँचाना : संयोग के बाद अप्सराओं ने पुनः राजकुमार को उनकी शय्यासहित घर पहुँचा दिया।

९. नायक का योगी वेष धारण करना : मनोहर ने मधुमालती की खोज करने के लिए योगी का वेष धारण किया।

१०. जलयान का टूटना और नायक का बचना : कुमार मधुमालती की खोज में चलते-चलते समुद्रतट पर पहुँचे और सदल-बल जलयान पर बैठे। जलयान समुद्र की भंवर में पड़कर टूट गया। उसमें से कुमार दैवी-दृष्टि से बच गए और एक घने जंगल के पास समुद्र के किनारे जा लगे।

११. असम्भावित घटना द्वारा सहायता : वन में आगे बढ़ने पर मधुमालती की सखी राजकुमारी से भेंट और उसके द्वारा मधुमालती का पता बताना।

१२. प्रेमबाधक तत्त्व : वन में राक्षस से युद्ध और राक्षस का मारा जाना।

१२. राक्षस का प्राण किसी अन्य वस्तु में : राक्षस का प्राण इस कथा में एक अमृतवृक्ष में दिखाया गया है।

१४. नायिका का पक्षी बन जाना और पुनः नायक का भटकना : इस कथा में मधु की माँ ने प्रेमा के घर पर मनोहर और मधु को मिलते देख लिया था अतः लोकभय से मधु को पानी छिड़ककर पंछी बना दिया।

१५. उपनायक की सहायता से मधु पक्षी के रूप से पुनः पूर्ववर्ती नारी रूप धारण करती है।

१६. बारहमासा : मधु ने संदेशवाहकों से अपना दुःख कहलाया और अपने बारहमास का दुःख भी कहा।

जायसीकृत चित्ररेखा की कथानक-रूढ़ियां

१. ईश्वरस्तुति, पीर, गुरु, मित्र आदि की प्रशस्ति।

२. बाह्याडम्बरों का खण्डन।

३. राजा चन्द्रभानु के यहाँ गुणवती चित्ररेखा की उत्पत्ति, ज्योतिषियों की भविष्यवाणी कि यह कन्नौज की रानी होगी।

४. कन्नौज के राजा का निःसंतान होना। तपश्चरण के बाद पुत्रोत्पत्ति। परन्तु पुत्र के अल्पायु होने की ज्योतिषियों की घोषणा।

५. प्रीतमकुंवर का काशी के मार्ग में मृत्युभय से मूर्च्छित होना। सिंघनदेव का उसी मार्ग से अपने कुबड़े बेटे के विवाह के लिए जाना और प्रीतमकुँवर को कुबड़े बेटे के स्थान पर वर बनने को राजी करना।

६. सिंघनदेव ने उसे बीड़ा दिया। वर के रूप में विवाह किया। सातखंड के धौरहरे पर चित्ररेखा के साथ सुलाया गया। मृत्यु की याद आते ही चित्ररेखा की साड़ी पर लिखकर काशी जाना।

७. काशी में दान देते समय व्यास जी से अचानक "चिरंजीव" का आशीर्वाद।

८. चित्ररेखा के आत्मदाह की तैयारी और इसका आयु प्राप्त कर वहाँ पहुँचना तथा चित्ररेखा को पाना।

पदमावत में कथानक-रूढ़ियाँ

१. सिंहलदीप ।

२. संदेशवाहक शुक ।

३. शुक का पकड़ा जाना और चित्तौड़ के ब्राह्मण द्वारा खरीदना ।

४. ब्राह्मण से राजा द्वारा क्रय किया जाना ।

५. रानी द्वारा पद्मिनी के सौतरूप में आगमन की आशंका से शुक को मारने का असफल प्रयास ।

६. एक राजा द्वारा शुक से पद्मिनी का रूप-वर्णन सुना जाना और मोहित होना ।

७. राजा द्वारा पहली रानी, राज्यादि का त्यागकर शुक का अनुगमन करना ।

८. राजा नौका से सात समुद्र पार करता है ।

९. सिंहल के अगम्य गढ़ में रानी का निवास ।

१०. शिव-मंदिर में राजा की तपस्या और वसंतपंचमी के दिन पद्मिनी का आगमन ।

११. राजा का मूर्च्छित होना और पद्मिनी का राजा की छाती पर कुछ संदेश लिखकर जाना ।

१२. सुध आने पर राजा का दुःख ।

१३. राजा की प्रेम परीक्षा—पार्वती द्वारा ।

१४. महादेव जी द्वारा गढ़ का मार्ग बताना और सिद्धि प्रदान करना ।

१५. गढ़ पर चढ़ाई, अगाध कुंड में प्रवेश कर वज्र किवाड़ों को खोलना ।

१६. राजा का महल में पकड़ा जाना और सूली पर चढ़ाने का आदेश ।

१७. शिव-पार्वती का वेश बदलकर पद्मिनी के पिता को समझाना और उसका न मानना ।

१८. युद्ध की घोषणा, जोगी राजा की ओर से हनुमान, विष्णु और शिव को देख पद्मिनी के पिता का हार मानना ।

१९. पद्मावती रत्नसेन की हुई ।

२०. नागमती ने पक्षी द्वारा रतनसेन को अपना संदेश भेजा ।

२१. रतनसेन बहुत सामग्री और पद्मावती को लेकर सिंहल से विदा हुआ।

२२. समुद्र का याचक बनकर धन मांगना और राजा का निषेध।

२३. समुद्र में तूफान से अटककर जहाज लंका पहुँच गये जहां एक राक्षस भुलावा देकर एक अन्य समुद्र में ले गया।

२४. राक्षस का राजपक्षी द्वारा लेकर उड़ जाना।

२५. जहाज टूट गया, रतनसेन और पद्मावती अलग-अलग बह गये।

२६. पद्मावती को लक्ष्मी ने बचाया।

२७. लक्ष्मी का रतनसेन को लाने का आश्वासन।

२८. रतनसेन की समुद्र ने ब्राह्मण का वेश धारणकर सहायता की ओर जहाँ पद्मावती थी वहाँ ले गया।

२९. लक्ष्मी द्वारा रतनसेन की परीक्षा।

३०. समुद्र ने अमृत, हंस, सोनहा पक्षी, शार्दूल और पारस पत्थर देकर रतनसेन को विदा किया।

३१. लक्ष्मी के दिये बाड़े में रत्न लेकर लाव-लश्कर जगन्नाथ में खरीदा और चित्तौड़ को चले।

३२. नागमती को देव ने पति के आने की सूचना दी।

३३. एक महापंडित राघवचेतन ने आकर काव्य सुनाकर राजा को वश में कर लिया।

३४. राघव द्वारा यक्षिणी-सिद्धि से प्रतिपदा को दूज का चन्द्रमा दिखाया जाना और पंडितों का अपमान।

३५. राघवचेतन को देश-निकाला।

३६. राघवचेतन द्वारा पद्मिनी का दर्शन और उसका कंगन ग्रहण करना।

३७. पद्मिनी के रूप से वह बेहोश हो गया।

३८. राघव द्वारा अलाउद्दीन से पद्मिनी के सौन्दर्य का बखान और अमोल रत्नों की सूचना।

३९. अलाउद्दीन का रतनसेन को पत्र और रतनसेन द्वारा अस्वीकृति।

४०. घमासान युद्ध।

४१. कन्नौज के मलिक जहांगीर ने अलाउद्दीन के कहने पर नृत्य करती हुई एक नर्तकी पर बाण द्वारा प्रहार।

४२. अलाउद्दीन और रतनसेन में संधि।

४३. अलाउद्दीन चित्तौड़ देखने गया। झरोखे से पद्मिनी का दीखना और सुलतान का बेहोश हो जाना।

४४. गढ़ से लौटते हुए शाह ने राजा को धोखे से बन्दी बनाया।

४५. राजा देवपाल द्वारा पद्मिनी को फुसलाने के लिए दूती भेजी।

४६. दूती की असफलता और उसका निष्कासन।

४७. शाह द्वारा पातुर जोगिन दूती को पद्मावती के पास भेजना।

४८. जोगिन के कहने से पद्मावती तैयार हुई पर सखियों ने रोका।

४९. गोरा-बादल द्वारा रतनसेन को छुड़ाने का वचन।

५०. बादल की नव-विवाहिता पत्नी द्वारा उसे रोका जाना और उसका न रुकना।

५१. सोलह सौ डोलियाँ सजाई गईं जिनमें पद्मिनी की सखियों के स्थान पर सैनिक दिल्ली गये।

५२. शाह से पद्मिनी को सोलह सौ सखियों के साथ आगमन की सूचना देकर रतनसेन से प्रथम मिलने की आज्ञा प्राप्त करना।

५३. इस विधि से रतनसेन का छुड़ा लेना और रतनसेन का चित्तौड़ की ओर आना।

५४. बादल रतनसेन के साथ चित्तौड़ लौटा, गोरा ने शाह की सेना को रोका, युद्ध में मारा गया।

५५. राजा चित्तौड़ पहुंचा। पद्मावती द्वारा देवपाल की दूती का समाचार देना।

५६. राजा ने देवपाल पर चढ़ाई की और उसे मार डाला।

५७. राजा को देवपाल की सेल का घाव लग जाने से उसकी मृत्यु।

५८. नागमती व पद्मावती का सती होना।[1]

लक्ष्मणसेन-पद्मावती की कथानक-रूढ़ियाँ

(यह कथा सूफ़ी प्रेमाख्यानकों से भिन्न है)

१. प्रारम्भ में मंगलाचरणरूप में गणपति को नमस्कार किया

---

१. डा० सत्येन्द्र, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, पृ० २७९-८२.

गया है।

२. सिद्धनाथ नामक योगी कापालिक आकाश मार्ग से गमन करता और सर्वत्र उत्पात मचाता है।

३. पद्मावती नामक राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए उसने एक सौ राजाओं के शिरोच्छेदन का प्रण किया और सबका अपहरण करके अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक कुएँ में डाल दिया।

४. लक्ष्मणसेन को भी छल करके सिद्धनाथ ने कुएँ में डाल दिया।

५. लक्ष्मणसेन ने सभी राजाओं को मुक्त किया। इस पराक्रम से वह अत्यधिक थक गया और प्यास से व्याकुल हो जल की तलाश में सामोर नगर के पास एक सरोवर के तट पर पहुँचा। वहाँ पद्मावती के साक्षात् दर्शन से उसके प्रति आकृष्ट हुआ।

६. कवि ने पद्मिनी, चित्रणी, शंखिनी और हस्तिनी के भेद से स्त्रियों का परिचय कराया है।

७. पद्मावती के स्वयंवर में लक्ष्मणसेन ने ब्राह्मण के वेष में सभी राजाओं को परास्त करके पद्मावती का वरण किया।

८. योगी ने राजा से पद्मावती के प्रथम पुत्र की याचना की। पुत्रोत्पत्ति के बाद राजा का पुत्र के साथ योगी के पास पहुँचना। योगी के आदेशानुसार पुत्र के चार टुकड़े करना। कटे हुए टुकड़े चमत्कारिक ढंग से खड्ग, धनुष-बाण, वस्त्र और कन्या में परिवर्तित।

९. राजा का पागल होना और जंगल में जाना। एक धनकुबेर के लड़के की डूबने से रक्षा की और उसका कृपापात्र बना।

१०. धारानगर की राजकुमारी से प्रेम और विवाह।

चतुर्भुजदासकृत मधुमालतीवार्ता की कथानक-रूढ़ियाँ

१. मंगलाचरण के रूप में गणेश जी की वंदना।

२. राजा की पुत्री और उसी के मंत्री का पुत्र। दोनों का रामसरोवर पर जाना और एक-दूसरे के प्रति आकर्षण।

३. पुरोहित नंद के यहाँ राजकुमारी और मंत्रीपुत्र का पढ़ने जाना। गुरु की अनुपस्थिति में राजकुमारी मालती का पर्दा हटाकर मधु को देखना और उससे प्रेम-प्रस्ताव करना।

४. मधु द्वारा मालती को वैषम्य के विषय में मृग और सिंहनी की कथा द्वारा समाधान करना। परन्तु मालती का भी अपने पक्ष के समर्थन में दृष्टान्त देना।

५. मधु का हठ और नंद के यहाँ पढ़ना बंद करना।

६. मधु का गुलेल लेकर रामसरोवर पर विनोदार्थ जाने लगना। वहाँ नगर की अन्य स्त्रियों का पानी भरने के बहाने आना तथा मधु को चाहने लगना।

७. मालती भी अपनी सखी जैतमाल के साथ रामसरोवर आने लगी और व्यंग्य करने लगी।

८. मालती द्वारा मधु को पूर्वभव का स्मरण कराना।

९. मालती द्वारा मधु पर वशीकरण मन्त्रों का प्रयोग और गठ-बन्धन।

१०. नवदम्पति का वाटिका में रहने लगना और माली द्वारा राजा को सूचना। राजा ने दोनों के वध का निश्चय किया।

११. मालती ने भागने को सलाह दी। परन्तु मधु ने अस्वीकार किया और श्रीहरि, सूर्य और शंकर से प्रार्थना की। शंकरजी ने रक्षा का वचन दिया।

१२. राजा द्वारा वध का प्रयास, मधु द्वारा सभी निष्फल कर दिये गए।

१३. राजा ने पुनः विराट सेना भेजी। मालती ने केशव का स्मरण किया। केशव ने रक्षार्थं दो भारंड पक्षियों को भेज दिया। शिव-दुर्गा ने एक सिंह भेज दिया। इस प्रकार राजा की चर्म-मंडित सेना भी भाग गई।

१४. दुर्गा ने प्रकट होकर राजा की भूल बताई। राजा ने क्षमा-याचना की और मालती तथा जैतमाल का मधु के साथ विवाह किया।

छिताईवार्ता की कथानक-रूढ़ियाँ

१. चित्रकला के प्रदर्शन के लिए रामदेव राजा द्वारा नवीन प्रासाद में चित्रशाला का निर्माण कराया जाना। राजकन्या छिताई का चित्रशाला देखने आना। उसके सौंदर्य को देखकर चित्रकार का मूर्च्छित होना।

२. छिताई के पति सोरंसी का मृगया के लिए जाना। मृग भर्तृहरि के आश्रम में पहुँचा। उनके निषेध करने पर भी सोरंसी ने मृग को नहीं छोड़ा तो उन्होंने छिताई के अन्य पुरुष के वश में होने का शाप दे दिया।

३. चित्रकार छिताई का चित्र बादशाह अलाउद्दीन को दिल्ली जाकर दिखाता है। बादशाह उसे प्राप्त करने का उपक्रम करने लगता है।

४. देवगिरि के किले को अलाउद्दीन घेर लेता है। फिर भी तोड़ नहीं पाता। राघवचेतन मंत्रशक्ति से हंसारूढ़ पद्मावती का दर्शन करके किले के गुप्त भेदों को जान लेता है।

५. अलाउद्दीन द्वारा प्रेषित दूतियाँ छिताई को पथभ्रष्ट करने का असफल प्रयास करती हैं।

६. छिताई का सुरंग के मार्ग से "शिव-लिंग" पूजन के लिए जाना और अलाउद्दीन द्वारा अपहरण।

७. सोरंसी का योगीवेष धारण कर लेना। दिल्ली के निकटवर्ती वन में वीणा निनादित करना जिससे समस्त जीव-जन्तु मुग्ध होकर उसके पास आ गए।

८. एक वीणा, जिसे सोरंसी ही बजा सकता था, छिताई ने दिल्ली के प्रसिद्ध कलाकार गोपाल नायक के यहाँ रख छोड़ी थी। सोरंसी जब उसके यहाँ पहुँचा तो उसने वह वीणा बजा दी। छिताई को यह समाचार मिला। संगीत आयोजन में बादशाह द्वारा सोरंसी का परिचय प्राप्त होना और छिताई को उसे सौंपना।

रसरतन की कथानक-रूढ़ियाँ

१. मंगलाचरण, शाहेवक्त आदि की प्रशस्ति, दुर्जन-निन्दा, सज्जन-प्रशंसा आदि।

२ पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख।

३. ईश्वरोपासना से सन्तानहीन दंपति को पुत्रोत्पत्ति : राजा सोमेश्वर और पटरानी कमलावती को शिवाराधना से पुत्र उत्पन्न होता है।

४. स्वप्नदर्शन : रंभा को कामदेव सूरसेन के रूप में दर्शन देकर और उसी प्रकार रति रंभा के रूप में सूरसेन को स्वप्न दिखाकर आकृष्ट करती है।

५. आकाशवाणी : विरहाग्नि से रंभा की अवस्था क्षीण हो जाती है तभी आकाशवाणी होती है।

६. बारहमासा।

७. अभिज्ञान या सहदानी : वैरागर जाकर बुद्धिविचित्र चित्रकार सूरसेन को रंभा का चित्र दिखलाता है जिसे पहचानकर उसकी उन्मत्तावस्था दूर हो जाती है, उसी प्रकार सूरसेन के चित्र को देखकर रंभा अपने प्रिय को पहचान लेती है।

८. सूरसेन को मानसरोवर के किनारे से उठाकर अप्सराएँ ब्रह्मकुण्ड ले जाती हैं जहाँ वे अपनी शापित सखी कल्पलता का गन्धर्व रीति से विवाह रच देती हैं।

९. अप्सरा-नृत्य : सूरसेन अप्सरा पत्नी से विवाहोपरान्त उसकी सखियों का नृत्य देखता है।

१०. शिव-पूजा के बहाने रंभा सूरसेन से आकर मिलती है।

११. राजकुमार सूरसेन रंभा का पता लगाने को योगी-वेष धारण करता है।

१२. सूरसेन की वीणा से पशु-पक्षी मोहित हो जाते हैं। चंपावती की स्त्रियाँ वीणा सुनकर विपरीत आचरण करने लगती हैं।

१३. विद्यापति नामक शुक कल्पलता के विरह का संदेश लेकर चंपावती आता है।[1]

समयसुन्दरकृत मृगावती की कथानक-रूढ़ियां

१. जिनेन्द्र-स्तुति ।

२. रानी मृगावती को रक्त में स्नान करने का दोहद हुआ।

३. रक्त के स्थान पर राजा ने लाक्षारस से तालाब भर दिया। रानी ने उसमें स्नान किया।

४. रानी स्नान करके तालाब से बाहर निकली तभी गरुड़ पक्षी ने मांसपिंड समझकर उस पर झपट्टा मारा और ले उड़ा।

५. घने जंगल में गरुड़ ने रानी को छोड़ दिया। वहीं एक ऋषि के आश्रम में पुत्र उदयन उत्पन्न हुआ।

६. रानी ने उदयन को राजा के नाम से अंकित एक आभूषण पहना दिया। भील द्वारा पशु-वध किया जा रहा था। उदयन ने पशु को नहीं मारने दिया और उसके बदले में वह आभूषण भील को दे दिया।

---

१. डा० शिवप्रसाद सिंह, रसरतन की भूमिका, पृ० १०७.

७. भील आभूषण बेचते समय राजकर्मचारियों द्वारा पकड़ा गया और राजा के समक्ष ले जाया गया।

८. राजा ने भील से वृत्तान्त जाना और वह आश्रम जाकर मृगावती और उदयन को ले आया।

९. एक चतुर चितेरे ने मृगावती का चित्र बनाया तथा उस चित्र में मृगावती की जांघ पर तिल का चिन्ह अंकित किया।

१०. राजा को चित्रकार के आचरण पर संदेह हुआ अतः उसे भला-बुरा कहा।

११. चित्रकार ने बदले की भावना से मृगावती का एक चित्र उज्जैन के राजा चंडप्रद्योत को भेंट किया। राजा मोहित हो गया।

१२. चंडप्रद्योत ने मृगावती की माँग की। कौशाम्बी के राजा द्वारा माँग अस्वीकार कर दी गई। अतः घमासान युद्ध हुआ।

१३. अंत में मृगावती ने जैन मुनि से दीक्षा ले ली।

समीक्षा

उपर्युक्त प्रेमाख्यानकों में प्रयुक्त कथाभिप्रायों के सामान्य अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी प्रेमाख्यानकों में पक्षी—शुक, गरुड़, हंस आदि; दोहद—गर्भवती की इच्छा; स्वप्नदर्शन-चित्रदर्शन आदि द्वारा प्रेमोत्पत्ति; योगी का वेष धारण करना; दैवी सहायता; विरहवर्णन—बारहमासा आदि द्वारा; पहले सन्तानविहीन और तत्पश्चात् शिव-पार्वती या अन्य किसी की कृपा से सन्तानोत्पत्ति होना आदि आदि ऐसी कथानक-रूढ़ियाँ हैं जो प्रायः ही आदि से अंत तक के कथाकाव्यों में प्रयुक्त हुई हैं। एक और कथानकरूढ़ि वस्तुवर्णन के रूप में कथाओं में प्रयुक्त होती रही है जिसका उल्लेख भी आवश्यक है। अतः वस्तुवर्णन के विषय में विचार करेंगे।

'वस्तुवर्णन काव्य का, चाहे वह किसी विधा का काव्य हो, एक अविभाज्य अंग रहा है। भारतीय साहित्य में वस्तुवर्णन की सूक्ष्मता और रंगीनी एक स्तुत्य वस्तु रही है।' डॉ० शिवप्रसाद सिंह का यह कथन वस्तुवर्णन के महत्त्व को रेखांकित करता है। संस्कृत साहित्य के कथा-काव्यों का जिन लोगों ने अध्ययन किया है वह अवश्य ही वस्तुवर्णन के महत्त्व से परिचित होंगे। कवि या कथाकार की विस्तृत जानकारी का

परिचय कथाकाव्य के वस्तुवर्णन को देखकर ही लगाया जाता था। बाण का नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। परन्तु परवर्ती काल में वस्तु-वर्णन कर्ता को वस्तुओं के ज्ञानाज्ञान की समस्या नहीं रही। यह एक कविसमय जैसी चीज़ या रूढ़ परिपाटी हो गई और इसकी एक पद्धति ही बन गई। तब वस्तुओं की जानकारी के लिए कवि ने श्रम और ज्ञान में रुचि रखना विशेष आयश्यक नहीं समझा। यही कारण है कि कथाकाव्यों में वस्तुवर्णन के नाम पर घिसी-पिटी सामग्री ही सामने आती है। जो हो, वस्तुवर्णन के अन्तर्गत किस वस्तु का, किस ढंग से वर्णन किया जाये यह भी निश्चित कर दिया गया। उन्हीं मान्यताओं के अनुसार वस्तुवर्णन रूढ़ हो गया। मैंने प्रबन्ध के प्रास्ताविक में हिन्दी प्रेमाख्यानकों के शिल्प को निर्दिष्ट करने के लिए एक कसौटी का उल्लेख किया है। उसी के अन्तर्गत वस्तुवर्णन—नगर, वन, बाग, गिरि, ताल, सरिता, हाट, अश्व, गज, आयुध, सिंहासन इत्यादि—का अपना स्थान है। सभी प्रेमाख्यानकों का वस्तुवर्णन तो इस स्थान पर करना मेरे लिए असंभव होगा। अतः हिन्दी-प्रेमाख्यानकों में वस्तुवर्णन के अन्तर्गत आनेवाले तत्वों का आंशिक विवेचन करूंगा।

आचार्य जिनसेन (८वीं शताब्दी) ने आदिपुराण[1] में नगर-ग्रामों का सविस्तार वर्णन किया है। उन्होंने नगरों को खेट[2], खर्वट[3], मडम्ब[4], पत्तन[5] और द्रोणमुख[6] संज्ञाओं के अन्तर्गत रखा है। मानसार, समरांगण, मयमत, मानसोल्लास, हरिवंशपुराण, अग्नि, गरुड़ और मत्स्य पुराणों में इस संदर्भ में पिपुल सामग्री है। मानसार में नगर की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि 'जिस स्थान पर क्रय-विक्रयादि वस्तु-व्यापार होते हों, अनेक जातियों के लोगों और कर्मकारों का जहाँ निवास हो और जहाँ पर सभी धर्मावलम्बियों के देवायतन हों उसे नगर कहते

---

१. आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, १६. १६५-६८.
२. 'सरिद्गिरिभ्यां संरुद्धं खेटमाहुर्मनीषिणः' —वही, १६. १७१.
३. 'केवलं गिरिसंरुद्धं खर्वटं तत्प्रचक्षते' —वही.
४. 'मडम्बमामनन्ति ज्ञाः पंचग्रामशतीवृतम्' —वही, १६. १७२.
५. 'पत्तनं तत्समुद्रान्ते यन्नौभिरवतीर्यते'। — वही.
६. 'भवेद् द्रोणमुखं नाम्ना निम्नगातटमाश्रितम्' —वही, १६. १७३.

हैं।'[१] हिन्दी साहित्य में आचार्य केशवदास ने नगर-वर्णन में आवश्यक वस्तुओं की सूची इस प्रकार दी है :

खाई, कोट, अटा, ध्वजा, वापी, कूप तड़ाग।
वारनारि असती सती, वरनहु नगर सभाग ॥[२]

वन, बाग, तड़ागादि का वर्णन करते समय किन वस्तुओं का उल्लेख करना चाहिए, इसका भी निर्देश आचार्य केशव ने किया है।[३] वन-बाग एवं सरिता के उद्धरण इस प्रकार हैं :[४]

सुरभी, इभ, धन, जीव बहु, भूत, प्रेत भय भीर।
झिल्ल भवन, बल्ली, विटप, दव वरनहु मतिधीर ॥ ६ ॥

बाग-वर्णन :

ललित लता, तरुवर, कुसुम, कोकिल कलरव, मोर।
बरनि बाग अनुराग स्यों, भंवर भंवत चहुं ओर ॥ ८ ॥

सरिता-वर्णन :

जलचर हय गय जलज तट, यज्ञकुंड मुनिवास।
स्नान दान पावन नदी, बरनिय केशवदास ॥ १४ ॥

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि वस्तुवर्णन में रूढ़ियों का खुलकर प्रयोग हुआ है। जायसी ने पदमावत में मानसरोवर का वर्णन इस प्रकार किया है :[५]

---

१. 'जनैः परिवृत्तं द्रव्यक्रयविक्रयकादिभिः।
अनेकं जातिसंयुक्तं कर्मकारैः समन्वितम्।
सर्वदेवतसंयुक्तं नगरं चाभिधीयते।'

—मानसार, अध्याय १०, नगर विधान.

२. आचार्य केशवदास, कविप्रिया, ७. ४.

३. विस्तार के लिए आचार्य केशवकृत कविप्रिया देखिए.

४. कविप्रिया, ७. ६; ७. ८; ७. १४.

. पदमावत, सं०—वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३१–३२.

लंक दीप कै सिला अनाई। बांधा सरवर घाट बनाई॥
खंड खंड सीढ़ी भईं गरेरी। उतरहिं चढ़हिं लोग चहुँ फेरी॥
फूला कंवल रहा होइ राता। सहस सहस पंखुरिन्ह कर छाता॥
उलथहिं सीप मोति उतराहीं। चुगहिं हंस और केलि कराहीं॥
कनक पंखि पैरहिं अति लोने। जानहु चित्र संवारे सोने॥
ऊपर पाल चहुँ दिसि अंम्रित फर सब रूख।
देखि रूप सरवर कर गइ पिआस औ भूख॥
पानि भरइ आवहिं पनिहारीं। रूप सुरूप पदुमिनी नारीं॥
पदुम गंध तेन्ह अंग बसाहीं। भंवर लागि तेन्ह संग फिराहीं॥

छिताईवार्ता में सरोवर का वर्णन इस प्रकार मिलता है :

फटिक सिला बैठक अति बनी। छाजैं मौजें मंदिर तनी॥
चाप्यो घाट घटाए पाट। नीर भरैं सुन्दरि के ठाट॥
बाला अबला प्रौढा नारि। भरैं णीर न्यमल (निर्मल) पनिहारि।
तिन को रूपु बरनि को कहै। कहत कथा कछु अंतु न लहै॥
सोहैं कमल कमोदिनि पान। भंवर बास रस भूलहिं न्यान॥
निमसहिं हंस हंसिनी संग। भरे अनंद कुरंग कुलंग॥
क्रीलति चकई चक्क चकोर। बन के जीव गुंजरहिं मोर॥
ढेकि पंखि मटामरे घनै। जल कूकरी आरि अनगनै॥
सारिस बग्ग हंस उनहारि। निमसहि पंखि सरावर पारि॥
पुरइन कमल रहे जल छाइ। वहु फुलवारि रही महकाइ॥[1]

पुहुकरकृत रसरतन में सरोवर-वर्णन के कई प्रसंग आये हैं। जायसी ने जिस सरोवर के घाट और सीढ़ियों का वर्णन किया है वे मात्र लंका द्वीप से आये पत्थरों से निर्मित हैं। परन्तु पुहकर ने जिस सरोवर का वर्णन किया है उसके किनारे विद्रुम के और सीढ़ियाँ मरकत मणियों से निर्मित हैं :

अंगनि चौक फटिक मनि साजा। ता मधि अमल सरोवर राजा॥
विद्रुम पारि रची दिसि चारी। मरकत मनकी सिढ़ी संवारी॥
नाना बरन सरोवर सोहै। दिजकुल केलि करत मन मोहै॥
—वैरागर० १४०-१४१.

१. छिताईवार्ता, सं०—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ६३.

रसरतन में मानसरोवर की शोभा देखिए :

तहं मानसरोवर सोहनं । सुर नाग मनुज नर मोहनं ॥
सजि पारि चारिहु ओरई । मन युक्ति मरकत जोरई ॥
रंग अरुन बरनंहि मोहई । सित नील पीतति सोहई ॥
तिंहि तीर चहुदिसि काननं । चित चाह किय चतुराननं ॥
द्रुम साल ताल तमालनं । तहं करत षग वन पालनं ॥
जल मगन मनकुम पत्तनं । जिंहि मध्य मधुकर छत्तनं ॥
कलगुञ्ज गुञ्जत राजहों । जनु मान गंध्रप गाजहीं ॥

—विजयपाल० २३६-२३९.

चतुर्भुजदासकृत मधुमालतीवार्ता में मानसरोवर की शोभा मुनियों को भी लुब्ध करने वाली है :[1]

राम सरोवर ताल की सोभा कही न जाय ।
सेत वरण पंकज तिहां मुनिवर रहै लुभाय ॥
प्रफुलित कमल बास महमहै । बोपमा मानसरोवर लहै ॥
अबला किती इक पानी भरै । चित्रवत कुंभ सीस तें परै ॥
रीतै कलस हाथ तें गिरै । भूली मानुं बिना व्रत भरै ॥ इत्यादि ।

उपर्युक्त कतिपय प्रेमाख्यानकों से उद्धृत सरोवरों के वर्णनों से सहज ही में पता लगाया जा सकता है कि इनमें कितना साम्य है । रूढ़ि हो जाने के कारण कुछ में तो खाली पक्षियों आदि के नाम ही गिना दिये जाते हैं । उपर्युक्त प्रेमाख्यानकों के पूर्ववर्ती 'चन्दायन' काव्य में सरोवर-वर्णन के अन्तर्गत जलचर जन्तुओं के नाम इस प्रकार दिये हैं :

पैरहिं हंस मांछ बहिराहैं । चकवा चकवी केरि कराहैं ॥
दबला ढेंक बैठ झरपाये । बगुला बगुली सहरी खाये ॥
बनलेउ सुवन घना जल छाये । अरु जलकुकुरी बर छाये ॥
पसरीं पुरई तूल मतूला । हरियर पात तइ रात फूला ॥
पांखी आइ देस कर परा । कार कंरजवा जलहर भरा ॥

सारस कुरलहिं रात, नींद तिल एक न आवइ ।
सबद सुहाव कान पर, जागहिं रैन बिहावइ ॥ २२ ॥

---

१. मधुमालतीवार्ता, सं०—वही, पृ० ३.

वन, उपवन, बाग, बगीचों का वर्णन इन सभी काव्यों में मिलता है। रसरतन के वर्णन में केवल वृक्षों के नाम ही गिना दिए गए हैं :

सुन्यो पुर मित्र बढ़्यो अनुराग। विलोकित नैन मनोहर बाग॥
रह्यो सुख संपति आनंद झेलि। घने फुल फुलहिं लसै द्रुम बेलि॥
सदा फर दाड़िम सोभित अंब। बनै वर पीपर नीम कदंब॥
महारंग नारंग निब्बू संग। लता जनु अमृत सींचि लवंग॥
जमीरी गलग्गल श्रीफल सेव। फलै कदली फल चार्षाहं देव॥
षजूरिनि षारक ताल तमाल। सुधा सम दाख अनूप रसाल॥
चमेलिय चंपक्क बेल गुलाब। वंधूप सरूपित सोभित लाल॥
—चंपावती० १००-१०३.

छिताईवार्ता में भी इसी प्रकार पुष्पों और वृक्षों के नाम मात्र से संतोष कर लिया गया है :

कुसुम कुंद मचकुंद मरुवौ केवरौ केतुकी कल्हार।
गुलाल सेवती मोकरो सुन्दर जाइ।
महंदी पदमाख केवरो अतिवर्ष चंपग पाइ।
जाति कूजौ जुही अति गनि रही महकाइ।
सघन दाण्यो दाख कमरख नारयंग निबुवा नारि।
बादम्म अंम जंभीर खारिक सघन सरवर पारि॥३९९॥
कुंद खिरणी जातो फुलवादि। गनत ब्रिच्छ को जाने आदि।
लौंग लाइची बेलि अनूप। चंदन बन देखे महि भूप॥४००॥
इत्यादि।

जायसी के पदमावत को अमराइयों में भी वृक्षों को सूचो ही प्रस्तुत की गई है :

फरे आँव अति सघन सुहाए। औ जस फरे अधिक सिर नाए॥
कटहर डार पींड सों पाके। बड़हर सोउ अनूप अति ताके॥
खिरनी पाकि खांड असि मीटी। जांबु जो पाकि भंवर असि डीठी॥
नरिअर फरे फरी खुरहुरी। फुरी जानु इन्द्रासन पुरी॥
पुनि महु चुवे सो अधिक मिठासू। मधु जस मीठ पुहुप जस बासू॥
और खजहजा आवन नाऊं। देखा सब रावन अंबराऊं॥
गुआ सुपारी जायफर सब फर फरे अपूरि।
आस पास घनि इंबिली औ घन तार खजूरि॥ २८॥

नगर के हाट-वर्णन से तत्कालीन नगरों की समृद्धि का अनुमान किया जा सकता है। कई स्थानों पर चौरासी हाटों के होने के संकेत मिलते हैं। जैसे प्रद्युम्नचरित (१४११ वि० सं०) सधार अग्रवालकृत में :

इक सों बने धवल आवास। मठ मंदिर देवल चउपास ॥
चौरासी चौहट्ट अपार। बहुत भाँति दीसइ सुविचार ॥ १७ ॥

मधुमालतीवार्ता (चतुर्भुजदास) :

'बसति पुर नगरे' जोजन च्यार। चौरासी चौहटा चौवार ॥ ३ ॥

रसरतन में हाटों का वर्णन देखिए :

पटंबर मंडित सोभित हाट। रच्यो जनु देव सुरप्पति बाट ॥
कहूँ नग मोतिय बेतल लाल। करैं तहँ लच्छिस मोल दलाल ॥
कहूँ गढ़ै कंचन चारु सुनार। कहूँ नट नाटिक कौतिक हार ॥
कहूँ पट पाट बनैं जरतार। कहूँ हय फेरत हैं असवार ॥
कहूँ गुहें मालिनि चौसर हार। कहूँ तें सवारत हैं हथियार ॥
कहूँ बरई कर फेरत पान। कहूँ गुनी गाइन साजत गान ॥
कहूँ पढ़े पंडित वेद पुरान। कहूँ नर तानत बान कमान ॥
कहूँ गनिका गन रूप निधान। कहूँ मुनि ईस करे तप ध्यान ॥
चल्यौं नगरी सब देखत सूर। कहूँ मृगमद्द सुगंध कपूर ॥
रहै इक नागरि नैन निहार। चलै इक पाट गवाष उघार ॥

चंपा-वती० १४६-१५३.

जायसी भी इस प्रकार के वर्णन में क्यों पीछे रहते ? उन्होंने कनक-हाट, शृंगारहाट और फूलहाट का सुन्दर चित्रण किया है :

पुनि देखिअ सिंघल की हाटा। नवौ निद्धि लछिमी सब बाटा ॥
कनक हाट सब कुंहकुंह लीपी। बैठा महाजन सिंघल दीपी ॥
रचे हंथोड़ा रूपइं ढारी। चित्र कटाउ अनेग संवारी ॥
रतन पदारथ मानिक मोती। हीर पंवार सो अनबन जोती ॥
सोन रूप सब भयउ पसारा। धवलसिरी पोतहिं घर बारा ॥
औ कपूर बेना कस्तूरी। चंदन अगर रहाभरि पूरी ॥
जेइं न हाट एहि लीन्ह बेसाहा। ताकहं आन हाट फित लाहा ॥
कोई करे वेसाहना काहू केर बिकाइ।
कोई चला लाभ सौं कोई मूर गवांइ ॥ ३७ ॥

पुनि सिंगार हाट धनि देसा। कइ सिंगार तहं बैठी बेसा ॥ ३८ ॥
लै लै बैठ फूल फुलहारी। पान अपूरब धरे संवारी ॥
सोंधा सबै बैठु लै गांधी। बहुल कपूर खिरौरी बांधी ॥ ३९ ॥

चित्रशाला का वर्णन भी हिन्दी प्रेमाख्यानकों में अपने पूर्ववर्ती साहित्य के अनुरूप ही हुआ है। छिताईवार्ता की चित्रशाला की रचना देखिए :

बावन बस्त मीली (मिलीं) करि बान।
अति अनूप आरसी समान।
रची चित्रसाली चित लाइ।
देखत ही मन रहै लुभाइ ॥ ११२ ॥

मानिक चोक स मन मोहनी। रची अनूप चोर मीचनी ॥
किए भौहरे अनु अनु भांति। तिन मांहि मनो अंध्यारी राति ॥११३॥
बने हिंडोरे कंचन खंभ। मानहु उपजइ उकति सुयंभ ॥
करी अनूप अति खरी सिंगार। मानहु भरति की भरी सुनारि ॥११४॥
चकवा चकवी एकै डारि। जल कूकरी मटामरि यार ॥११५॥
कमल कमोदनि पुरयनि पान। झलमलांहि सरवर समान ॥११६॥
मच्छ कच्छ ते दीरघ घने। ते साद्रिष्ट चलकर बने।
सभा सरोवर दीसै तिसौ। हथनापुर पांडव कौ जिसौ ॥११७॥
जिनस जिनस मंदिर जिनसार। हेम जरित सोहइ सिजवारि ॥१२३॥

रसरतन में सूरसेन की चित्रसारी का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

लखि रहइ भूमि मृग पहुंभिपाल। अति रुचिर रुचितवर चित्रसाल ॥
राखिय सुगंध भरि करि बनाइ। अंगनह मध्यि सरवर सुभाइ ॥
गुंजरत भृंग रसवास लीन। मृगवाल नाद स्वादहि अधीन ॥
परजंक मंड तहं चित्त चारि। परवार हेतु जनु अमर नारि ॥
इन हथ्थ पाइ इक हथ्थ चौरि। इक कर सुगंध गहि मुकुर औरि ॥
पचरंग पाट सीरक बिछाइ। वहि रूप ओप बरनी न जाइ ॥
बहु फूल सूल सम धरि बनाइ। पटझीन झारि चादर चुनाइ ॥
गिडूव जुगल दुहुं और साज। सुर सरित सेज दोउ कूल राज ॥
झलकंति मुक्ति झालर अपार। चंदोव चंद जनु जलजतार ॥
चंपावती० २२३-२२८.

रसरतन के स्वयंवरखंड में भी चित्रशाला का वर्णन किया गया है :

चित्रसाल चित्रित बहुरंगा । उपजतु निरषि सुषद सुष अंगा ॥
विविध चित्र अनवन विधि साजे । जल थल जीव जंतु सब राजे ॥
लिषी बहुत लीला करतारा । चित्र चारु दसऊं अवतारा ॥
ब्रज विनोद बहु भांतन चीन्हा । राम चरित्र चारु सब कीन्हा ॥
सोरह सहस अष्ट पटरानी । चित्री इंद्र घरनि इंद्रानी ॥
नायक नाथ लिषे सुर ग्यानी । रुकमिन आदि आट पटरानी ॥
रति रतिनाथ चित्रु पुनि कीन्हा । ऊषा हित अनुरुध मनु लीन्हा ॥
चित्रित सकल प्रेम रस प्रीती । माधौ काम कंदला रीती ॥
अग्नि मित्र मौरावत धाता । भरथरि प्रेम पिंगला राता ॥
स्वयंवरखंड, २३०-२३४ और आगे.

मंझनकृत मधुमालती में चित्रसारी का उल्लेख एकाधिक बार आया है परन्तु उसका वर्णन इस तरह का नहीं है। जैसे एक स्थान पर प्रेमा कहती है :

चित्रसारि एक तहां संवारी । तहं खैलै हम जाहिं धमारी ॥ पृ० १६६.

दूसरे स्थान पर कमलवदनियों को जब भ्रमर तंग कर रहे थे तब वे चित्रसारी में भाग गईं :

दुहुं कर बदन छपाएं धाइं ते बर नारि ।
चित्रसारि भीतरगैं पैसीं बार पौंरि दीन्ह टारि ॥ पृ० १७४.

बारी महं चित्रसारी जहां । तुम्ह परभात गै बैसहु तहां ॥
हम और वह मिलतहि मिलि जैहैं । खेल मिसुन चित्रसारी अैहैं ॥
पृ० २५१.

इसी प्रकार के अन्य प्रसंग पृ० ४१४, ४१५, ४२० आदि पर देखे जा सकते हैं। शय्या अथवा कुसुम-शय्या : प्राय: प्रेमाख्यानकों में नायक-नायिका के समागम का प्रसंग आता है वहीं उनकी सेज फूलों से सजी दिखाई जाती है। कुसुम-शय्या उस शय्या का नाम है जिस शय्या पर फूल बिछा दिए जाते हैं। हिन्दी का एक प्रचलित मुहावरा भी है 'फूलों की सेज'। रसरतन का एक उदाहरण :

चंपक बेलि गुलाबन हार। फूल सेज वह रचीं अपार॥
मलयागिरि उदीप सुखराती। चहुं दिसि बरै अगर की बाती॥
अप्सराखंड, ८५.

चन्दायन में शय्या-वर्णन इस प्रकार है :

पालंग सेज जो आनि बिछाई। धरत पाउ भुइं लागै जाई॥
पान बने अरु फूलहिं भारी। सोनैं झारी हांस गुंदारी॥
सुरंग चीर एक आन बिछावा। धरती बैस झंवन अस आवा॥
तिहि चढ़ि सूत रवउं बिकरारा। खोंपा छूट छिटक गये बारा॥
यहि भंति करै फूल पहिबासी। करंडी चारि फूर भर डासी॥२०७॥

प्रेमाख्यानकों में राजाओं की सेनाओं के उपयोग में आने वाले अश्व, हाथी आदि उपयोगी जानवरों की विस्तृत जानकारी मिलती है। छिताईवार्ता में अलाउद्दीन बादशाह ने सौंरसी की विदाई पर उसे जो घोड़े दिए थे वे अनेक जाति के थे :

बरणुं तेजी ऊच तिहां तणे। ऊचे आहि कंध तिह तणे॥
एक तीरी ते हरीअे बरनां। कंध आगरे छोटे करनां॥
सेत तुरी चंचल गुण बने। चित्रति जानि चितौरा तने॥
महुअ सबज सनेही बने। सीराजी मुगली हांसले॥
उपजे सींह नदी पश्चम देस। बडी पुंछ बरणइ कबि लेस॥
करतर काया तुरी तुखार। जरदे नीले बोर कयाह॥
जिते भुथार काबली आह्रि। साठि कोस थो आवइ जाइ॥
पोले नीले बोरु बहूत। चलत चाल ते भांभर भूत॥
गोट बहुत परबत के आहि। तै पुर दीनी अर चौगुन थाइ॥पृ०१३१.

वर्णरत्नाकर में अश्वों के प्रकार इस भांति हैं—हरिअ, महअ, मांगल, कुही, कुवाल, कओस, उरज, नील, गरुड, पीअर, राओट, दोरोज, उवाह, वलिआह, सेवाह, कोंकाह, केयाह, हराह, षौराह, रोरिह ये अनेक वालघोल से अनुअह।[1]

चन्दायन में राव महर के अश्वों का वर्णन देखिए :

---

१. वर्णरत्नाकर, पंचम कल्लोल, पृ० २९.

महरैं काढ़ि तुखार बुलाने। इन्ह दस धरे पौर मंह आने ॥
हंस हंसोली भंवर सुहाये। हिना यक खिगारे बहु आये ॥
उदिर संमुद भुइं पाउ न धरिहैं। भाव गरब ते नाचत रहैं ॥
यह तुरंग तीन पा ठाढ़े। नीर हरियाह पखरिन्ह गाढ़े ॥
पृ० १४१.

रसरतन में घोड़े इस रूप में सामने आते हैं :

पलानैं तहां तेज-ताजी तुरंगा। परै उच्च उच्छाल मानौ कुरंगा ॥
कथाहे सुलालं दुरंगा सुरंगा। खरे श्वेत पीतं तथा सावरंगा ॥
इराकी अरब्बी तुरक्की दवच्छी। समोला अमोला लिये मोल लच्छी ॥
बजै धाव धावैं लसें पूंछ अच्छी। मनो उड्डहीं बांह बैठे सुपच्छी ॥
उभैं कर्न ऊंचे मह उच्च ग्रीवा। मनो उच्च उच्चैश्रवा सोम सीवां ॥
चढ़ैं सूर वंशी महा सूरवीरं। उलंघे मनो चंपि वाराधि नीरं ॥
सवैं षड्ग धारी चितै चित्त मोहे। मनो चित्त औरेषि पेषंत सोहे ॥
पृ० १०३.

चन्दायन में राव रूपचन्द के हाथी किस प्रकार के थे, यह मौलाना दाऊद के शब्दों में देखिए :

पखरे हस्त दांत बहिराये। धानुक लै ऊपर बैसाये ॥
बनखंड जैस चले अतिकारे। आने जानु मेघ अंधकारे ॥
चलन लाग जनु चलहिं पहारा। छांह परै जग भा अंधियारा ॥
झंकरहि चोटहिं आंकुस लागे। बरु दस कोस सहस अग भागे ॥
जो कोपहिं तो राइ संघारहिं। बन तरुवर जर मूर उपारहिं ॥

सींकर पाइ बानि उठ, उरै कांदो होइ।
राउ रूपचंद कोपा, तेग न पारे कोई ॥ पृ० १३४.

सूरसेन की सेना के हाथियों का रसरतन में वर्णन :

चले मत्त मैंमत घूमंत मता। मनौ बदला स्याम माथै चलंता ॥
बनी वग्गरी रूप राजंत दंता। मनौ वग्ग आसाढ़ पातैं उड़न्ता ॥
लसै पीत लालै सुढालै ढलक्कैं। मनौ चंचला चौंध छाया झलक्कैं ॥
गिरी शृंग के कुंभ सिंदूर मंडे। घटा अग्र पातैं मनौ भारतंडे ॥

वहाँहि जोर छंछाल ते मद्द नीरं। लगे गंउ गुंजार ते भौर भीरं॥
किये कुंडली कुंड सुडाहलीयं। लसौ चौरमरि जो भृंगार कीयं॥
विजयपाल० १९८-२०१.

अश्वों-हाथियों आदि के अतिरिक्त युद्धों में रणवाद्यों का भी प्रयोग किया जाता था। इन रणवाद्यों में नगारा, भेरी, तूर्य, नीसान, ढोल आदि का प्रचलन था। रणवाद्यों के अतिरिक्त भी बाजों के नाम तत्कालीन काव्यों में आते हैं। छिताईवार्ता में वाद्ययन्त्रों का विवरण इस प्रकार मिलता है :

एकणिकर सोहै स्यंगरी। जुवती जुबन रंग रसभरी।
एक रबाब दुतारौ धरे। सुंदरि सुघर बजावै खरै॥
ढोलक चंद्रमंडलनि सार। अधिक अपूरब पुजवहि तार।
बिबिध बिचख्खिण बोलहिं बैन। जनु कसुंभ केसरि रंगि नैन॥
एकति कामणि कंचणि जंत्र। मानहु बसीकरण के मंत्र।
जिती छिताई करी प्रवीण। ते संगीत रंग रस लीण॥
सरमंडल सरबीण संवारि। मुरज त्रिदंग लअै बर णारि।
पैम कपाट पखावज बीन। बैठी तरुणि तमासै लीण॥ पृ० ११८-११९.

रसरतन में बाजों के नाम इस प्रकार आये हैं :

धुज पताक तोरन बने, सींच सुधा रस रंग।
पंच शब्द मंगल बजे, भेरी ढोल मृदंग॥
चली कुंवर पूजन गवरि, वाजन वाजन लग्न।
मुरज रुंज सहनाइय, वीना ताल तरंग॥
चंपावती० ३२४-२५.

वंव वाजि सोर घन घोर सादं। सब्द मिलि पंच वाजंत्र नादं॥
संष सहनाइ करताल तूरं। मिलि सब्द आकास पाताल पूरं॥
वही, ३८६.

अब युद्धवर्णन के दो-एक उद्धरण देखिए जिनसे इनकी रूढ़ परम्परा पर प्रकाश पड़ेगा। इन्द्रावती में कवि नूरमुहम्मद ने घनघोर युद्ध का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है :

भयउ घटा ढालन सो कारी, खरगन भये बीज चमकारी।
रौंदा सीस खरग चौगानू, खेलहिं वीरहिं चढ़ि मैदानू।
हाल आपनो आपनो चाहै, अरि को हस्त चलान सराहैं।
माला खरग इनै सब कोई, बोउन खरग ठनाठन होई।
गगन खरग घटा सों ठन गयऊ, हिन हिन औ धुन हन हन भयऊ।
ओनई घटा धूर सों, दिन मनि रहा छिपाय।
वहाँ महाभारत्य भा, सवद परेउ हू हाय॥ पृ० ९८.

इस पद्य में खड्ग की चमक, तलवार की ठनाठन, हिन-हिन और हन-हन की शब्दावली का प्रयोग हुआ है। इसी से बहुत साम्य रखनेवाली शब्दावली में युद्ध में धनुष टंकार और खड्गों की खनखनाहट स्वयंभू के पउमचरिउ में देखी जा सकती है :

हण-हण-हणंकार महारउदद्दु। छण-छण-छणंतु गुणपिं-पछि-सद्दु।
कर-कर-करंजु कोयडं पवरु। धर-धर धरंतु णाराय-णियरु।
खण-खण-खणंतु तिक्खग्ग खग्गु। हिल-हिल-हिलंतु हय ँच लग्गु।
गुल-गुल-गुलंत गयवर विसालु। हणु-हणु भणतु णर वर विसालु॥
पउमचरिउ, ६३.३.

रसरतन में घमासान युद्ध के बाद युद्धस्थल का वीभत्स रस में वर्णन इस प्रकार उपस्थित किया गया है :

पिसाचन रच्छ रचैं ज्योनार। सरब्बत ओन करैं मनुहार॥
करे तहाँ प्रेम पिसाच अहार। .... ॥
मरोरत मुंड नचावत चाड़। कंटकट दंत चचरोत हाड़॥
बचै इक फेरि रक्कत्त अघाइ। गिले हकलीय अछंग वहाइ॥
युद्धखंड, २६८-६९.

चन्दायन में भी युद्धस्थल पर ऐसा ही वीभत्स रस दिखाई पड़ता है। युद्ध के बाद मृत सैनिकों को गृद्धादि पक्षी किस रुचि से भक्ष्य बनाते हैं :

गीधहिं नोता केतन हंकारा। कीत रसोई अगिन परजारा॥
आज बांठ इतै खंड तारा। लोर बसायें करउं जेउनारा॥
नोता काल देस कर आवा। चील्ह के दर मांडो छावा॥
सरग उड़त खबरहर खीनी। काल करोह भांत दस कीनी॥
सनां सियार पितरम्रूख आवा। रैन बास सब जात बुलावा॥

कूद मांस धर तोरब, रकत भरब लै कुण्ड।
आठ मांस धरि जेंवत, सात मांस लहि मुण्ड ॥ पृ० १५९.

इन सब वर्णनों के मिले-जुले रूप को देखकर यह अनुमान करने में कठिनाई नहीं होती कि हिन्दी प्रेमाख्यानकों के अन्तर्गत आनेवाला वस्तु-वर्णन-शिल्प अपभ्रंश चरितकाव्यों की शैली से अधिक भिन्न नहीं है। इसे हम आगे तुलनात्मक रूप से प्रस्तुत करेंगे।

अध्याय ४

सूफ़ी काव्यों में प्रतीक-विधान और भारतीय प्रतीक-विद्या

हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यानकों का प्रारम्भ परमात्मा की स्तुति, पैगम्बर का गुणानुवाद, गुरु या पीर का परिचय, चार यार की सिफ़त, शाहेवक्त की प्रशंसा, काव्य-रचना का कारण आदि से होता है। इसके बाद मूलकथा प्रारम्भ होती है। मुख्य कथा कई भागों में विभक्त रहती है। उन भागों के भी उपविभाग होते हैं। उन उपविभागों के ऊपर विषयानुसार शीर्षक रहता है। काव्य के अन्त में कवि कुछ उपदेश या रचनाकाल आदि देकर कथा का समापन कर देता है। सूफ़ी काव्यों के शिल्प और हिन्दू काव्यों के शिल्प का तुलनात्मक अध्ययन आगे प्रस्तुत किया जायेगा। फिलहाल यह कहना उचित होगा कि सूफ़ी काव्यों का शिल्प हिन्दू काव्यों के शिल्प से वैषम्य की अपेक्षा साम्य ही अधिक रखता है। हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यानकों में काव्यगत रूढ़ियां एवं विषयगत शीर्षकों का चलन आदि भारतीय चरितकाव्यों की ही देन है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'इन प्रेमगाथा काव्यों के संबंध में पहली बात ध्यान देने की यह है कि इनकी रचना बिल्कुल भारतीय चरितकाव्यों की शैली पर न होकर फारसी की मसनवियों के ढंग पर हुई है जिनमें कथा सर्गों या अध्यायों में विस्तार के हिसाब से विभक्त नहीं होती, बराबर चली चलती है, केवल स्थान-स्थान पर घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्षक के रूप में दिया रहता है।'[1] यह कथन उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर प्रमाणित नहीं होता। यह सच है कि फारसी की मसनवी पद्धति और हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यानकों में समानता देखी जा सकती है लेकिन यह भी सच है कि जिस तरह सूफ़ी कवि ग्रन्थारम्भ में परमात्मा, पैगम्बर की स्तुति करता है, गुरु-पीर-

१. जायसी-ग्रन्थावली, संपा०—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पंचम संस्करण, भूमिका पृ० ४.

औलिया और शाहेवक्त की प्रशंसा करता है; ठीक वैसे ही अपभ्रंश के जैन चरितकाव्यों के ग्रन्थारम्भ में जिनेन्द्रदेव की स्तुति, सरस्वती-वंदना, अन्य वन्दनाओं के बाद पूर्व कवियों का गुणानुवाद या नामोल्लेखादि के बाद ही मूलकथा का प्रारम्भ होता है। तब यह क्यों न माना जाये कि हिन्दू-जैन चरितकाव्यों में अपने-अपने धर्मानुसार देवी-देवताओं की स्तुति की जो परिपाटी थी उसी रूप में सूफ़ी कवियों ने भी अपने धर्मानुसार पैगम्बर आदि की स्तुति के बाद ही कथारम्भ करने के नियम का पालन किया ? मेरे कहने का तात्पर्य मात्र यह है कि सूफ़ी प्रेमाख्यानकों को अपभ्रंश चरितकाव्यों और भारतीय लोकगाथाओं से सीधे सम्बद्ध मानना अधिक उपयुक्त होगा। इस संदर्भ में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन महत्त्वपूर्ण है—'जनसाधारण का एक और विभाग, जिसमें धर्म का स्थान नहीं था, जो अपभ्रंश साहित्य के पश्चिमी आकार से सीधे चला आ रहा था, जो गांवों की बैठकों में कथानक रूप से और गान रूप से चल रहा था, उपेक्षित होने लगा था। इन सूफ़ी साधकों ने पौराणिक आख्यानों के बदले इन लोकप्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर ही अपनी बात जनता तक पहुँचाई।'[1]

हिन्दी-सूफ़ी प्रेमाख्यानकों के सूफ़ी काव्य का अधिकांश फारसी अक्षरों से लिखा गया। मसनवी फारसी साहित्य की एक शैली है। 'मसनवी' का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं:[2]

१. मसनवी के छन्दों में प्रत्येक पद अपने आप में स्वतन्त्र और पूर्ण होते हैं तथा वे तुकान्त होते हैं। एक चरण के शब्द दूसरे में नहीं जाते।
२. प्रेमाख्यान, धार्मिक तथा उपदेशात्मक काव्यों के लिए मसनवी को अपनाया जाता है।
३. 'मसनवी' स्वयं एक पूर्ण ग्रन्थ होता है और इसका नाम इसकी नायक-नायिका के नाम पर कवि रखता है। काल्पनिक नाम भी रखे जाते हैं।

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, चतुर्थ संस्करण, पृ० ५०.
२. डा० रामपूजन तिवारी, सूफ़ीमत—साधना और साहित्य, पृ० ५२७.

४. साधारणतः मसनवी सर्गबद्ध होते हैं। पहले सर्ग में परमात्मा का गुणानुवाद, दूसरे में पैगम्बर को स्मरण किया जाता है। तीसरे में पैगम्बर के 'मीराज' की चर्चा होती है। बाद में शासक सुल्तान आदि की प्रशंसा रहती है। इसके बाद मूलकथा प्रस्तुत की जाती है।[१]

आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'मसनवी के लिए साहित्यिक नियम तो केवल इतना ही समझा जाता है कि सारा काव्य एक ही मसनवी छन्द में हो, परम्परा के अनुसार उसमें कथारम्भ के पहले ईश्वर-स्तुति, पैगम्बर की वन्दना और उस समय के राजा (शाहेवक्त) की प्रशंसा होनी चाहिए। ये बातें पदमावत, इन्द्रावती, मृगावती इत्यादि सबमें पाई जाती हैं।'[२] इस संदर्भ में पहले से कहा जा चुका है कि भारतीय चरितकाव्यों में भी इसी पद्धति का अनुसरण किया जाता था। फ़ारसी मसनवियों के प्रभाव को दृष्टि में रखकर डा० रामपूजन तिवारी ने लिखा कि 'हिन्दी सूफ़ी काव्य इस परम्परा से प्रभावित तो अवश्य है लेकिन उसमें हूबहू इसकी नकल नहीं की गई है। भारतीय वातावरण में सूफ़ी मत का विकास अरब और फारस जैसा न होकर भिन्न रूप में हुआ। भारतीय विचारधारा से वह बहुत प्रभावित हुआ। हिन्दी का सूफ़ी काव्य जितना भारतीय विचारधारा से प्रभावित मालूम होता है उतना फारसी या अरबी परम्परा से नहीं।'[3] जो बात विचारधारा के सम्बन्ध में कही गई है वही शैली-शिल्प के बारे में भी लागू होती है।

मसनवी और चरितकाव्यों की शिल्पगत तुलना करने पर यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि जिन सूफ़ी प्रेमाख्यानों को तथाकथित मसनवियों की कोटि में रखा जाता है उनमें भी मंगलाचरण प्रक्रिया से लेकर पूर्व कवियों के नामोल्लेख, काव्य रचने का कारण और शुक, चित्र-स्वप्न या प्रत्यक्ष दर्शन से प्रेमोत्पत्ति, नगर-वर्णन के साथ हाट, सर, अश्व, गज, युद्धादि वस्तुवर्णन आदि कन्याप्राप्ति तक की काव्यगत रूढ़ियाँ न्यूनाधिक

---

१. डा० रामपूजन तिवारी, सूफ़ीमत—साधना और साहित्य, पृ० ५२७.

२. जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका पृ० ४.

३. डा० रामपूजन तिवारी का 'सूफ़ी काव्य-परम्परा' लेख, अवन्तिका, अक्टूबर १९५४, पृ० ४५.

रूप में ज्यों की त्यों मिलती हैं। इतना ही नहीं, इन सूफ़ी प्रेमाख्यानकों में प्रतीकात्मक शैली से भी काम लिया गया है। भारत में प्रतीकों का वैदिक कालीन इतिहास आज भी वर्तमान है। बहुत कुछ प्रतीक हिन्दी की संतकाव्य-परम्परा से सूफी परम्परा में ले लिए गए। विद्वानों में इस बात की बहुत चर्चा रही है कि कथा का प्रतीक के रूप में प्रयोग अथवा मूलकथा से अन्यापदेशिक आध्यात्मिक अर्थ निकालने की पद्धति सूफ़ियों की देन है। पर यदि अपभ्रंश के मयणपराजय अथवा संस्कृत के प्रबोध-चन्द्रोदय जैसे नाटकों को देखा जाय तो लगेगा कि यह पद्धति भी भारतीय ही है। हिन्दी प्रेमाख्यानकों (हिन्दी-सूफ़ी) में प्रयुक्त रूढ़ियों का विवरण पिछले अध्याय में दिया जा चुका है और वहीं यह भी दिखाया गया है कि वे अपभ्रंश प्रेमाख्यानकों अथवा चरितकाव्यों में प्रयुक्त रूढ़ियों से किस कदर जुड़ी हुई हैं। अतः यहाँ मसनवी और चरितकाव्यों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए उनकी पुनरावृत्ति करना उचित नहीं है। सूफी प्रेमाख्यानकों में प्रतीकों का क्या उपयोग रहा है—यह अवश्य विचारणीय प्रश्न है।

कोई व्यक्ति जब अपनी अन्तर्भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र भाषा को नहीं बना पाता अथवा यों कहें कि भाषा उसकी अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण सक्षम नहीं होती तब वह प्रतीकों का प्रयोग करता है। सूफ़ी सिद्धान्त की रीढ़ प्रेम है और आध्यात्मिक-अलौकिक प्रेम को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा की साधारण क्षमता कैसे सक्षम हो सकती थी ? अलौकिक भाषा को काव्यों के माध्यम से समझने की शक्ति किसमें थी ? अतः सूफ़ियों ने अपने काव्यों में प्रतीकों, अन्योक्तियों, सूक्तियों आदि का प्रचुर प्रयोग किया। इस विषय में यह कहना सही है कि 'यदि हम प्रतीकों का प्रयोग न करें तो हमारा दिव्यदर्शन किसी के भी हृदय में उतर नहीं सकता और वह सचमुच औरों के लिए एक ऐसी पहेली बन जाता है जिसका सामान्य बुद्धि, विवेक और विश्वास से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता।'[1] सूफियों ने अपने साहित्य में प्रतीकों का जो सहारा लिया उसका एक प्रधान कारण यह भी था कि उन्हें कट्टर इस्लामपंथियों

१. डा० चन्द्रबली पांडे, तसव्वुफ अथवा सूफ़ीमत, पृ० १००.

से खतरा पैदा हो गया था। प्रतीकों के प्रयोग से सूफियों को दुहरा लाभ हुआ—एक तो वे अपने मत का प्रचार निर्वाधरूप में कर सके, दूसरे कट्टर इस्लाम के रूढ़िवादी आक्रमण के सामने ये प्रतीक ढाल का काम देने लगे। संभवतः फारिज ने इसीलिए कहा कि प्रतीकों के प्रयोग से दो लाभ प्रत्यक्ष होते हैं। एक तो प्रतीकों की ओट लेने से धर्म-वाधा टल जाती है, दूसरे उनके उपयोग से उन बातों की अभिव्यंजना भी खूब हो जाती है जिनके निदर्शन में वाणी असमर्थ अथवा मूक होती है।[1]

प्रतीक शब्द की व्याख्या करते हुए जेम्स हेस्टिंग्स ने कहा है कि प्रतीक किसी दृश्य या श्रव्य रूप का अथवा किसी विचार, भाव या अनुभव का द्योतक है, जो तथ्यरूप में ज्ञान और कल्पना के माध्यम से अनुमेय की व्याख्या करता है। इस विषय में जेम्स ने प्रतीकों का प्रयोग दो प्रकार से संभव बताया है : एक तो कार्यों या शब्दों के द्वारा प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति, दूसरे कला के माध्यम से अभिव्यक्ति।[2] इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीक स्वयं किसी भावना के प्रतीक हैं अर्थात् जो भावना या सूक्ष्म तत्त्व भाषा में बंध नहीं पाता उसे प्रतीक रूपायित करने का साधन है। प्रतीक कहलाने वाले वे शब्द या भाव और कार्य क्या हैं जो प्रतीक नाम से बोधगम्य होते हैं। प्रतीकवाद धर्म के लिए साधक भी है और बाधक भी। प्रतीक किसी विचार या भाव के द्योतक रहने तक उपयोगी सिद्ध होते हैं। परन्तु जब वे द्योतक न रहकर भाव ही बन जाते हैं

१. डा० चन्द्रबली पांडे, तसव्वुफ सूफ़ीमत, पृ० ९७-९८.

2. 'A symbol is a visible or audible sign or emblem of some thought, emotion, or experience, interpreting what can be really grasped only by the mind and imagination by something which enters into the field of observation. So far as Greek and Roman religions are concerned, we need speak only of two kinds of symbols—symbolic representation by means of actions or words and symbolic representation in art.'—James Hastings, Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. 12, p. 139.

तब वे मूल्यहीन हो जाते हैं।[1] इस तरह का खतरा भी सूफी काव्यों में कम नहीं मिलता।

सूफी प्रेमाख्यानकों एवं सूफी सिद्धान्त में प्रेम प्रधान तत्त्व है, इसका उल्लेख किया जा चुका है। इस प्रेम का अर्थ रति से है। रति का जो आलम्बन है वह सूफियों के प्रियतम का प्रतीक है। विदेशी सूफियों ने रति के आलम्बन के रूप में किशोर को चुना, स्त्री को नहीं। इसका कारण यह था कि उनका प्रियतम सदैव किशोर के रूप में ही प्रस्तुत होता है। परन्तु यह लौकिक आलम्बन के रूप में स्वीकार किया गया। उनके प्रेम का जो प्रधान पात्र है वह तो परमात्मा ही है। यही कारण है कि सूफी मसनवियों में दाम्पत्य भावना के जिस प्रेम का वर्णन किया गया है उसमें आलम्बन परमात्मा का द्योतक पाया जाता है। प्रेम की पुकार अविरल गति से होती रहे इससे सूफियों ने सुरति को स्थान दिया। सुरति में आनन्द अथवा लगन तभी आ सकती है जब सुरा हो, अतः सुरति के साथ सूफियों ने सुरा को भी अपना लिया। जब सुरति, सुरा भी हो गई तो इस सुरा को ढालकर देनेवाला भी कोई होना ही चाहिए। अतः साकी या माशूक को स्थान मिला। यही सूफी काव्यों में प्रतीक बन गए। भारतीय सूफी प्रेमाख्यानकों में यहाँ का प्रभाव होने के कारण साक़ी का अन्तर्भाव प्रेमिका में कर लिया गया। इन कवियों ने प्रेमिका का वर्णन जहाँ भी प्रस्तुत किया, उसके नख-शिख सौन्दर्य का भी सविस्तार चित्रण किया। वैसे रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते समय भारतीय साहित्य में नख-शिख वर्णन की परम्परा बहुत प्राचीन रही है। परन्तु सूफी साहित्य में यह नख-शिख वर्णन भी प्रतीकात्मक हो गया। इस संदर्भ में डा० चन्द्रबली पांडे ने लिखा है कि 'जब माशूक प्रतीक है तो उसका नख-शिख भी उसके अन्तर्गत समझा जायेगा। उसके अंग-अंग प्रतीक होंगे। नख-शिख में मुख की प्रधानता होती है। उसका वर्णन प्रायः

1. 'In religion, symbolism is a help and hindrance. It provides a sign for an idea and useful in recalling the idea. But when, instead of recalling, it replaces the idea, it becomes a menace.' —Hopkins, Origin and Evolution of Religion, p. 45.

सभी कवि खूब करते हैं। पर उसका प्रगट दर्शन कितनों को होता है? परदे के भीतर का दीदार ही तो तसव्वुफ का सब कुछ है।'[1] जैसा कि कहा जा चुका है हिन्दी-सूफी कवियों ने विदेशी सूफी काव्यों के प्रतीकों को उपयोग में यदि लिया भी तो समन्वय के साथ। यही कारण था कि जिस 'किशोर' रूप को प्रेम का प्रतीक विदेशी सूफ़ी काव्यों में माना गया उसे भारत के वातावरण में स्वीकार नहीं किया जा सका। फलतः प्रेमास्पद को 'किशोर' के स्थान पर तरुणी बनना पड़ा।

मुख को सूफी प्रेमाख्यानकों में ईश्वरीय सौन्दर्य का प्रतीक माना गया है। यही कारण है कि जहाँ भी सूफी कवि प्रियतमा के मुखका वर्णन करता है वहाँ उसकी उपमा दिव्य उपमानों से देता है। चित्रावली जब झरोखे से झाँकती है तो उसमान कवि को लगता है मानो चाँद स्वर्ग से झाँक रहा हो। किसी मानवी का इतना असाधारण स्वरूप नहीं हो सकता जबतक कि वह ईश्वरीय शक्ति का प्रतीक न हो। चित्रावली के रूपसौन्दर्य का प्रकाश दिव्यज्योति का ही प्रकाश है :

चित्रावली झरोखे आई। सरग चाँद जन दीन्ह देखाई॥
भयो अँजोर सकल संसारा। भा अलोप दिनकर मनियारा॥
चौंधे सुर सब सुरपुर माहीं। चौंधे नाग देखि परछांही॥
चौंधे महिमंडल नर नारी। चौंधे जल थल जिव सब झारी॥
चौंधे जोगी अहे तराहीं। कस अंजोर कोई जाने नाहीं॥[2]

चन्दायन में चाँद के मुखमण्डल की छटा से सारा भवन जगमगाता है।[3] परन्तु इस ईश्वरीय सौन्दर्य को अज्ञानरूपी अन्धकार देखने नहीं देता। सूफियों ने केशों को अज्ञान या माया का प्रतीक माना जो 'मुखमण्डल' ब्रह्म के प्रतीक को ढँके रहते हैं। केशों को जायसी ने माया के प्रतीकार्थ में ही प्रयोग किया है। उनका कथन है :

ससि मुख अंग मलैगिरि रानी। नागह्न झांपि लीह्न अरधानी॥
ओनए मेघ परी जग छाहां। ससि की सरन लीह्न जनु राहां॥[4]

---

१. डा० चन्द्रबली पांडे, तसव्वुफ और सूफ़ीमत, पृ० ९५.
२. चित्रावली, पृ० १०६.
३. चन्दायन, पृ० ११६.
४. पदमावत, संपा०—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ६१.

भारतीय दर्शन में माया को अत्यधिक बलवती माना गया है। यही माया ब्रह्म और आतमा के मिलन में बाधक है। माया का विस्तार और प्रभाव गहरा होता है। इसके फंदे में फँसकर निकलना कठिन ही होता है। जायसी ने इसी को केशों के प्रतीक द्वारा समझाया है :

अस फंदवारे केस वै राजा परा सीस गियं फांद।
अस्टौ कुरी नाग ओरगाने भै केसन्हि के बांद॥[1]

इस माया में फंसकर व्यक्ति को जीवन भर अज्ञानान्धकार में भटकना पड़ता है। मायारूपी अज्ञानान्धकार का स्वरूप ठीक केशों को कालिमा के समान होता है :

बेनी छोरि झारू जौं बारा। सरग पतार होइ अंधियारा॥[2]

सूफी कवियों ने केश या लट का वर्णन नायिका की मुखमण्डल की शोभा बढ़ाने के लिए किया है। प्रायः ही प्रेमाख्यानकों में नायिका के मुख पर लट को देखकर नायक मूर्च्छित होते अवश्य दिखाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि लट को देखकर व्यक्ति मार्गच्युत होता है क्योंकि लट माया की प्रतीक है। नूरमुहम्मद ने लट का वर्णन इस प्रकार किया है :

वहे उपवन पर लट सटकारी, तपी देवसभा निस अंधियारी।
मोहि परा दरसन कर चौरा, हना बान बन आँखिन फेरा।
एक कहा लट सों मुख सोभा, होत अधिक लखि मुरछा लोभा।
एक कहा लट नागिन मारी, डसा गरल सों गिरा भिखारी।
एक कहा लट जामिन होई, राति जानि जोगी गा सोई॥[3]

जायसी ने पद्मिनी की बरौनियों का वर्णन ब्रह्म की मोहिनी शक्ति के प्रतीक-रूप में किया है :

बरुनी का बरनौं इमि बनी। सांधे बान जानु दुइ अनी॥
जुरी राम रावन कै सैना। बीच समुंद भए दुइ नैना॥
वारहि पार बनावरि सांधी। जासौं हेर लाग बिख बांधी॥

१. पदमावत, संपा०—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ९६.
२. वही.
३. इंद्रावती, पृ० ६०.

उन्ह बानन्ह अस को को न मारा। बेधि रहा सगरौं संसारा ॥
गंगन नखत जस जाहिं न गने। हैं सब बान ओहि के हने ॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखा ठाढ़ि देहिं सब साखी ॥
रोवं रोवं मानुष तन ठाढ़े। सोतहि सोत बेधि तन काढ़े ॥[1]

जैसा कि कहा जा चुका है कि प्रियतमा का नखशिख शर्णन ही प्रतीकात्मक है। प्रतीकों की बात केशों और बरौनियों तक ही सोमित नही रहती। जायसी ने पद्मावती की वाणी की जो महिमा गाई है वह, पूर्णरूप से प्रतीकात्मक है। ऐसी वाणी जो सबको सुखद हो वह परमात्मा की ही हो सकती है। जायसी कहते हैं कि पद्मावती के अमृत-वचनों को सुनकर सबका मन अनुरक्त हो जाता है। उस स्वर ने चातक और कोकिल का स्वर हर लिया। वीणा-वंशी में भी वह स्वर नहीं मिलता। ………… वह प्रेम के अमृत से पगे वचन बोलती है, जो सुनता है वही मस्त हो चक्कर खाने लगता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारों वेदों में जितना ज्ञान है सब उसके पास है। उसकी एक-एक बात में चार-चार अर्थ भरे हुए हैं जिसको समझने में इन्द्र मोहित और ब्रह्मा सिर धुनने लगते हैं। अमरकोश, महाभारत, पिंगल छंद और गीता सम्बन्धी शास्त्रार्थ के पंडित भी उससे नहीं जीतते ···· ···· इत्यादि।

हरै सो सुर चात्रिक कोकिला। बीन बंसि वह बैनु न मिला ॥
चात्रिक कोकिल रहहिं जो नाहीं। सुनि वह बैन लाजि छपि जाहीं ॥
भरे पेम मधु बोलै बोला। सुनै सो माति घुमि के डोला ॥
चतुर बेद मति सब ओहि पाहाँ। रिग जजु साम अथर्बन माहां ॥
एक एक बोल अरथ चौगुना। इंद्र मोह बरम्हा सिर धुना ॥
अमर भारथ पिंगल औ गीता। अरथ जूझ पंडित नहिं जीता ॥१०८॥[2]

वास्तव में पद्मावती के रूप-सौन्दर्य के वर्णन में जायसी ने जो वर्णन प्रस्तुत किया है वह ब्रह्म के असीम सौन्दर्य का प्रतीक मानकर ही किया है, इसमें सन्देह नहीं। पद्मिनी की दंतपंक्ति के वर्णन से स्पष्ट ही परिलक्षित होता है कि वह ईश्वरीय प्रकाश की प्रतीक है :

जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई ॥
रबि ससि नखत दीन्हि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोंती ॥

१. पदमावत, पृ० १०१.
२. वही, पृ० १०५.

जहं जहं बिहंसि सुभावहिं हंसी। तहं तहं छिटकि जोति परगसी॥
दामिनि दमकि न सरबरि पूजा। पुनि वह जोति औरु को दूजा॥
बिहंसत हंसत दसन तस चमके पाहन उठे झरक्कि।
दारिवं सरि जो न कै सका फाटेउ हिया दरक्कि॥१०७॥[1]

इन कवियों ने दंतपंक्ति को प्रकाश का प्रतीक माना तो अधरों को अमृत का भंडार। परमात्मा की अमरत्व प्राप्त करानेवाली शक्ति के प्रतीक-स्वरूप अधरों को स्वीकार किया गया। नूरमुहम्मद कहते हैं कि अधर-सुधारस का पान करके मरण नहीं होता :

अधर तैहिक जिउ दाता आही, देत भलो जीवन जस चाही।
तो मोंहि सोच जिउ कर नाहीं, होइ सुधा तेहि अधरन माहीं।
बहुर प्रान देई मोहि सोई, तित जीवन पुन मरन न होई।[2]

परन्तु यह अमृत सभी को प्राप्त नहीं होता। यह तो बड़ी साधना के माध्यम से ही संभव हो सकता है। वैसे अमृत का पान तो सभी करना चाहते हैं :

अमिअ अधर अस राजा सब जग आस करेइ।
केहि कहं कंवल बिगासा को मधुकर रस लेइ॥[3]

इस अपूर्व अलौकिक अधरामृत का पान साधक को परमात्मा-मिलन में सहायता देता है। 'मय' और साकी का प्रयोग भी प्रतीक के रूप में हुआ है। 'मय' के पीने से साधक का सम्बन्ध जगत् से नहीं रह जाता। वह अपने प्रियतम की ओर सम्बन्ध जोड़ने में सहायक होता है। साधक और साध्य के मिलने पर जो प्रेमरस प्रकट होता है उसे साधक मदिरा-रूप में पान करके प्रियतमाकार हो जाना चाहता है। प्रेमी की यही इच्छा रहती है कि उसे 'मय' का लबालब भरा प्याला मिलता जाए जिससे उसका मानस प्रियतमा में ही लगा रहे :

एक पियाला भर मद दीजै मोल पियारे मानस लीजै।[4]

---

१. पदमावत, पृ० १०४.
२. इन्द्रावती, पृ० ७७.
३. पदमावत, पृ० १०३.
४. इन्द्रावती, पृ० ७८.

पदमावत में रतनसेन के मधुपान के समय पद्मावती आग्रह करती है कि मधु को थोड़ा-थोड़ा चखकर ही पियें। परन्तु वह अपने प्रियतम की हर आज्ञा को शिरोधार्य करने की इच्छा के साथ ही ऐसा सुझाव देती है। जायसी ने सुरा को प्रेमरस के प्रतीक अर्थ में ही लिया है :

बिनति करै पदुमावति बाला। सो धनि सुराही पीउ पियाला।
पिउ आएसु माथे पर लेऊं। जौं मांगै नै नै सिर देऊं।
पै पिय बचन एक सुनु मोरा। चाखि पियहु मधु थोरइ थोरा।
पेम सुरा सोई पै पिया। लखै न कोइ कि काहूं दिया ॥३१९॥[1]

परन्तु जो साधक प्रेमरस का पान कर चुका है वह साधना में आने वाली मौत जैसी बाधाओं से भी विचलित नहीं होता। उसे अपनी साधना में ही डूबा रहना आनन्ददायक होता है। इसी भाव के प्रतीकार्थ जायसी ने लिखा है :

सुनु धनि पेम सुरा के पिएं। मरन जियन डर रहै न हिएं।
जहं मद तहां कहां संभारा। कै सो खुमरिहा कै मतवारा।
सो पै जान पियै जो कोई। पी न अघाइ जाइ परि सोई।
जा कहं होइ बार एक लाहा। रहै न ओहि बिनु ओही चाहा।
अरथ दरब सब देइ बहाई। कह सब आउ न जाउ पियाई।
रातिहुं देवस रहै रस भीजा। लाभ न देख न देखै छीजा।
भोर होत तब पलुह सरीरू। पाव खुमरिहा सीतल नीरू।

एक बार भर देहु पियाला बार बार को मांग।
मुहमद किमि न पुकारै अैस दांउ जेहि खांग ॥३२०॥[2]

नूरमुहम्मद ने मदिरा के विषय में लिखा है :

बिना कदम्बरि के पिये, त्रास न मन सो जात।
दयावती होइ दीजिये, होलिक लागी प्रात ॥[3]

सूफी काव्यों में साधना एवं दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले प्रतीक

---

१. पदमावत, पृ० ३१७-१८.
२. पदमावत, पृ० ३१८.
३. इन्द्रावती, प० ३४.

अपेक्षाकृत काव्यात्मक प्रतीकों के अधिक दृष्टिगत होते हैं। जैसे परम-तत्त्व के साक्षात्कार के लिए कुछ साधकों ने चार अवस्थाएँ मानी हैं और कुछ ने सात स्थितियां (मुक़ामात) स्वीकार की हैं। सूफ़ियों की मान्यता है कि साधना-पथ पर निरन्तर बढ़ते जाने के लिए सात मुक़ामातों का बड़ा महत्त्व है। साधक अपनी साधना को क्रमशः अग्रसर करता जाता है और इन मुक़ामातों पर ठहर-ठहर कर अपनी स्थिति को मजबूत करता है। एक साथ किसी मार्ग को तय करने में थकने की संभावना तो रहती ही है—खतरे की उसमें कहीं अधिक आशंका हो जाती है। सूफ़ी साधक अपने इष्ट की खोज में 'सालिक' या यात्री की भूमिका का निर्वाह करता है। वह अपनी यात्रा पर पहुंचने के लिए सात मुकामातों को तय करता हुआ (शरीअत, तरीकत, मारिफ़त आदि) अंतिम लक्ष्य 'फ़नाफ़िल-हक़' को प्राप्त करता है अर्थात् परमात्मा में विलीन हो जाता है।[1] इस प्रकार सूफ़ी साधक की यात्रा समाप्त हो जाती है और उसकी प्यास बुझ जाती है, वह अपने प्रियतम में एकाकार हो जाता है। रूमी के अनुसार अन्तिम लक्ष्य 'फ़ना' तक साधक को पश्चात्ताप, त्याग, परमात्मा में विश्वास और जप की स्थितियों को पार करना होता है।[2] अत्तार ने इन्हीं स्थितियों को सात घाटियों के नाम से प्रकट किया है।[3] पहली घाटी खोज

---

1. The Sufi sets out to seek God, calls himself a traveller (Salik), he advances by slow stages (Magamat) along a path (Teriqat) to the goal of union with reality (Fanafil-Haqq).—Mystics of Islam, p. 28.
2. It is the way that leads away from self, though repentence, renunciation, trust in god (Tawakkul), recollection (Zikar) to ecstasy and union with God. The final stage is fana, culminating in pana-al-fana.—Influence of Islam, p. 150.
3. The first of the seven is the Valley of Search, the second is the Valley of Love. The third Valley is that of Knowledge. The fourth stage is the Valley of Detachment. The fifth Valley is that of Unification. The sixth Valley is the Valley of Bewilderment, the seventh and the last Valley

की है, द्वितीय प्रेम की घाटी है। तृतीय घाटी ज्ञान की है। चौथी घाटी विच्छेद की है, इसमें सारी इच्छाएं विलीन हो जाती हैं। पांचवीं घाटी प्रियमिलन की है। छठीं घाटी विस्मय की है और सातवीं घाटी आत्म-लय की है।

उक्त संदर्भ को दृष्टि में रखकर भारतीय साधना की ओर ध्यान दें तो हमें योगदर्शन, बौद्ध और जैन साधनाओं में भी इस प्रकार की अवस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख दिखाई पड़ेगा। योगदर्शन के अनुसार योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग हैं।[1] बौद्धों ने अष्टांगयोग के स्थान पर षडंगयोग को मान्यता दी।[2] जैन लोग आत्मा को स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास करते हैं। इसलिए वे आत्मा का परमात्मा में विलय न दिखाकर केवलज्ञान और मोक्ष की स्थिति को चरम लक्ष्य मानते हैं। इसके लिए साधक को चौदह—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, संयोगीजिन और अयोगीजिन—गुणस्थानों को पार करना होता है।[3] केवलज्ञान की स्थिति में ध्यान, ध्याता और ध्येय का कोई विकल्प नहीं रह जाता। संक्षेप में यह कहना होगा कि प्रत्येक धर्मावलम्बी ने सोपानों की स्थितियाँ स्वीकार की हैं।

सूफी साधना में जिन सात मुकामातों अथवा चार अवस्थाओं का विधान है और इन मुकामातों को पार करने के लिए सूफी साधक बड़ी से बड़ी कीमत अदा करने को तैयार रहता है—इसी को ध्यान में रखकर सूफी कवियों ने साधनापथ में आनेवाली बाधाओं का प्रतीकात्मक संकेत समुद्रों, पर्वतों, घाटियों, नदियों आदि के रूप में किया है। जायसी ने राजा के कूच (प्रयाण) करने पर मार्ग में आनेवाली बाधाओं का जो वर्णन किया है वे साधना-पथ की बाधाओं के प्रतीक बनकर ही सामने आते हैं :

---

is the Valley of Annihilation.

—Persian Mystics, Attar, pp. 29-30.

१. डा० धर्मवीर भारती, हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ८८०.

२. वही.

३. देखिए—गोम्मटसार आदि ग्रंथ.

कहेह्लि आजु कछु थोर पयाना। काह्लि पयान दूरि है जाना॥
ओहिं मेलान जब पहुंचिहि कोई। तब हम कहव पुरुष भल सोई॥
एहि आगे परवत की पाटी। बिषम पहार अगम सुठि घाटी॥
बिच बिच खोह नदी औ नारा। ठांवहिं ठांव उठहिं बटपारा॥
हनिवंत केर सुनब पुनि हांका। दहुं को पार होइ को थाका॥
अस मन जानि संभारहु आगू। अगुआ केरि होहु पछलागू॥
करहिं पयान भोर उठि नितहि कोस दस जाहिं।
पंथी पंथाँ जे चलहिं ते का रहन ओनाहिं॥ १३६॥[1]

वास्तव में जो बटोही मार्ग तय कर रहे हैं, वे क्या कभी टिके रहने के लिए ठहरते हैं? उन्हें तो लक्ष्य तक पहुँचना रहता है। अतः विश्राम के लिए तथा अपनी स्थिति को और सुदृढ़ करने के लिए रुकते हैं ओर पुनः चलने लगते हैं। तब तक चलते जाते हैं जब तक कि प्रियतम का मिलन नहीं हो जाता। नूरमुहम्मद ने सात मुक़ामातों का 'सात वन' को संज्ञा देकर मार्ग की बीहड़ता प्रकट की है :

अगम पंथ मो सात वन, और समुद्र अथाह।
होत न कैसेहु मग मों, अगुवा बिना निवाह॥[2]

जायसी के खार, खीर, खधि, जल, उदधि, सुरा और किलकिला नामक सात समुद्रों का उल्लेख[3] सात मुकामातों का ही द्योतक है। वर्णन करने में जायसी ने प्रतीकात्मक बोध के लिए काफी गुंजाइश छोड़ी है। सातों समुद्र मिले हुए हैं परन्तु सभी का जल एक-दूसरे से भिन्न है :

मिले समुंद वै सातौं बेहर बेहर नीर।[4]

तात्पर्य यह है कि सातों समुद्रों का जल भिन्न-भिन्न है परन्तु वे मिले हुए हैं। इसी प्रकार सातों मुकामातों का स्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं परन्तु एक स्थिति को पार किए बिना दूसरी में नहीं पहुँचा जा सकता। तृतीय

१. पदमावत, पृ० १३१.
२. इन्द्रावती, पृ० १४.
३. पदमावत, पृ० १४४-१५१.
४. पदमावत, पृ० १४५.

दधि समुद्र का वर्णन तीसरे मुकाम के समकक्ष है। इसमें 'दधि' का जो रूपक बांधा है वह स्पष्ट ही प्रतीकात्मक है। वे कहते हैं कि वह जीव धन्य है जो प्रेम से दग्ध हुआ हो। वही दही में से मथकर घी निकालता है। दही की एक बूंद से सब दूध जम जाता है, वह खटाई की एक बूंद से पानी हो जाता है। शरीर प्राणरूपी दही से भरी मटकी है। इसमें मन-रूपी मथानी से प्राणरूपी दही पर चोट किए बिना घी अर्थात् परम ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती :

दधि समुंद्र देखत मन डहा। पेम क लुबुध दगध पै सहा॥
पेम सों दाधा धनि वह जीऊ। दही माँहि मथि काढ़ै घीऊ॥
दधि एक बूंद जाम सब खीरू। कांजी बुंद बिनसि होइ नीरू॥
स्वांस दहेंड़ि मन मथनी गाढ़ी। हिएं चोट बिनु फूट न साढ़ी॥[1]

जायसी ने सूफियों के सात मुकामातों या चार अवस्थाओं की ओर एकाधिक बार संकेत किया है। वे एक स्थान पर इन्हें सात खंडों की संज्ञा देते हैं। उनका कहना है कि मार्ग अगम्य है परन्तु वह मार्ग सुई की नोक पर चलने के समान है। उसका चढ़ना अत्यधिक तीखा है और सात खंड चढ़ने पड़ते हैं।

पै सुठि अगम पंथ बढ़ बांका। तस मारग जस सुई क नाका॥
बांक चढ़ाव सात खंड ऊंचा। चारि बसेरे जाइ पहूँचा॥[2]

सिंहल द्वीप पर पहुँचना अत्यधिक कठिन है क्योंकि मार्ग में सात समुद्र पड़ते हैं जो अथाह हैं :

खार खीर दहि उदधि सुरा जल पुनि किलकिला अकूत।
को चढ़ि बांधै समुंद ये सातौं है काकर अस बूत॥[3]

जायसी ने सातवें समुद्र मानसर का जो वर्णन किया है उसकी तुलना सूफियों की अंतिम फना की स्थिति से की जा सकती है। सातवें 'मानसर' में आकर साधक का अज्ञानांधकार अथवा तमस् मिट जाता है तथा प्रातःकालीन प्रकाश को ज्योति के समान उसकी आत्मा निर्मल हो जाती है।

---

१. पदमावत, पृ० १४६.
२. जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ३१५.
३. पदमावत, पृ० १३७.

'मानसर' समुद्र के वर्णन को देखकर कोई सहज में ही इसे प्रतीकात्मक अर्थ से परिपूर्ण कहेगा :

देखि मानसर रूप सोहावा। हियं हुलास पुरइनि होइ छावा ॥
गा अंधियार रैनि मसि छूटी। भा भिनुसार किरिन रबि फूटी ॥
अस्तु अस्तु साथी सब बोले। अंध जो अहे नैन बिधि खोले ॥
कंवल बिगस तहं बिहंसी देही। भंवर दसन होइ होइ रस लेहीं ॥
हंसहिं हंस औ करहिं किरीरा। चुनहिं रतन मुकताहल हीरा ॥
जौं अस साधि आव तप जोगू। पूजै आस मान रस भोगू ॥
भंवर जो मनसा मानसर लीन्ह कंवल रस आइ।
घुन जो हियाव न कै सका झूर काठ तस खाइ ॥ १५८ ॥[1]

कवि उसमान ने साधना की शरीयत, तरीक़त, हक़ीकत और मारिफत की अवस्थाओं के प्रतीकस्वरूप भोगपुर, गोरखपुर, नेहनगर और रूपनगर का वर्णन किया है। साधक-यात्री जब रूपनगर को प्रस्थान करता है तो सर्वप्रथम भोगपुर पड़ता है। वास्तव में यह भोग-विलास सामग्री का प्रतीक है। इस नगर में इन्द्रियाकर्षक वस्तुएँ हैं परन्तु साधक उनकी ओर बिना आकर्षित हुए आगे बढ़ता है। मार्ग तो दुरूह है ही, इसी से कहा है कि इस पर वही चल सकता है जिसका कलेजा लोहे का हो :

जाइ सोई जो जिउ परतेजा। सार पांसुली लोह करेजा ॥[2]

जब भोगपुर में साधक अपनी विजय पाता है तब वह गोरखपुर पहुंचकर गुरु की सहायता से योग साधता है। जब उसे अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है तब वह नेहनगर को प्रस्थान करता है और वहीं पहुँचकर उसे प्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है। जब सांसारिक कोई मोह नहीं रहता तब वह रूपनगर में पहुँचता है। यही उसका अंतिम लक्ष्य था। परन्तु यह मार्ग असिधार के तुल्य है।[3] सूफी कवियों ने सात समुद्र अथवा चार अवस्थाओं के विवेचन में अलग-अलग उपमानों का प्रयोग किया है। नूरमुहम्मद ने

१. पदमावत, पृ० १५१.
२. चित्रावली, पृ० ७९.
३. वही, पृ० ८४.

शरीर की स्थिति दिखाते हुए शरीअत, तरीकत, हक़ीकत और मारिफ़त की स्थिति को ही समझाया है। शरीर एक मूर्तिमान् मन्दिर है, उसमें मन एक फुलवारी है। तीसरी अवस्था में जीव एक हक़ीकत है। चौथी अवस्था मारिफत 'ज्योतिसदन' है जहां अज्ञानान्धकार का पूर्ण क्षय हो जाता है :

एक सरीर मंदिर छविधारी। दूसर है यह मन फुलवारी॥
तीसरे माँहि जीवन अस्थाना। चौथा जोति सदन हम जाना॥[1]

जायसी ने सिंहलगढ़ का वर्णन करते समय जिन सात चढ़ावों का वर्णन किया है वे भी साधना के क्षेत्र में प्रतीक हैं :

कहौं तोहि सिंघलगढ़ है खंड सात चढ़ाउ।
फिरा न कोई जिअति जिउ सरग पंथ दै पाउ॥[2]

इसी प्रकार नव द्वार इंद्रियों के प्रतीक के लिए, पाँच हरकारा ज्ञानेन्द्रियों आदि के लिए अनेक प्रतीकात्मक शब्द इन सूफी काव्यों में मिल जाते हैं।

साधनात्मक प्रतीकों के अतिरिक्त सूफ़ियों ने जीवात्मा और परमात्मा के प्रेम स्थापन में शुक, बुलबुल, चमन, चन्द्रमा-चकोर, सूर्य-कमल, पतंग-दीपक, भौंरा-गुलाब, जल-मीन और बाँसुरी आदि प्रेम-प्रतीकों की सहायता ली। जब सूफी कवि कमल और सूर्य के प्रीति निर्वाह की बात कहता है तब वह जीवात्मा और परमात्मा के प्रेम की ओर इंगित करता है। नूरमुहम्मद कमल-सूरज और चुम्बक तथा लोहे का वर्णन प्रतीकात्मक ही करते हैं :

तौ उत्तम को ध्यान भला है, कमल सुरज को प्रीति निबाहै।
कहां मयंक कहा ससिनेही, दीपक कहां कहां तमगेही॥[3]
आनवस्तु पर उपनत दोहा, चुम्बक पाहन चाहत लोहा।
देखौ पतंग गृह्य मन रीझा, मन भावन मरा ऊपर सीझा।
पंकरुह तिमिरारि लुभाना, जलमहं ताहि देखि बिगसाना।

१. इन्द्रावती, पृ० ७१.
२. पदमावत, पृ० २०४.
३. अनुराग बांसुरी, पृ० १०४.

पाइ गुलाब गुलाब सनेही, चहचहात आनन्द देही।
अमरकोस मृगमद नित रागी, प्रेम की रीति निरार सुभागी ॥[1]

पद्मावती को जब रतनसेन का वियोग सताता है तो उसे रात्रि को नींद नहीं आती। शय्या पर लेटती है तो उसे ऐसा लगता है कि वहां किसी ने केंच (केंच की कली के रेशे से शरीर पर अत्यधिक जलन और खुजाल होती है) लगा दी है। चन्द्रमा, चन्दनादि सभी उसे ताप देते हैं। विरहाग्नि में शरीर झुलसता है। रात्रिकाल एक युग के समान बीतता है आदि—

पदुमावति तेहि जोग संजोगां। परी पेम बस गहें बियोगां ॥
नींद न परै रैनि जौं आवा। सेज केवांछ जानु कोई लावा ॥
दहै चाँद औ चन्दन चीरू। दगध करै तन बिरह गंभीरू ॥
कलप समान रैनि हठि बाढ़ी। तिल तिल मरि जुग जुग बर गाढ़ी ॥[2]

जीवात्मा जब प्रियतम परमात्मा के वियोग में तड़फती है तो उसकी दशा वही होती है जो जल के बिना मछली की। इसी बात को जायसी ने पद्मावती के संदर्भ में प्रकट किया है। पद्मावती मछली की तरह तड़फती है और 'पिउ-पिउ' रटते-रटते पपीही हो हो गई है :

कौन मोहनी दहुँ हुत तोही। जो तोहि बिथा सो उपनी मोही ॥
बिनु जल मीन तलफ जस जीऊ। चातकि भइउं कहत 'पिउ-पिऊ' ॥

चन्द्रमा और चकोर का प्रेम बहुचर्चित है। जिस प्रकार साधक जीवात्मा परमात्मा से मिलने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है उसी प्रकार चन्द्रमा को पाने के लिए चकोर मंडराता ही रहता है। सूफियों ने चन्द्र और चकोर का प्रतीकों के लिए उपयोग किया है। कवि नूरमुहम्मद ने एक स्थान पर नेत्र के लिए चकोर और मुख के लिए चन्द्रमा का रूपक दिया है:

मन लोचन मो चंद दिसि, रहिगा चितै चकोर।
चंद बिलोकत रहि गयउ, जिन चकोर की ओर ॥[3]

---

१. अनुराग बांसुरी, पृ० ११२.
२. पदमावत, पृ० १६१.
३. इन्द्रावती. पृ० ६०.

सूफ़ी काव्यों में सूर्य-चन्द्र का उपमानों के रूप में बहुतायत से प्रयोग किया गया है। भारतीय शास्त्रों में सूर्य को अग्नितत्त्व और चन्द्रमा को सोमतत्त्व माना है। यह जगत् इन्हीं दोनों तत्त्वों का प्रतिफल है। सूर्य को अग्नितत्त्व मानने का मूल कारण यह है कि वही सांसारिक जीवन में प्राणों का संचार करता है। सोमतत्त्व अर्थात् शीतल तत्त्व अर्थात् मातृतत्त्व है। जब सोमतत्त्व और अग्नितत्त्व का मिलन होता है तब सृष्टि की रचना होती है। जब तक सूर्य और चन्द्र या यों कहें कि पुरुषतत्त्व और स्त्रीतत्त्व का संयोग न हो तो सृष्टि ही न हो। इसी रूप को ध्यान में रखकर सूफियों के प्रेमी-प्रेमिकाओं अथवा नायक-नायिकाओं तथा जीवात्मा व परमात्मा के लिए प्रयुक्त सूर्य-चन्द्र की व्याख्या से ज्ञात होता है कि उन्होंने अनेक बार प्रतीकात्मक ढंग से इन शब्दों का प्रयोग किया है। रतनसेन से पद्मावती के सौन्दर्य के विषय में जब सुग्गा कहता है कि जिस प्रकार उगते हुए सूर्य की धूप से चाँद छिप जाता है उसी प्रकार सब स्त्रियाँ पद्मावती के रूप के आगे छिप जाती हैं :

उअत सूर जस देखिअ चांद छपै तेहि धूप।
अैसे सबै जाहिं छपि पदुमावति के रूप॥[1]

तब रतनसेन को कहना पड़ता है :

तुइं सुरंग मूरति वह कही। चित महं लागि चित्र होइ रही॥
जनु होइ सुरुज आइ मन बसी। सब घट पूरि हिएं परगसी॥[2]

अर्थात् पद्मावतीरूपी सूर्य ने उसके शरीर में प्रवेशकर हृदय को प्रकाशित कर दिया। प्रकाशित ही नहीं किया अपितु उसे सूर्यरूप कर दिया और स्वयं छायारूप हो गई :

अब हौं सुरुज चाँद वह छाया।[3]

अब रतनसेन सूर्य है और पद्मावती छाया और चन्द्र है। यही उपयुक्त भी है। स्त्रीतत्त्व ही शीतल और सोम होता है। इन दोनों का लय या

१. पदमावत, पृ० ९२.
२. वही, पृ० ९३.
३. वही.

एकात्म होना ही सूफियों की अंतिम परिणति है। जायसी ने पद्मावती के कानों के कुण्डलों को सूर्य और चन्द्रमा के समान चमकीला बताया है:

दुहुं दिसि चाँद सुरुज चमकाहीं। नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं।[1]

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, सोम अथवा चन्द्र स्त्री का प्रतीक है और सूर्य पुरुष का प्रतीक है। जायसी ने एक स्थान पर स्पष्ट ही लिखा है।

सखी देखावहिं चमकहु बाहू। तूं जस चाँद सुरुज तोर नाहू॥
छपा न रहे सुरुज परगासू। देखि कंवल मन भएउ हुलासू॥[2]

अर्थात् पद्मावती को सखियां उसके पति को दिखाकर कहती हैं कि तू जैसे 'चाँद' है वैसे ही तेरा पति 'सूरज' है। सूर्य के प्रकाश से रात्रिरूपी अंधकार नष्ट हो जाता है। कमल खिल उठते हैं। सूर्य और चन्द्रमा का मिलन संभव नहीं दिखाई पड़ता परन्तु जायसी ने प्रतीकों के माध्यम से वह भी संभव कर दिखाया और इस बात की भी पुष्टि कर दी कि चन्द्र स्त्री का और सूर्य पुरुष का प्रतीक है :

चाँद सुरुज दुइ निरमल दुवौ संजोग अनूप।
सुरुज चाँद सौं भूला चाँद सुरुज के रूप॥

पद्मावती ने रतनसेन को देखा तो उसके मन में काम के आठों भाव जाग्रत हो गए। जायसी ने इसे इस प्रकार लिखा है।

देखा चांद सुरुज जस साजा। अस्टौ भाउ मदन तन गाजा॥[4]

सूर्य और चन्द्र के प्रतीक रूपों को देखा। दीपक और पतंग का प्रेम भी किसी से छिपा नहीं। जब तक दीपक की लौ से पतंग जलकर राख नहीं हो जाता, वह दीपक पर ही मंडराता रहता है। इसे उसकी प्रीति, स्वभाव अथवा यदि मानते हैं तो नियति भी कह सकते हैं :

---

१. वही, पृ० १०७.
२. वही, पृ० २६५.
३. वही, पृ० २७२.
४. वही, पृ० २६५.

दीपक प्रीति पतंग जेउं जनम निबाह करेउं।
नेवछावरि चहुँ पास होइ कंठ लागि जिउ देउं ॥[१]

पदमावत में जायसी ने कथा को प्रतीकों के आधार पर खड़ा किया है। कथा में चित्तौड़ तन का प्रतीक और राजा रतनसेन मन का प्रतीक है। सिंहल उसका हृदय है, पद्मावती बुद्धि है, नागमती दुनिया-धंधा है, सुआ गुरु है और राघव शैतान तथा अलाउद्दीन माया के प्रतीक हैं।[२] वास्तव में हठयोग की साधना-प्रक्रिया को जायसी ने प्रतीकों के माध्यम से समझाने की चेष्टा की है। सिंहलगढ़ का जब वे वर्णन करते हैं तो कुंडलिनी और ब्रह्माण्ड तक का चित्र उपस्थित हो जाता है :

तरहिं कुरुंभ बासुकि कै पीठी। ऊपर इन्द्रलोक पर डीठी ॥
परा खोह चहुंदिसि तस बांका। कांपै जांघि जाइ नहिं झांका ॥
अगम असूझ देखि डर खाई। परै सो सप्त पतारन्ह जाई ॥
नव पंवरी बांकी नव खंडा। नवहुं जो चढ़ै जाइ ब्रह्मंडा ॥
कंचन कोट जरे कौसीसा। नखतन्ह भरा बीजु अस दीसा ॥
लंका चाहि ऊंच गढ़ ताका। निरखि न जाइ दिस्टि मन थाका ॥
हिज न समाइ दिस्टि नहिं पहुंचै जानहु ठाढ़ सुमेरु।
कहं लगि कहौं ऊंचाई ताकरि कहं लगि बरनौं फेरु ॥४०॥[३]

गढ़ में जो नौ द्वार और नौ मंजिलें हैं वही शरीर के नौ द्वारों के प्रतीक हैं। जो इन नवों स्थानों को पार कर लेता है वह ब्रह्माण्ड को पा लेता है। परन्तु उसे पाने के लिए गढ़ के वज्र किवाड़ों को तोड़कर जाना होता है जो इतना सरल नहीं। उसको ऊंचाई भी अधिक है। नौ खण्डों पर नौ द्वार हैं। उनमें वज्र के किवाड़ लगे हैं। उन पर चार पड़ाव देकर चढ़ना चाहिये और इसके लिए जो सत्यमार्ग का अनुसरण करेगा वही चढ़ पायेगा।

नवौ खंड नव पंवरीं और तहं बज्र केवार।
चारि बसेरें सों चढ़ै सत सौं चढ़ै जो पार ॥[४]

---

१. वही, पृ० ७०९.
२. जायसी-ग्रन्थावली, उपसंहार पृ० ३४१.
३. पदमावत, पृ० ४०.
४. वही, पृ० ४१.

उक्त दोहे में जो चार बसेरे की बात कही गई है वह स्पष्ट ही सूफियों के शरीअत, तरीकत, मारिफ़त और हक़ीकत इन चार अवस्थाओं की ओर लक्ष्य करके कही गई है। ये कुछ ऐसे उद्धरण हैं जिनमें हठयोग आदि सम्बन्धी अर्थों को प्रतिपादित करने में आयास और श्रम की अपेक्षा नहीं।

श्वास प्रक्रिया से कुंडलिनी को जाग्रत किया जाता है। उसी के द्वारा साधक ब्रह्माण्ड तक अथवा ब्रह्मज्ञान की स्थिति तक पहुँचता है। इसमें मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धाख्य, आज्ञा और सहस्रादि चक्रों की स्थिति से गुजरना होता है। इस मार्ग को ऊंचाई से तय करना अत्यधिक कठिन होता है। जायसी ने ब्रह्माण्ड की ऊँचाई का और उस तक पहुँचने के मार्ग का वर्णन सिंहलगढ़ के माध्यम से इस प्रकार किया है :

सो गढ़ देखु गंगनु तें ऊंचा। नैन देख कर नाहिं पहूँचा ॥
बिजुरी चक्र फिरै चहुं फेरी। औ जमकात फिरै जम केरी ॥
धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र भएउ दुइ आधा ॥
चंद सुरुज औ नखत तराईं। तेहि डर अंतरिख फिरैं सबाईं ॥
पवन जाइ तहं पहुंचै चहा। मारा तैस टूटि भुइं बहा ॥[1]

हठयोगी साधना की दुरूहता भी किसी से छिपी नहीं है। उक्त उद्धरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। जायसी ने एक अन्य स्थान पर दशम द्वार का उल्लेख किया है जो कि यौगिक प्रक्रिया से ही संबंधित जान पड़ता है :

दसवं दुवार तारु का लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा ॥
जाइ सो जाइ सांस मन बंदी। जस धंसि लीन्ह कान्ह कालिन्दी ॥[2]

अर्थात् दशम द्वार अथवा ब्रह्माण्ड अत्यधिक ऊँचे स्थान पर है। जिसने अपनी दृष्टि अन्य वस्तुओं से हटाकर उसी ओर लगा दी है वही उसे देख सकता है। जिसका प्राण मन के साथ बंध जाता है वही उसके समीप पहुँच पाता है। गढ़ को शरीर की रचना द्वारा जायसी जब समझाने लगते हैं तब उनकी प्रतीकात्मक शैली की बात और भी मुखर होकर सामने आ जाती है। जायसी लिखते हैं :

---

१. पदमावत, पृ० १५४.
२. वही, पृ० २०७.

गढ़ तस बांक जैसि तोरि काया । परखि देखु तैं ओहि की छाया ॥
पाइअ नांहि जूझि हठि कीन्हे । जेइं पावा तेइं आपुहि चीन्हे ॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मंझिआरा । औ तहं फिरहिं पांच कोटवारा ॥
दसवं दुआर गुपुत एक नाँकी । अगम चढ़ाव बाट सुठि बांकी ॥
भेदी कोइ जाइ ओहि घाटी । जौं लै भेद चढ़ै होइ चांटी ॥
गढ़ तर सुरङ्ग कुंड अवगाहा । तेहि महं पंथ कहों तोहि पाहां ॥
चोर पैठि जश सेंधि संवारी । जुआ पैंत जेउं लाव जुआरी ॥
जस मरजिया समुन्द धंसि मारै हाथ आव तब सीप ।
ढूंढ़ि लेहि ओहि सरग दुवारी और चढ़ु सिंघलदीप ॥१२५॥[1]

अर्थात् गढ़ वैसा ही बांका है जैसा तेरा शरीर । तू परीक्षा करके देख कि दोनों में साम्य है कि नहीं । जिसने आत्मा को पहचान लिया उसने सिद्धि प्राप्त कर ली । शरीर में नौ इन्द्रिय-द्वार हैं और पंच प्राण उसकी रक्षा करने वाले कोतवाल हैं । ब्रह्मरन्ध्र उसका दशम गुप्त द्वार है । उस तक पहुंचने का मार्ग दुर्गम्य और टेढ़ा है । उसका भेद गुरु से जानकर ही कोई भेदी पिपोलिका गति से उस घाटी तक पहुँच सकता है । इस शरीर-रूपो गढ़ में सबसे नीचे सुषुम्नारूपी सुरंग है जो मूलाधाररूपी अगाध कुंड से आरम्भ होती है । ब्रह्माण्ड तक पहुँचने का मार्ग उसी में होकर गया है । जिस प्रकार चोर चुपचाप सेंध लगाकर घुसता है उसो प्रकार जो गुप्त साधना करता है, जिस प्रकार जुआरी अपनी सारी पूँजी दाव पर लगाकर जुआ खेलता है उसी प्रकार जो साधक अपना माया-मोह त्यागकर साधना करता है और समुद्र में घुसने वाले गोताखोर को भांति जोकि प्राणों को हथेलो पर लेकर योग-साधना करता है उसो को ब्रह्मरूपी मणि प्राप्त होती है । जो सुषुम्ना के इस स्वर्गद्वार नामक आरम्भ को पा लेता है वही अंतिम सिद्धि-स्थान तक पहुँचता है ।

दशम द्वार को कोई मर्मी हो खोल सकता है, इसकी जानकारो नूर-मुहम्मद को भलीभाँति थी :

दसई द्वार न खोलत कोई । तब खोलैं जा मरमी होई ॥[2]

---

१. वही, पृ० २०५.

२. इन्द्रावती, पृ० २७.

साधनात्मक प्रसंगों में सूफी कवियों ने दर्पण का उल्लेख हृदय के प्रतीकार्थ में किया है। साधक को चाहिये कि वह अपने हृदयरूपी दर्पण पर धूल न जमने दे अन्यथा वह अपने इष्ट का प्रतिबिम्ब नहीं देख सकेगा। इसीलिए उसमान दर्पण को संभालने की बात कहते हैं :

यह दरपन तुम्ह लेहु संभारी, जेहि महं देखहु दरस पियारो।
अब नहिं लावहु चित बैरागा, मांजत रहब जो मैल न लागा॥[१]

नूरमुहम्मद का कथन है :

पै हबहीं नहि उचित परगट देउ देखाय।
देखे मेरो छाया, ऐसे करहु उपाय॥
झांका दरपन मों परछाहीं, परी बदन की बिछुरी नाहीं॥[२]

वास्तव में सूफियों को 'दर्पण' प्रतीक योजना से एक रहस्योद्घाटन होता है। भारतीय विचारधारा में ईश्वर को विराटस्वरूप माना गया है। उस विराट को साक्षात् देखने की शक्ति साधारण प्राणी में कैसे संभावित है? वह तो उस स्वरूप को हृदयरूपी दर्पण में उतारता है—देखता है। सूफ़ी भी अपने प्रिय अर्थात् परमात्मा को हृदयरूपी दर्पण में देखता है :

तेहि रूपवंती रूप सो, दरपन पायउ रूप।[३]

इन्द्रावती में कुंवर को स्वप्नदर्शन होता है। कुंवर अपनी अनुभूति को इस प्रकार व्यक्त करता है :

मोंहि अचरज हिरदय मों आही। कैसे मुकुर म देखा ताही॥
यह सपने को को पतियाई। मुकुर सौहं बिनु देखिन जाई॥[४]

जायसी ने लिखा कि अमुक-अमुक वस्तुओं ने दर्पण के समान पद्मावती के अंगों का प्रतिबिम्ब ग्रहण किया :

---

१. चित्रावली, पृ० १०२.
२. इद्रावती, पृ० ११४.
३. वही, पृ० १०.
४. वही, पृ० ११.

पाए रूप रूप जस चहे। ससि मुख सब दरपन होइ रहे ॥
नैन जो देखे कंवल भए निरमर नीर सरीर।
हंसत जो देखे हंस भए दसन जोति नग हीर ॥[1]

इन प्रतीकों के अतिरिक्त सूफियों ने दैनिक जीवनोपयोगी पदार्थों का भी प्रतीकार्थों के लिए प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ जायसी ने कत्था, चूना, पान और सुपारी का उल्लेख किया है। ये चारों पदार्थ चार प्रकार की शून्य अवस्थाओं के प्रतीक हैं। पान शून्य, सुपारी अति शून्य, कत्था महाशून्य और चूना सर्वशून्य के प्रतीक हैं।[2]

पान सुपारी खैर दुहुं मेरै करै चक चून।
तब लगि रंग न राचै जब लगि होइ न चून ॥[3]

सूफी प्रतीकों के संदर्भ में डॉ० सरला शुक्ल ने 'इजिप्शियन लायब्रेरी' के हस्तलिखित ग्रन्थ 'अल सिरंफि अनफास अल सूफ़िया' में वर्णित सूफ़ी मत की उनतीस परिभाषाओं को उद्धृत किया है[4] जो इस प्रकार हैं :

अलिफ	—	सूफ़ी मत का तात्पर्य		सद्गुणों की प्राप्ति एवं दुर्गुणों का अभाव है।
बे	—	,,	,,	आत्मा की खोज एवं लौकिक सुखों का त्याग है।
ते	—	,,	,,	सिद्धांत-रक्षा एवं तुच्छ विचारों का त्याग है।
टे	—	,,	,,	परमेश्वर की सेवा में हृदय की दृढ़ता है।
जीम	—	,,	,,	विषय-वासनाओं पर नियन्त्रण रखना है।
हे	—	,,	,,	गुप्त भेद की सुरक्षा, धर्मात्माओं की श्रद्धा एवं पतितों का पार्थक्य है।
खे	—	,,	,,	संग्रह-त्याग ही नहीं, उसकी आशा का भी त्याग है।

---

१. पदमावत, पृ० ६५.
२. देखिए—पदमावत में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का प्राक्कथन, पृ० ४७.
३. वही.
४. हिन्दी सूफ़ी कवि और काव्य, पृ० २२५.

जोय—सूफ़ीमत का तात्पर्य कष्टों की उपस्थिति में भी हर्ष एवं कृतज्ञता प्रदर्शित करना है।

ऐन— ,, ,, महान् उद्देश्य एवं ईश्वर की महान् अनुकम्पा है।

गैन— ,, ,, अवैध वस्तुओं से घृणा एवं परमात्मप्रसाद से प्रेम है।

फ़े— ,, ,, मानवत्व से ऊपर उठकर परमात्मा तक पहुँचना है।

क़ाफ़— ,, ,, उस प्रकाश की प्राप्ति है जो मुक्ति देता है।

काफ— ,, ,, वास्तविकता-लाभ एवं क्षणिकता का विनाश है।

लाम— ,, ,, परमेश्वर से एकत्व तथा अन्य वस्तुओं से विछोह है।

मीम— ,, ,, आत्मचिन्तन है।

नून— ,, ,, लालसा साफल्य की प्राप्ति की आतुरता है।

हे— ,, ,, परमेश्वर का क्रोध एवं दण्ड देने के समय भी निर्विकार होना है।

वाव— ,, ,, सत्यमार्ग के परिपालन से परमेश्वर की प्राप्ति है।

लाम-अलिफ— ,, ,, परमेश्वर की सत्ता के गुप्त भेद का प्रकाश है।

ये— ,, ,, पाप-कारण के समूलनाश का दृढ़ निश्चय है।

'इन परिभाषाओं का मनन करने से सूफ़ीमत की सहनशीलता, उदारता एवं स्नेहार्द्रता का परिचय मिलता है'[1] इसमें संदेह नहीं, परन्तु ये प्रतीकों की श्रेणी में रखे जाने चाहिये अथवा नहीं, यह अवश्य विचारणीय है। सूफ़ी साहित्य में वर्णमाला पर आधारित प्रतीकों का उल्लेख मेरी दृष्टि में नहीं आया। उर्दू के कुछ अक्षर ऐसे हैं जिनमें बिन्दु (नुक्ते) के हेर-फेर से शब्दों में काफी अन्तर पड़ जाता है, जैसे खुदा से जुदा

१. हिन्दी सूफ़ी कवि और काव्य, पृ० २२६.

हो जाता है। बुल्लेशाह ने अद्वैत की भावना के सम्बन्ध में उर्दू के ऐन व ग़ैन का उल्लेख किया है कि ऐन पर एक बिन्दु (नुक्ता) लगा देने से ग़ैन बन जाता है और उसी बिन्दु को हटा देने पर पुनः गैन से ऐन बन जाता है :

टुक बूझ कवन छप आया है।
इक नुकते में जो फेर पड़ा, तब ऐन गैन का नाम धरा।
जब मुरसद नुकता दूर किया, तब ऐनों ऐन कहाया है॥[1]

परन्तु इन उद्धरणों का प्रतीकों के सन्दर्भ में कोई महत्त्व नहीं है। कहने का भाव यह है कि उर्दू वर्णमाला के २९ अक्षरों पर आधारित सूफियों की जो परिभाषाएँ हैं वे प्रतीक नहीं अपितु परिभाषाएँ ही हैं।

जिन सूफ़ी कवियों ने जान-बूझकर अपने काव्यों में प्रतीकों को स्थान दिया है, उनमें से अधिकांश ने कथा को आध्यात्मिक धरातल पर उतारने के लिए ही उनका प्रयोग किया है। जायसी ने पदमावत के प्रारम्भ में ही कथा के रहस्यपूर्ण अथवा आध्यात्मिक अर्थ की ओर स्पष्ट संकेत कर दिया है :

आदि अंत जसि कथ्था अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।
कबि बिआस रस कौंला पूरी। दूरिहि निअर निअर भा दूरी॥

भंवर आइ बनखण्ड हुति लेहि कंवल कै बास।
दादुर बास न पावहिं भलेहि जो आछहि पास॥[2]

पहले संकेत किया जा चुका है कि सूफियों का काव्य एवं अध्यात्म पक्ष प्रेमभित्ति पर खड़ा है। प्रेम की साधना से एक साधक वह सब कुछ पा लेता है जो उसे इष्ट होता है। प्रेम ऐसा माध्यम है जो परमात्मा से साक्षात्कार ही नहीं अपितु सामरस्य की स्थिति ला देता है। सूफी परिभाषा में परमात्मा ही प्रेमिका है। जायसी ने पदमावत में प्रमुख पात्रों के रूप में जिन प्रतीकों की स्थापना की है वे कथा की आध्यात्मिकता पर प्रकाश डालते हैं। पद्मावती विश्वज्योति के रूप में अवतरित होती है। वह प्रकाश की प्रतीक है :

---

१. सूफ़ीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० १५६.
२. पदमावत, पृ० २४.

जानहु सुरज किरिन हुति काढ़ी। सूरुज करा घाटि वह बाढ़ी।
भा निसि मांह दिन क परगासू। सब उजिआर भएउ कबिलासू॥[1]

ग्रन्थ के अन्त में जायसी ने सभी पात्रों के प्रतीकार्थों को स्पष्ट करके भ्रम-निवारण कर दिया है :

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत का निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बांचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई संतानू। माया अलाउद्दीं सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भांति विचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥[2]

कथा में चित्तौड़ शरीर का, रतनसेन मन का, सिंहल हृदय का, पद्मावती बुद्धि की, हीरामन तोता गुरु का, नागमती प्रपंच, राघव शैतान और अलाउद्दीन माया का प्रतीक है। प्रसंगात् इसका उल्लेख पहले भी किया गया है। साधना के क्षेत्र में इन सबकी उपयोगिता एवं अनुपयोगिता का प्रश्न है। गुरु साधना-मार्ग का निदेशक होता है। गुरु की कृपा से ही शिष्य साधना के भेद को जानता है :

चेला सिद्धि सो पावै, गुरु सौं करै अछेद।
गुरु करै जो किरिया, पावै चेला भेद॥[3]

हीरामन सुआ गुरु का प्रतीक है :

हीरामनि राजा सौं बोला। एही समुंद्र आइ सत डोला॥
एहि ठाउं कहं गुरु संग कीजै। गुरु संग होइ पार तौ लीजै॥[4]
पूछा राजैं कह गुरु सुआ। न जनौं आज कहां दिन उवा॥[5]

पदमावत की कथा में रतनसेनरूपी साधक प्रेममार्ग की नागमती-रूपी प्रपंच, राघव शैतान और अलाउद्दीनरूपी माया आदि बाधाओं को हटाता हुआ सिंहल द्वीप अर्थात् हृदय में पहुँचता है। वहाँ से पुनः नौ द्वारों को पार करता हुआ दशम द्वार या ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है। वहीं

---

१. पदमावत, पृ० ५१.
२. जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ३०१.
३. वही, पृ० १०८.
४. पदमावत, पृ० १४९.
५. वही, पृ० १७३.

उसे उसकी प्रेमिका पद्मावती अर्थात् सिद्धि प्राप्त होती है। इस प्रकार कथा के आध्यात्मिक तथ्यों से परिचित हुआ जा सकता है।

सूफी प्रेमाख्यानकों में ही कथा को आध्यात्मिक ढाँचे में ढालने के लिए प्रतीकों का प्रयोग नहीं हुआ है वरन् हिन्दू काव्यों में भी ऐसा पाया जाता है। पुहुकर कवि ने रसरतन वैरागर को वैराग्य रूप और सूरसेन राजा को जीवनी संज्ञा से अभिहित किया है। उसके सत्संगति और सद्बुद्धि नामक दो पत्नियाँ हैं। इन्हीं के सहारे प्रीत की ज्योति जलाकर, विषयादिक सुखों का त्याग करके इष्टलाभ लेना चाहता है :

वैरागर वैराग वपु, हीरा हित हरि नाम।
प्रीत जोत जिय जगमगै, हरै त्रिविध तनु ताप॥
सतसंगति सतबुद्धि उर, बिव घरनी संग लाय।
ज्ञान बान प्रस्थान करि, तजै विषै सुख पाय॥[1]

उसमान कवि की रचना चित्रावली का कथासार द्वितीय अध्याय में दिया गया है। कथा के अध्ययन से लगता है कि इनका आध्यात्मिक पक्ष जायसी की रचना से प्रभावित है। कवि की अद्वैत भावना का तब पता चलता है जबकि वह स्वयं कहता है :

सब वही भीतर वह सब मांही। सबै आपु दूसर कोउ नाहीं॥
दूसर जगत नामु जिन पावा। जैसे लहरी उदधि कहावा॥[2]

पात्रों को प्रतीक रूप में देखा जा सकता है। चित्रावली विद्या और कंवलावती अविद्या की प्रतीक हैं। चित्रावली ईश्वरीय शक्ति की प्रतीक भी है। जब वह जल में अदृष्ट हो जाती है तब उसको सखियाँ कहती हैं कि तू प्रकट रूप में भी छिपी रहती है फिर गुप्त रूप में हम तुझे क्या जान सकते हैं। ब्रह्मा चारों वेदों को पढ़कर भी तुम्हें न खोज सका और तुम्हारे भेद को न जान सका। शंकर भी सेवा करके हार गये और पार न पा सके। हम ऐसी अंधी हैं कि अपना आपा ही नहीं सूझता तब तुम्हारा भेद कैसे जानेंगी? तुम्हारा ऐसा कौनसा स्थान है जहाँ तुम नहीं हो? तुम सर्वत्र हो परन्तु हमारी नेत्र-ज्योति ऐसो नहीं जो तुम्हें देख सके। योगी होने अथवा पोथियों के पढ़ने से कुछ नहीं होता। तुम्हें तो वही पा सकता है जिसे तुम स्वयं मार्ग दिखाती हो :

---

१. रसरतन, संपा०—डा० शिवप्रसाद सिंह, पृ० २६८.

२. चित्रावली, पृ० १.

गुपुत तोहि पावहिं का जानी। परगट मंह जो रहहि छपानी ॥
चतुरानन पढ़ि चारौ वेदू। रहा खोजि पै पाव न भेदू ॥
संकर पुनि हारे कै सेवा। ताहि न मिलिज आर को देवा ॥
हम अंधी जेहि आप न सूझा। भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा ॥
कौन सो ठाऊं जहाँ तुम नाहीं। हम चषु जोति न देखहि काहीं ॥
पावै खोज तुम्हार सो, जेहि देखलावहु पंथ।
कहा होइ जोगी भए, और पुनि पढ़े गरंथ ॥[1]

कथा में राजकुमार सुजान का सुबुद्धि नामक मित्र है, वह भी आध्यात्मिक दृष्टि का ही प्रतीक है। साधना बिना सद्बुद्धि के योग के नहीं होती। सद्बुद्धि गुरु देता है। उसमान गुरु के महत्त्व को स्वीकार करते हैं :

कथा मान कवि गायेउ नई। गुरु परसाद समापत भई ॥[2]

जैसा कि लिखा जा चुका है कि चित्रावली विद्या की प्रतीक है और सुजानरूपी साधक उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। चित्रावली के स्वरूप का वर्णन कथा में परेवा द्वारा कराया गया है। उसका वह स्वरूप पूर्णतः आध्यात्मिक है। परेवा कहता है कि चित्रावली वह है जिसका तीनों लोकों में ध्यान किया जाता है। देवलोक में सभी उसका ध्यान करते हैं। पाताललोक में सभी उसकी सेवा करते हैं। मर्त्यलोक में प्रत्येक घर में उसकी चर्चा होती है। पक्षी उसी को पाने के लिए उदास घूमते हैं। पर्वत एकस्थ होकर उसके नाम का जाप करते हैं। पृथ्वी एक पग पर खड़ी हो उसी की सेवा करती है। जो व्यक्ति जान-बूझकर उसके नाम को भूलता है वह व्यक्ति जीवित होते हुए भी अभागा है। चित्रावली का स्वरूप ऐसा दीप्तिमान है कि चन्द्र-सूर्य भी उसकी समता नहीं कर सकते। वह व्यक्ति धन्य है और उस व्यक्ति का हृदय धन्य है जिसने ऐसे स्वरूप वाली चित्रावली के मार्ग पर अपना मन लगा दिया है :

बहु चित्रावलि आहै सोई। तीन लोक वेदै सब कोई ॥
सुरपुर सबै ध्यान ओहि धरहीं। अहिपुर सबै सेव तेहि करहीं ॥

---

१. चित्रावली, पृ० ४७-४८.
२. वही, पृ० २३६.

ऋतुमंडल जो देखा हेरी। घर-घर चलै बात तेहि केरी ॥
पंछी वोहि लगि फिरहिं उदासा। जल के सुत ओहि नाउं पिपासा ॥
परवत जपहिं मौन होइ नाऊं। आसन मारि बैठि एक ठाउं ॥
पहुमी दहु जो सरग लहु बाढ़ी। सेवा करतहिं एक पग ठाड़ी ॥
जानि बूझि जो ताहि बिसारा। सो मनु जियतहिं मरा अड़ारा ॥
अति सुरूप चित्रावली, रवि ससि सर न करेइ।
धन सो पुरुष और धन हिया, ओहिक पंथ जिउ देइ ॥[1]

उसमान की कथा को आध्यात्मिक प्रमाणित करने के लिए इतने तथ्य पर्याप्त हैं। कवि ने एक स्थान पर परमात्मा अथवा प्रिय तक पहुँचने के लिए चार नगरों—जोकि शरीअत, तरीक़त, मारीफत आदि चार स्थितियों के प्रतीक हैं—को पार करने का उल्लेख किया है। विषयादिक वासनाओं का प्रतीक पहला नगर भोगपुर है। यहाँ साधक की प्रथम भूमिका होती है। साधक को इस भूमिका अथवा अवस्था से निकलना कठिन होता है क्योंकि सांसारिक माया अपनी ओर खींचती है। दूसरा नगर गोरखपुर है जिसमें साधक गुरु से योगमार्ग की शिक्षा ग्रहण करके पथ पर अग्रसर होता है और तृतीय नेहनगर में प्रवेश पाता है। यहाँ वह परमात्मा अथवा प्रेमिका से समन्वय स्थापित करता है। इसके बाद की अंतिम स्थिति रूपनगर है जहाँ वह उस रूप की सत्ता में एकाकार हो जाता है। साधना के मार्ग आदि के उल्लेख के अतिरिक्त कवि ने सत्य, पाप और पुण्य की भी व्याख्या की है जिसका धार्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। सत्य के विषय में उसमान कहते हैं :

सत्य समान पूत जग नाहीं। सत सो रहै नाउं जग माहीं ॥
कोखि पूत एक देस बखाना। सत्य पूत चारो खंड जाना ॥
निश्चय सत्य अमर की मूरी। प्रगट देखिये हरिचन्द पूरी ॥[2]

पाप-पुण्य :

पाप न रहै छिपाए छिपा। छिपे पुण्य जो अहनिसि जपा ॥
पापहिं गोइ कहां कोउ सोवा। आपहिं पाप जनम तेहि खोवा ॥
तजहु पाप पंथहि जिर जानी। करहु पुन्य औ रहै कहानी ॥
पुन्य करत जनि लावहु धोखा। जासौं होइ दुहं जग मोखा ॥[3]

१. चित्रावली, पृ० ७८.
२. वही, पृ० १८.
३. वही, पृ० ५४.

इन आधारों पर चित्रावली की कथा के आध्यात्मिक स्वरूप से हम परिचित हो सकते हैं।

सूफी कवि कासिमशाहकृत हंसजवाहिर नामक प्रेमाख्यान भी इन्हीं के समान आध्यात्मिक तथ्य प्रकट करता है। कवि संसार की नश्वरता के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं :

कासिम जक्त जान सब धोखा, जो जग भूल गयो सो खोखा।
धोखा गगन फरै दिन राती, धोखा देखि बलबला मांती।
धोखा नगर कोटि घर बारा, धोखा द्रव्य और रूप सिंगारा।
धोखा राजकाज सुख भोगू, धोखा सब लक्षण कुल लोगू।
धोखा किया पुरुष जहं पाई, धोखा अहै सबै दुनियाई ॥[1]

नूरमुहम्मद का इन्द्रावती नामक एक प्रेमाख्यानक है। इसकी कथा में कवि ने एक-दो पात्रों के अतिरिक्त सभी पात्रों के नाम प्रतीकात्मक ही रखे हैं। अन्य सूफी काव्यों की भाँति ही इसमें राजकुमार जीवात्मा और इन्द्रावती ब्रह्मज्योति है। कवि ने इस विषय में स्वयं ही कहा है कि इन्द्रावती उस दीपक-ज्योति के समान है जिस पर संसार ही पतंगा बन गया है :

जेहि दरसन के दीप पर है पतंग संसार।
प्रेम तेहिक तुम लीन्हा मरै न नाम तोहार ॥[2]

इन्द्रावती के दिव्य सौन्दर्य को बिना देखे ही लोग सराहते रहते हैं। उसके रूप में दैवीय शक्ति है। वह अपनी दृष्टि से जिसको देख लेती है फिर उसे संसार अच्छा नहीं लगता। वह परमात्मा की ओर उन्मुख हो जाता है :

जो काहुअ पर डारै डीठी। सो जन देइ जगत दिस पीठी ॥
अस रूपवन्ती सुन्दर आहै। बिनु देखे सब ताहि सराहै ॥[3]

सूफी काव्यों में चन्द्र-सूर्य का उल्लेख प्रतीकों के लिए किया गया है, इसका उल्लेख पीछे किया गया है। हर भक्त अथवा साधक सारे संसार को उसी परमात्मा से प्रकाशित मानता है। इन्द्रावती का तेज कवि ने

---

१. हंस-जवाहिर, पृ० २१.
२. इन्द्रावती, पृ० ४५.
३. वही.

ईश्वरीय सिद्ध किया है। उस परम ज्योति से चन्द्रमा प्रकाशवान है। आकाश सहस्रों तारागणरूपी नेत्रों से उस परमज्योति के दर्शन करता है :

है तेहि चन्द्र बदन लखि, जगत नयन उंजियार।
गगन सहस लोचन सों, निरखे तेहिक सिंगार॥[1]

इन्द्रावती में आने वाली अवान्तर कथाओं के माध्यम से कवि ने अध्यात्मवाद को पर्याप्त स्थान दिया है। कुंवर योगी के भेष में इन्द्रावती की प्राप्ति के लिए उसकी फुलवारी में साधना करता है, यह वृत्तान्त इन्द्रावती को उसकी चेता नामक मालिन से मिला। इन्द्रावती फुलवारी में गई। कुमार देखकर मूर्च्छित हो गया। इन्द्रावती एक पत्र लिखकर वहाँ से चली आई। इस पत्र में जिस कहानी को लिखा गया है उससे कथा की आध्यात्मिकता पर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है। अतः उस पत्र को दे देना उपयुक्त होगा—'जीव नाम के राजा का जन्म शरीरपुर में हुआ। वह नगर की शोभा देखकर सब भूल गया। उसी नगर में दुर्जन नाम का राजा भी था जो जीव राजा को मोह-माया द्वारा उसके मार्ग में बाधक था। जीव राजा ने बुद्ध नामक अपने मन्त्री से यह वृत्तान्त कहा कि एक नगर में दो राजा नहीं रह सकते। मन्त्री ने उसे सावधानीपूर्वक राज्य चलाने की मन्त्रणा दी। जीव राजा के मन नाम का एक पुत्र था। वह एक सुन्दरी पर आसक्त था परन्तु वह उसे प्राप्त नहीं हुई तो उसने दुर्जन से सब बात कह दी। दुर्जन ने जीव राजा को सलाह दी कि कायापुर के राजा दर्शन की रूप नामक सुन्दरी कन्या से मन का विवाह करा दिया जाये। राजा ने इसे उचित मानकर दृष्टि नामक अपना दूत कायापुर भेजा। दर्शन ने अपनी कन्या से पूछा तो उसने अस्वीकार कर दिया। जीव क्रुद्ध हो उठा। उसने पुनः बुद्ध मन्त्री को भेजकर सारा वृत्तान्त मंगाया। दर्शन की कन्या रूप ने अपनी दासी चितवन को मन का रूप आदि देखने को भेजा। रूप को मन पर दया आई। मन रूप के यहाँ आने-जाने लगा। दोनों का विवाह हो गया। मन को पुत्र-पुत्री भी हो गए। जीव राजा बालकों में फँस गया और राज-काज दुर्जन को सौंप दिया। जीव के सेवक दुर्बल हो गए। बुद्ध ने जीव के हाल को साहस

---

१. इन्द्रावती, पृ० ४५.

तपी से कहा। साहस तपी ने कहा कि प्रीतपुर नामक स्थान पर कृपा नाम के राजा के पास जाने से तुम्हारा काम सिद्ध हो जायेगा। कृपा के पास पहुँचने पर कृपा ने बुद्ध के सहयोग से जीव के हृदय में प्रेम संचार कर दिया। इस प्रकार महाराज सुखदाता के प्रसाद से जीव पुनः शरीरपुर के अधिपति बन गए।' इस पत्र में जीव, मन, दुर्जन, शरीर, काया, दृष्टि, चितवन आदि शब्द प्रतीकात्मक हैं। अतः कथा की आध्यात्मिकता स्वतः सिद्ध है।

इसी प्रकार अनुराग-बांसुरी की कथा में मन फुलवारी, मूरतिपुर नामक नगर में जीव नाम का राजा तथा उसके अन्तःकरण नाम का पुत्र। अन्तःकरण के संकल्प और विकल्प नामक दो साथी। इनके अतिरिक्त बुद्धि, चित्त और अहंकार नामक तीन मित्र। ये सभी प्रतीक हैं जो साधनात्मक स्थिति के अंग ही हैं। कथा में और भी इसी प्रकार के विद्यापुर, मोहनमाला, ज्ञातस्वाद, सनेह, दर्शनराय, सर्वमंगला आदि ऐसे पात्र हैं जो पूरी तरह प्रतीकान्तर्गत आते हैं। इस कथा में अन्य कथाओं की अपेक्षा अध्यात्म तत्त्व अधिक स्पष्ट होकर सामने आते हैं। यही कारण है कि कथा को पढ़ने मात्र से ही कथा का उद्देश्य समझ में आ जाता है। इन कवियों की प्रेम के माध्यम से अध्यात्म का प्रचार करने की सूझ-बूझ सराहनीय रही है।

सूफ़ी काव्यों और हिन्दू-काव्यों के शिल्प, मसनवी एवं चरितकाव्यों के तुलनात्मक अध्ययन तथा प्रतीक व आध्यात्मिकता पर विचार करने के बाद स्वभावतः एक प्रश्न उभरने लगता है। वह यह कि सूफी काव्यों का प्रासाद सूफियों ने पूर्णतः भारतीय ईंट-पत्थर और गारे से खड़ा किया अथवा उसमें विदेशी उपादानों का ही उपयोग किया? इस सम्बन्ध में जहाँ तक शिल्प का सवाल है मैं अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत कर चुका हूँ कि मंगलाचरण, स्तुति-निंदा, कवि-विवेचन, शाहेवक़्त का उल्लेख और कथानक रूढ़ियों का उल्लेख सूफ़ी कवियों ने भारतीय साहित्य विशेषकर अपभ्रंश साहित्य के अनुसार ही किया है। मसनवियों की एक विशेषता यह बताई जाती है कि विषयानुसार विवेचन करते समय ऊपर शीर्षक देकर कवि या लेखक उसका वर्णन करता है। हमारे यहाँ भी कवि या तो आरम्भ में ही अथवा अध्याय, परिच्छेद या सर्ग के अन्त में विषयगत सूचना दे देता है। उदाहरण के लिए मयणपराजयचरिउ के रचयिता

प्रथम सन्धि समाप्त होने पर लिखते हैं—'इय मयणपराजयचरिए हरिएवकइ विरइए मयणरायवण्णणोणाय पढमो संधी परिछेउ समत्तो' अर्थात् 'इस प्रकार हरिदेव कविकृत मदनपराजयचरित्र में मदनराज-वर्णन नामक प्रथम सन्धि परिच्छेद समाप्त हुआ।' इसमें कवि ने सूचित कर दिया कि प्रथम परिच्छेद में मदनराज का सविस्तार वर्णन किया गया है। इसी प्रकार अन्य अपभ्रंश-प्राकृत और संस्कृत की रचनाओं में देखा जा सकता है। जहाँ तक सूफ़ी सिद्धान्त का सवाल है उसमें विदेशी प्रभाव का पाया जाना स्वाभाविक है। बिना खींचा-तानी के यह कहना ठीक और न्यायसंगत होगा कि सूफ़ी काव्यों का मुख्य उपादान भारतीय है।

सूफ़ियों ने जिन प्रतीकों को अपने काव्यों का उपादान बनाया वे भारतीय चिन्तनधारा के ही प्रतीक हैं। डा० वीरेन्द्र सिंह का कथन इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। सूफ़ियों ने 'जिन भारतीय चिन्तन पर आश्रित प्रतीकों को ग्रहण किया है उन्हें उन्होंने अधिकतर भारतीय रूप में ही चित्रित किया है। दूसरी ओर अपने सूफ़ी प्रतीकों को भारतीय वातावरण के अनुकूल रूपांतरित किया है।........उनकी गाथाओं में जो भी पात्र हैं वे सूफी प्रभाव से कहीं अधिक भारतीय प्रभाव के द्योतक हैं। उनके योग-परक प्रतीकों में भारतीय प्रणय-भावना तथा वस्तुएँ ही अधिक हैं। उनके तत्त्वनिर्देशों में वेदान्त, योग तथा सूफ़ी विचारधाराओं का समन्वय है और उनकी वर्णन शैली पर भारतीय प्रभाव है।'[1]

मूलतः प्रतीकों की भारतीय परम्परा ही थी। वैदिक, उपनिषद्, पुराण और जैन-बौद्ध एवं सिद्ध साहित्य आदि भारतीय साहित्य में प्रतीकों की योजना को स्थान दिया गया है। वैदिक ऋषियों ने अग्नि, वायु, आकाश, मेघ, सूर्य आदि को प्रकृति के प्रकोप का रूप समझकर प्रतीक के रूप में इन्हें स्तुत्य कहा। वेद में संसार, आत्मा एवं परमात्मा को एक रूपक द्वारा समझाया गया है, वह प्रतीकात्मक ही तो है। एक वृक्ष पर दो पक्षी रहते हैं। उनमें से एक स्वादिष्ट फल खाता है तथा दूसरा पक्षी कुछ खाता नहीं, बस देखता भर है :

---

१. डा० वीरेन्द्र सिंह, हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास, पृ० २६२–६३.

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥[1]
—अ० २, सू० १६४.

इसमें वृक्ष संसार का प्रतीक है, जो दो पक्षी हैं वे जीवात्मा और परमात्मा के प्रतीक हैं। जीवात्मारूपी पक्षी संसार के मोह-मायारूपी फलों को खाने में लगा रहता है और परमात्मा निर्लिप्त रहता है। वेद का ही एक उदाहरण और देखने से पता चलता है कि उसमें दस युवतियों को दस उंगलियों का प्रतीक माना गया है। उत्तम उद्देश्य वाली दो भिन्न रूपिणी स्त्रियाँ गमनशील हैं। दोनों एक-दूसरे के बालकों का पोषण करती हैं। एक से सूर्य अन्त प्राप्त कराता और दूसरी से अग्नि सुन्दर दीप्ति से युक्त होता है। त्वष्टा के इस खेलने वाले शिशु को निरालस्य दसों युवतियाँ (दस उंगलियाँ) प्रकट करती हैं :

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुप धापयेते।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः॥
दशेमं त्वष्टुर्जनयन्त गर्भमतन्द्रासो युवतयो विभृत्रम्।
तिग्मानीकं स्वयशसं जनेषु विरोचमानं परिषींनयन्ति ॥[2]
—अ० १, सू० ९५.

ऋग्वेद में ही बताया गया है कि केशयुक्त तीन देवता नियमक्रम से दर्शन देते हैं। एक वर्ष में बोता है. एक बलों से संसार को देखता है और एक का रूप दिखाई नहीं पड़ता। इसमें प्रतीकात्मक शैली में ही यह बताया गया है कि जिन दो देवताओं का रूप दिखाई पड़ता है वे हैं अग्नि और सूर्य तथा जिसका रूप दिखाई नहीं पड़ता वह वायु है[3] :

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥
—अ० २, सू० १६४.

एक अन्य स्थान पर वर्ष भर की ऋतुओं, माह और दिनों की संख्या को प्रतीकों के माध्यम से ही समझाया है :

---

१. ऋग्वेद (प्रथम खण्ड), संपा०—पं० श्रीराम शर्मा, पृ० ३१६.
२. वही, पृ० १८६.
३. वही, पृ० ३२०.

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।[1]
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥
—अ० २, सू० १६४.

अर्थात् जिस रथ के बारह घेरे, एक चक्र और तीन नाभियाँ हैं उस रथ का ज्ञाता कौन है ? उसमें तीन सौ साठ मेखलाएँ ठुकीं हैं जो कभी ढीली नहीं होतीं। इसमें एक चक्र अर्थात् एक वर्ष, तीन नाभियाँ अर्थात् तीन ऋतुएँ और तीन सौ साठ मेखलाएँ हैं जो वर्ष के तीन सौ साठ दिन ही हैं।

सामान्यतः 'अर्णव' समुद्र के लिए प्रयुक्त होता है। परन्तु वेद में कई स्थानों पर 'तेजोराशि' के लिए अर्णव शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे—

यस्या अनन्तो अह्रु तस्त्वेषश्चरिष्णुरर्णवः। अमरश्चरति रोरुवत्।
सा नो विश्वा अति द्विषः स्वसृरन्या ऋतावरी। अतन्नहेव सूर्यः ॥[2]

अर्थात् जिस सरस्वती के अनन्त-निर्बाध वेगवान अर्णव हैं और जिसकी शब्दायमान शक्ति भ्रमण करती रहती है, सूर्य जैसे दिन को लाते हैं वैसे ही सरस्वती सत्य ज्योति से भरी हुई अपनी बहिनों (शक्तियों) के साथ सबके शत्रुओं को पराभूत कर दे। एक दूसरे स्थान पर भी अर्णव का प्रयोग देखिए :

उद्वेति प्रसवीता जनानां महान् केतुरर्णवः सूर्यस्य।
समानं चक्रं पर्याविवृत्सन्यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः ॥[3]

'सबको उत्पन्न करने वाले सूर्य की महाज्योति और तेजोराशि प्रकट हो रही है। समान रूप से यह चक्र को घुमाती है, जिसकी धुरी में लगे हुए हरे रंग (एतश) के घोड़े खींचते हैं।'

हिनरिख ज़िमर ने अपनी पुस्तक Myths and Symbols in Indian Arts and Civilization में हिन्दू मिथक और प्रतीक कथाओं पर बहुत विस्तार से लिखा है। ज़िमर के अनुसार सभी भारतीय देवताओं

१. ऋग्वेद, पृ० ३२१.
२. वही, ६.५.६१.८–९.
३. वही, ७.४.६३.२.

का रूप प्रतीकात्मक है। शिव का चन्द्रमा वागोद्भव का, नाश कास्मिक शक्ति का, त्रिशूल इच्छा-क्रिया-ज्ञान का प्रतीक है। इसी प्रकार अनेक उपादानों और तत्त्वों की उन्होंने बड़ी विशद व्याख्या की है।

प्राय: ही भारतीय देवताओं के स्वरूप को लेकर विदेशी विद्वानों ने गलत धारणाएं व्यक्त की हैं। यदि भारतीय देवता के चार हाथ हैं और उनमें शंख, चक्र, गदा और पद्म लगा है तो उनको इसमें कला का भोंडापन ही दिखाई देता है। उनमें से अधिकांश की बुद्धि प्रतीकात्मक प्रक्रिया तक पहुँच ही कैसे सकती थी? अस्तु, वेद में विष्णु का प्रतीक आया है, उसके सम्बन्ध में श्री अरविन्द का कथन है: यह वैदिक वाक्यालंकार पुराणों की समान प्रतीकात्मक कल्पनाओं पर प्रकाश डालता है, विशेषकर उस प्रतीक पर जिसमें कि विष्णु प्रलय के बाद क्षीरसागर में अनन्तनाग के वलय पर सोये हुए हैं। संभवत: कुछ लोग यह आक्षेप कर सकते हैं कि पुराण अन्धविश्वासी हिन्दू पुरोहितों या कवियों द्वारा लिखे गए थे, जिनका विश्वास था कि ग्रहण एक दैत्य के कारण होता है, जो सूर्य और चन्द्रमा को खाता है, वे सरलता से इस बात पर विश्वास कर लेते थे कि जब भी विसृष्टिकाल होता है तब सर्वोच्च देव अपने स्थूल शरीर से क्षीरसमुद्र में शेषनाग पर सोने चला जाता है और इसलिए इन लोककथाओं या गपाष्टकों से आध्यात्मिक अर्थ खोजना कोई बुद्धिमत्ता नहीं होगी। मैं उत्तर दूँगा कि वास्तव में ऐसे अर्थों को खोजने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उन अन्धविश्वासी कवियों ने सामान्यरूप से सबके सामने अपनी बात बड़े सरल ढङ्ग से रख दी है। उन्होंने विष्णु के सर्प का अनन्त नाम दिया है और अनन्त का अर्थ होता है अनादि, इसीलिए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि यह कल्पना अलंकार मात्र है और विष्णु अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त शक्ति विसृष्टि के काल में उस अनन्त के वलय पर सोती है। समुद्र के संदर्भ में वैदिक कल्पना स्पष्ट कर देती है कि यह समुद्र का अस्तित्व अनादि सत्ता का प्रतीक है और यह अनादि सत्ता का समुद्र पूर्ण माधुर्य का सागर है, दूसरे शब्दों में महानन्द का निधि है। क्योंकि मधुर क्षीर (स्वयं एक वैदिक कल्पना) और मधु में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, मधु अथवा माधुर्य वामदेवों का स्तोत्र है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद और पुराण दोनों एक ही प्रकार की प्रतीकात्मक धाराएं रखते हैं, उनके लिए समुद्र अनन्त सत्ता का प्रतीक

है। हम देखते हैं कि नदियाँ अथवा बहती हुई धाराओं की कल्पना चेतना के प्रवाह के प्रतीकार्थ की गई है। इसी प्रकार सरस्वती जो सात नदियों में से एक नदी है तत्त्वज्ञान से बहती हुई चेतना की धारा है। इसी प्रकार हम अन्य छः नदियों को भी मनोवैज्ञानिक प्रतीक मान सकते हैं।[1]

इसी अध्याय में हिन्दी प्रेमाख्यानकों के प्रतीकों पर विचार करते समय संख्यावाची प्रतीकों का उल्लेख हम कर चुके हैं। वेद में सप्त संख्या का बड़ा महत्त्व है। इस पर विचार करते हुए श्री अरविन्द लिखते हैं : 'अन्य प्राचीन विचारधाराओं के समान ही वैदिक पद्धति में सात संख्या का बड़ा महत्त्व है। वेद में बार-बार आता है—सात प्रकार के आनन्द, सप्त रत्नानि; अग्नि की सात लपटें, जिह्वा या किरणें, सप्त अर्चिषः; सप्त ज्वालाएँ, अध्ययन के सात प्रकार, सप्त धीतयः; सात किरणें अथवा गौवें, अवध्य गौवें, देवमाता अदिति, सप्त गावः; सप्त नदियाँ, सप्त माताएँ अथवा धातृ गौवें, सप्त मातरः; सप्त धेनवः, धेनु शब्द किरणों और नदियों के लिए समान रूप से व्यवहृत होता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ये सप्त वर्ग वेद के सैद्धान्तिक मूलोद्देश्यों के वर्गीकरण व सत्ता के तत्त्वों पर आधारित हैं। इन तत्त्वों की जानकारी में प्राचीन विचारकों का मन खूब लगता था और भारतीय दर्शन में हमें विभिन्न प्रकार के एक से बीस तक उत्तर मिलते हैं।'[2]

इसके आगे श्री अरविन्द वैदिक प्रतीकों की ग्रन्थि खोलते हुए लिखते हैं : 'वृहस्पति सात किरणों वाले मनीषी हैं, सप्तगुः, सप्तरश्मिः; वे सात-मुख वाले अंगिरस हैं जो नौ किरणों वाले, दस किरणों वाले अनेक रूपों में उत्पन्न होते हैं। सात मुख सात अंगिरा हैं जो दिव्य शब्द ब्रह्म का उच्चारण करते रहते हैं, जो सत्य के स्रोत स्वर से निकलता है और जिसके वे स्वामी (ब्रह्मस्पति) हैं। प्रत्येक वृहस्पति की सात किरणों में से वे एक-एक किरण हैं। इसलिए वे सात भविष्यद्रष्टा हैं, सप्तविप्राः और सप्तऋषयः हैं जो उन सात ज्ञान की किरणों को अलग-अलग मूर्त रूप देते हैं। ये सप्त किरणें सूर्य के सात घोड़े हैं, सप्त हरितः और उनका संगठन अयस्य का सप्तमुख विचार बन जाता है जिसके द्वारा खोये हुए सूर्य का पुनरुद्धार होता है। वही विचारप्रवाह पुनः सात नदियों के रूप

1. On the Vedas, Shri Aurobindo, pp. 123-24.
2. Ibid. p. 206.

में आता है, ये सात दैवीय और मानवीय सिद्धान्त मिलकर पूर्ण आध्यात्मिक सत्ता का रूप वनते हैं। वृत्त द्वारा जीती गई सात नदियों और वल द्वारा सात किरणों के अवरोध से और सभी प्रकार के मिथ्यापन से सत्य द्वारा मुक्ति मिल जाने से शुद्ध चेतना की प्राप्ति होती है और स्व-रलोक पर अधिकार हो जाता है, आत्मप्रवाह के हो जाने से मिथ्याज्ञान और अन्धकार का नाश होकर मानसिक और शारीरिक आनन्द मिलता है, हममें दैवीय तत्त्वों के बढ़ने से हम मृत्यु एवं अन्धकार पर विजय पा लेते हैं।'[1]

वेदों के समान ही उपनिषदों में भी प्रतीक-योजनासम्वन्धी सामग्री उपलब्ध हो जाती है। जैसा कि संसार के लिए वेद में वृक्ष का प्रतीक आया है उसी प्रकार कठोपनिषत् में ब्रह्म ही संसारवृक्ष के रूप में अव-स्थित है :

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ॥
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन
एतद्वै तत् ॥[2]

अर्थात् मूल ऊपर है, शाखाएँ नीचे की ओर हैं। यह चिरन्तन अश्वत्थ है। यही तेज है, यही ब्रह्म है, इसे ही अमृत कहते हैं। इसी से सब लोक लगे हुए हैं। इसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता। यही वह है।

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो।[3]

वह वृक्ष, काल, आकृति आदि से परे और कुछ है।

इनके अतिरिक्त उपनिषदों में जिस प्रणव अथवा ओऽम् की व्याख्या है, स्वयं एक प्रतीक ही है।

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम् ॥[4]

ओऽम् ब्रह्म है। ओऽम् ही यह सब कुछ है।

---

1. Ibid., p. 207
२. कठोपनिषत्, २.२.१.
३. श्वेताश्वतरोपनिषत्, ६.६.
४. तैत्तिरीयोपनिषत्, १.८.

ब्रह्मपुराण में ओऽम् की व्याख्या इस प्रकार की गई है :

सैव वागब्रवी देवी प्रकृतिर्याभिधीयते ।
विष्णुना प्रेरिता माता जगदीशा जगन्मयी ॥
ओंकारभूता या देवी मातृकल्पा जगन्मयी ॥[1]

वही देवी वाक् जो प्रकृति कहलाती है, माता जगदीशा, जगद्रूपिणी है। जो ओऽम्कार बनी हुई है उसने विष्णु से प्रेरित होकर कहा।

बौद्ध साहित्य में प्रदीप, नौका, जुआ, पंचेन्द्रियाँ, पंचस्कन्ध, ब्राह्मण, नगर, गृह, वृक्ष, अन्धकार और उसपार आदि बहुत से प्रतीकात्मक शब्द उपलब्ध हैं। 'उसपार' का अर्थ बौद्धों में निर्वाण से लिया जाता है अथवा यों कह सकते हैं कि निर्वाण का 'उसपार' प्रतीक है। धम्मपद की एक गाथा है जिसमें उसपारबोधक एवं निर्वाण के लिए प्रयुक्त प्रतीक को देखा जा सकता है :

अप्पका ते मनुस्सेसु ये जना पारगामिनो ।
अथायं इतरा पजा तीरमेवानुधावति ॥[2]

इसी प्रकार सिद्ध साहित्य में भी प्रतीकों की भरमार है। यहाँ कुछ शब्दों का उल्लेख मात्र कर देना पर्याप्त होगा। सिद्ध साहित्य में वृक्ष को शरीर का प्रतीक माना गया है। स्मरण रहे कि ऋग्वेद में वृक्ष को संसार के प्रतीक के लिए प्रयोग में लाया गया है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। चादर को भी तन का प्रतीक माना है। गंगा-यमुना को इड़ा–पिंगला अथवा सुषुम्ना का, गाय को इंद्रियों का, हंस को चित्त, मन, पवन या प्राण का, हरिणी को माया का, चोर को दुष्ट मन का, दशमद्वार को ब्रह्मरन्ध्र का, काग को अज्ञानी चित्त का, कमल को चक्रों का, ससुराल को ब्रह्मलोक का प्रतीक मानकर प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार के अन्य प्रयोग भी मिल जाते हैं। वास्तव में सिद्धों ने योगमार्ग का अनुसरण करने के लिए प्रतीकों को अपने साहित्य में स्थान दिया।

अन्य साहित्यों की भाँति जैन साहित्य में भी प्रतीकों का महत्त्व था। इस विषय में मयणपराजयचरिउ की प्रस्तावना में डा० हीरालाल जैन ने 'प्रतीकात्मक नाटक परम्परा' शीर्षक से विशद अध्ययन प्रस्तुत किया है। जैन दर्शन में प्रतीकों का निक्षेप से तात्पर्य है। डाक्टर साहब ने लिखा है

---

१. ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम, पूना), अध्याय १६१, श्लोक १४, १८.
२. धम्मपद, गाथा ८५.

कि इन प्रतीकों को जैन दर्शन में निक्षेप कहा है। जब हम बोलकर कुछ कहना चाहते हैं तब वस्तुओं के जो ध्वन्यात्मक नाम लेते हैं वह नाम निक्षेप है। जब चित्र खींचकर या मूर्ति बनाकर उसे प्रकट करते हैं तब हम स्थापना निक्षेप की सहायता ले रहे हैं। जब हम उसके बाह्य मूर्त्त-स्वरूप को सन्मुख रखते हैं तब वह द्रव्य निक्षेप कहलाता है और जब उसके आभ्यन्तर स्वरूप को व्यक्त करने लगते हैं तब वह भाव निक्षेप कहलाता है। इस प्रकार निक्षेपों द्वारा हम प्रकृति के तथ्यों को उनकी अनुपस्थिति में दूसरों को उनका अनुभव कराने का प्रयत्न करते हैं।[1] यहाँ किसी विशेष साहित्य के प्रतीकों की व्याख्या करना इष्ट नहीं है। मेरा ध्येय सिर्फ इतना है कि सूफ़ी साहित्य की प्रतीक परम्परा से पूर्व भारतीयों के पास प्रतीक परम्परा थी अथवा नहीं—इसका पता लग सके। प्रतीकात्मक नाटकों की भारतीय परम्परा प्राचीन रही है। अश्वघोष के नाटकों के पात्र प्रतीकात्मक हैं। वे पात्र कोई सामान्य व्यक्ति नहीं किन्तु बुद्धि, कीर्ति, धृति आदि भाव हैं। वे रंगमंच पर आते हैं और वार्तालाप करते हैं।[2] डा० हीरालाल जी ने कृष्ण मिश्र द्वारा लिखित प्रबोधचन्द्रोदय (११वीं शताब्दी) नाटक का उल्लेख किया है, उसके निवृत्ति, विवेक, प्रबोधोदय, उपनिषत्, मति आदि पात्र भी प्रतीकात्मक हैं। श्रद्धा, शम, दम आदि अनेक पात्र हैं जो प्रतीकों की कोटि में ही आते हैं। प्रतीकात्मक शैली का ही एक जैन नाटक मोहराजपराजय है। इसकी रचना यशःपाल ने सन् १२२९-३२ के बीच की थी।[3] इस नाटक के कथापात्र ज्ञानदर्पण, विवेकचन्द्र, कृपासुन्दरी, शान्ति आदि प्रतीकात्मक ही रखे गए हैं। मनोनगर राज्य मन का प्रतीक है। इस प्रकार प्रतीकात्मक कथाओं की जैन परम्परा ही थी। जैनों के उत्तराध्ययनसूत्र, णायाधम्मकहाओ, वसुदेवहिण्डी, हरिभद्रसूरिकृत समरादित्यकथा और उपमितिभवप्रपंचाकथा आदि ऐसे कई ग्रन्थ हैं जिनमें प्रतीकात्मक शैली अपनाई गई है।

अपभ्रंश भाषा की मयणपराजयचरिउ (१२वीं और १५वीं शती के मध्य) रचना प्रतीकात्मक शैली की एक प्रमुख रचना है। इस रचना

---

१. डा० हीरालाल जैन द्वारा संपादित मयणपराजयचरिउ की प्रस्तावना, पृ० ३८.

२. वही, पृ० ३९.

३. वही.

में जीव द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का उपाय प्रतीकरूप से बताया गया है। मोक्ष-मार्ग की ओर अग्रसर होने में जीव को किन-किन बाधाओं का सामना करना होता है, इसका भी विशद वर्णन इस रचना में है। कवि ने मंगलाचरण आदि के बाद कथा प्रारम्भ की है। कथा के प्रारम्भिक अंश को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे रचना की प्रतीकात्मक शैली पर प्रकाश पड़ेगा। 'भवनगर नामक पट्टन के राजा मकरध्वज अपने महामन्त्री मोह और रति-प्रीति नामक दोनों पत्नियों के साथ सभाभवन में बैठे थे। वहाँ शल्य, गर्व, कर्म, मिथ्यात्व, दोष, आश्रव, विषय व क्रोध, लोभ, रौद्र व आर्त, मद, मान, सप्तभय व व्यसन आदि बली योद्धा विराजमान थे। इस प्रकार असंख्य नराधिपों तथा तीनों लोकों के प्रभुओं से सेव्यमान मकरध्वज गरज रहा था।'[1] इस प्रकार इसमें जितने भी नाम हैं सभी साधना के साधक और बाधक रूप के प्रतीक हैं। अतः कथा का प्रतीकात्मक होना स्वतः प्रमाणित है।

उपर्युक्त आधार पर प्रतीकों की अपनी एक भारतीय परम्परा थी जो वैदिक काल से सूफ़ी काव्यों के समय तथा उसके बाद यानी आज तक चली आ रही है। पुनः मैं इस बात को दुहराना चाहूंगा कि सूफ़ियों की रचनाओं पर भारतीयता की छाप विदेशीपन की अपेक्षा कहीं अधिक है। मूलतः प्रतीकों के सन्दर्भ में यह बात और भी दृढ़ता से कही जानी चाहिए। कुछ अतिशय प्रगतिवादियों का विरोध हो सकता है कि प्रायः ही लोग अपनी बात को वेदों से जोड़कर प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं। उनसे मेरा विनम्र अनुरोध इतना ही है कि यदि बिना आयास के हमें वेदों में भी अपनी बात की पुष्टि मिलती है और उससे हमारी शृंखला विघटित होने से बच जाती है तो निरर्थक क्या है? हाँ, हमें तथ्यों को नकारने भर का दुःसाहस नहीं करना चाहिए।

●

---

१. डा० हीरालाल जैन द्वारा संपादित मयणपराजयचरिउ की प्रस्तावना, पृ० २.

अध्याय ८

अपभ्रंश कथा : परिभाषा, व्याप्ति और वर्गीकरण

अपभ्रंश-कथाकाव्यों के शैली-शिल्प पर लिखने के पूर्व कथा के काव्य-रूप (पोइटिक फार्म) पर विचार कर लेना आवश्यक है। कथा शब्द इतना रूढ़ हो गया था कि इसका प्रयोग नाना अर्थों में होने लगा था। संस्कृत की कथ धातु से इस शब्द की रचना हुई। इस अर्थ में कथन मात्र को कथा कहा जा सकता है। आज भी बंगला में कुशल समाचार पूछने के लिए 'कथा' का तथा मैथिली में 'कहनी' का प्रयोग होता है। साहित्यिक विधा के रूप में इस शब्द का भिन्न अर्थ और परिभाषा है। कथा अथवा कथाकाव्यों की परिभाषाओं के सम्बन्ध में दण्डी, भामह, रुद्रट आदि संस्कृत लक्षणकारों की मान्यताओं का उल्लेख प्रबन्ध के प्रास्ताविक में रूर दिया गया है। 'जो कुछ कहा जाता है' वह अनिवार्यतः कथा नहीं हो सकती फिर भी कथाकाव्य एक ऐसा व्यापक और लचीला काव्य-रूप रहा है कि इसके अन्तर्गत चरित, रास, विलास, पुराण, धर्मकथा, वार्ता, ख्याल, लीला आदि अनेक काव्यरूप समाहित हो गए हैं। कथाकाव्य के विषय में प्रचलित कतिपय मान्यताओं तथा धारणाओं का अवलोकन करने से इसकी पुष्टि होगी।

'कथा का विशिष्ट अर्थ हो गया है किसी ऐसी कथित घटना का कहना, वर्णन करना जिसका निश्चित परिणाम हो। घटना किसी से भी सम्बन्धित हो सकती है—मनुष्य, अन्य जीवधारी, पशु-पक्षी आदि तथा जगत् के नाना पदार्थ जिनका अनुभव किया जा चुका है या जो कल्पित किये जा सकते हैं। जिस किसी से सम्बन्धित घटना हो, उसकी किसी विशेष परिस्थिति या परिस्थितियों का (निश्चित आदि और अन्त से युक्त) वर्णन ही 'कथा' कहलाता है। कथाएँ अनेक प्रकार की होती हैं, परन्तु उन्हें दो प्रधान वर्गों में बाँटा जा सकता है : १. इतिहास-पुराण की कथाएँ और २. कल्पित कथाएं। ऐतिहासिक कथाओं के आधार पर निर्मित महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक आदि को साधारणतया कथा-साहित्य या कथाकाव्य नहीं कहते। यद्यपि उपन्यास और कथा-कहानियों का एक

वर्ग ऐतिहासिक भी माना जा सकता है, किन्तु ऐतिहासिक कथा, उपन्यास या कहानी में प्रयुक्त होने पर अनिवार्यतः कल्पना मिश्रित हो जाती है। कल्पनाप्रसूत या प्रधानरूप से कल्पनाप्रसूत कथाएं ही कथा-साहित्य का आधार बनती हैं। यों तो साहित्य और काव्य समानार्थी शब्द हैं और काव्य का पद्यबद्ध होना अनिवार्य नहीं है। परन्तु साधारणतया पद्यबद्ध कथाओं को कथाकाव्य और गद्य में रचित कथाओं को कथा-साहित्य, उपन्यास, उपन्यासिका, कहानी आदि कहते हैं। आधुनिक साहित्य में कथा-साहित्य शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'फिक्शन' के अर्थ में होता है।'[1]

काव्यरूपों के विकास के प्रसंग में डा० शम्भूनाथ सिंह ने वीरभावना प्रधान, रोमांसिक तत्त्वों से युक्त प्रेमभावना प्रधान और लोकविश्वासों एवं निजन्धरी पात्रों से सम्बन्धित तथा धर्मभावना प्रधान इन तीन गाथा-चक्रों से काव्यरूपों का विकास माना है। उनकी मान्यता के अनुसार 'विकासोन्मुख सामन्तयुग में समाज के वर्गविभक्त हो जाने और अभिजात वर्ग के उदय के बाद सामन्ती दरबारी वातावरण में विशिष्ट कवियों द्वारा विकसनशील महाकाव्यों के अनुकरण पर रोमांसिक कथा-आख्यायिकाओं या प्रेमाख्यानों की रचना होने लगी। इस तरह प्रबन्धकाव्य (महाकाव्य-खण्डकाव्य) तथा कथाकाव्य में दो भिन्न रूप हो गए। प्रबन्धकाव्य और कथाकाव्य का यह भेद भारतवर्ष में ही नहीं, पाश्चात्य देशों में भी बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। यूनान में चौथी शताब्दी में इलियड ओडेसी के रोमांसिक तत्त्वों और साहसपूर्ण कार्यों के अनुकरण में गद्यबद्ध रोमांसिक कथाओं की रचना हुई और पुनर्जागरण-युग में महाकाव्यों के पुनः उत्थान के पहले तक सारे योरप में इस काव्य-रूप का बहुत प्रचार रहा। मध्ययुग के अन्तिम भाग में ये कथाएँ गद्य-बद्ध और पद्यबद्ध दोनों प्रकार की होती थीं।....उत्तर मध्ययुग में पद्यबद्ध कथाकाव्य बहुत ही लोकप्रिय काव्यरूप था।....गद्यबद्ध रोमांस को आगे चलकर इटली और स्पेन में नावेला और इंग्लैंड में 'नावेल' कहा जाने लगा और वही आधुनिक उपन्यास या कहानी का आदि रूप था।'

'मध्ययुग में अभिजातवर्गीय रोमन क्लासिकल परम्परा के विरुद्ध रोमांसिक स्वच्छंदता की प्रवृत्ति ने जो विद्रोह किया उसके परिणामस्वरूप

---

१. संपा०—डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि, हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १८३–८४.

महाकाव्य के शास्त्रीय और गुरुगम्भीर काव्यरूप की जगह सरल और रोमांसिक कथाकाव्य का बहुत प्रचार हुआ। सर्वप्रथम फ्रांस में १२वीं शती के उत्तरार्द्ध तथा १३वीं शती के पूर्वार्द्ध में किंग आर्थर और उसके सामंतों के वीरतापूर्ण कार्यों तथा प्रेम की रोमांसिक कथाओं को पद्यबद्ध कथाकाव्य (ले) का रूप दिया गया (एनसाइक्लोपीडिया आफ लिटरेचर—शिपले, पृ० २९२–९३)। इंग्लैंड में भी १३वीं शताब्दी में आर्थर-गाथा-चक्र से सम्बन्धित अनेकानेक पद्यबद्ध कथाकाव्य लिखे गये।···इन सभी कथाकाव्यों में काल्पनिकता, रोमांसिकता, उद्दाम साहस और सामन्ती प्रेम भावना की अधिकता दिखाई पड़ती है। कथाकाव्य के विकास का यह क्रम बहुत कुछ इसी रूप में भारतवर्ष में दिखलाई पड़ता है। रामायण-महाभारत के अनुकरण पर, किन्तु अलंकृत शैली में, संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा विकसित हुई और उन्हीं दोनों महाकाव्यों के रोमांसिक तत्त्वों और साहसिक कार्यों का अनुकरण करके 'बृहत्कथा' के सम्बन्ध में तो अधिकांश विद्वान् एकमत हैं कि उसका मूलरूप भी पद्यबद्ध रहा होगा। उसके संस्कृत रूपान्तर तो पद्यबद्ध हैं ही····आदि।'[1]

कथाकाव्यों के विकास के मूल में हमें कथा के दो रूपों का दर्शन होता है। उनमें पहला कथा का मौखिक रूप है और दूसरा लिखित रूप। वास्तव में जब लेखन प्रणाली का श्रीगणेश नहीं हुआ था तब कथा का रूप मौखिक ही था। वैसे आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में मौखिक कथाओं का प्रचलन है। श्री सत्यव्रत अवस्थी मौखिक कथा-साहित्य को भारतीय कथा का आदिम रूप मानते हैं। अवस्थी जी ने मौखिक कथा-साहित्य को दो भागों में विभक्त किया है—(अ) लोक-काव्य-कथा या लोक-गाथा, पद्य-रूप; (ब) लोक-कथा, गद्य-रूप।[2] लोकगाथा या लोककाव्य कथा से तात्पर्य ऐसी कथा से है जो काव्यरूप में लोक में प्रचलित हो।[3] लोक-कथा का तात्पर्य उस कथा से है जो लोक में गद्यरूप में प्रचलित रही हो। लिखित कथाओं के भी दो रूप गिनाए गए हैं: १. पौराणिक कथाएँ, २. साहित्यिक कथाएँ।

---

१. संपा०—डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि, हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १८२-८३.

२. सत्यव्रत अवस्थी, लोकसाहित्य की भूमिका, पृ० ५६.

३. वही, पृ० ४५२.

भारतीय आचार्यों—लक्षणकारों के कथा-आख्यायिकाओं के लक्षणों के आधार पर डा० शम्भूनाथ सिंह ने एक रूपरेखा प्रस्तुत की है, जो इस प्रकार है :

१. कथा-आख्यायिकाओं में रोमांचक तत्त्वों और साहसिक कार्यों जैसे युद्ध, बलपूर्वक विवाह, कन्याहरण, भयंकर यात्रा, मार्ग की दुरूह कठिनाइयाँ, देव-असुर, गंधर्व, यक्ष आदि के अलौकिक कार्य आदि का बहुत अधिक विस्तार होता है।

२. कथा-आख्यायिका का कथानक अधिक प्रवाहयुक्त, इतिवृत्तात्मक और आकर्षक होता है किन्तु उसका मूलाधार यथार्थ जीवन नहीं होता। (बाण की 'हर्षचरित' सदृश कुछ रचनाएँ इसके लिए अपवादस्वरूप हैं) इसमें कल्पनाजन्य अलौकिक, अतिमानवीय एवं अतिप्राकृत तत्त्वों, पात्रों तथा असंभव घटनाओं की अधिकता होती है। परिणामस्वरूप उसमें काल्पनिक कथा का चमत्कार और असम्भव या अविश्वसनीय घटनाओं की भरमार होती है।

३. कथा-आख्यायिका में कथानक की कोई शृंखलित योजना नहीं होती। उसका कथानक स्फीतियुक्त, उलझा हुआ और जटिल होता है। प्रायः उसका प्रारम्भ ही कथांतर से होता है और फिर उसमे कथा के भीतर कथा और उस अन्तर्गत कथा में भी गर्भ-कथाएँ भरो रहती हैं। कुछ कथाएँ ऐसी भी होती हैं जिनमें अनेक कथाएँ किसी एक सूत्र से परस्पर बाँध दी गई रहती हैं। यद्यपि उन सबका अस्तित्व अलग-अलग हो रहता है।

४. कथा-आख्यायिकाओं की कथाओं में विवाह और उसके लिए युद्ध तथा प्रेम के संयोग एवं वियोग पक्ष के वर्णन पर अधिक स्थान दिया जाता है। परिणामस्वरूप उसके नायक प्रायः धीरललित होते हैं और उनका जीवन अयथार्थ पर आधारित होता है। वे प्रायः निजन्धरी होते हैं या कथाकार द्वारा निजन्धरी ऊँचाई तक पहुँचा दिये जाते हैं। भारतीय कथाओं में विक्रमादित्य, सातवाहन, उदयन, दुष्यंत, नल आदि ऐसे हो चरित्र हैं जो ऐतिहासिक होते हुए भी निजन्धरी व्यक्तित्व द्वारा गढ़े गए हैं। युद्ध, साहस और वीरता के कार्यों का वर्णन कथा-आख्यायिकाओं में भी होता है पर वैसा नहीं जैसा अलंकृत काव्यों में होता है।

कथाकार युद्ध और वीरता को प्रेम और शृंगार का साधनमात्र समझता है, जिससे उसका मन इन बातों में ही रमता है।[1]

कथाकाव्यों के काव्यरूप पर विचार करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि चरितकाव्यों को निस्सन्देह रूप से इन कथाकाव्यों की कोटि में परिगणित करना चाहिए। जहाँ एक ओर हम इन्हें कथाकाव्यों की श्रेणी में लाकर बैठाने का प्रयत्न करते हैं वहीं दूसरी ओर चरितकाव्य स्वयं अपने को कथाकाव्य घोषित करते हैं। कहने का अभिप्राय यह कि अपभ्रंश के चरित-लेखकों ने स्वयं ही णायकुमारचरिउ, करकंडुचरिउ, जसहरचरिउ, भविसयत्तकहा, पज्जुण्णकहा, रिट्ठणेमिचरिउ, पुप्फदंत-कहा, महापुराण आदि रचनाओं में उनको कहीं कथा, कहीं चरित और कहीं पुराण कहा है। वास्तव में सर्वत्र उनका कहने का ध्येय 'कहा' से ही रहा है। चरितकाव्यों के स्वरूप-विकास एवं लक्षण पर प्रथम अध्याय में विचार कर चुके हैं। आगे हम कथाकाव्यों के अन्तर्गत आने वाले रास अथवा रासक पर विचार करेंगे।

रास, रासो, रासक आदि के विषय में हिन्दी साहित्य के इतिहासों में एवं अन्यत्र फुटकर निबन्धों के रूप में सविस्तार विवरण अथवा उसके इतिहास की चर्चा हुई है। आचार्य हेमचन्द्र ने रासक को गेय उपरूपक माना है—**'गेयं डोम्बिका भाण प्रस्थान शिंगक भाणिका प्रेरण रामाक्रीड़ हल्लीसक रासक गोष्ठी श्रीगदित राग काव्यादि'**[2] अर्थात् प्रेक्ष्य काव्य में डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिंगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड़, हल्लीसक, रासक आदि गेय उपरूपकों के अन्तर्गत हैं। वाग्भट्ट ने भी इसी प्रकार को स्वीकार किया है—**'डोम्बिका-भाण-प्रस्थान-भाणिका-प्रेरण-शिंगक-रामाक्रीड़-हल्लीसकरासकगोष्ठीप्रभृतीनि गेयानि'** अर्थात् इनके अभिनयात्मक स्वभाव के कारण ये डोम्बिकादि सभी गेय रूपक हैं :

पदार्थाभिनयस्वभावानि गोम्बिकादीनि गेयनिरूपकाणि चिरन्तनैरुक्तानि।

उक्त आचार्यों के बहुत पूर्व यानी बाणभट्ट (७वीं शताब्दी) के हर्षचरित में रासक पदों के गाये जाने का उल्लेख मिलता है—**'पदे पदे झणझणितभूषणरवैरपि सहृदयैरिवानुवर्त्तमानताललयाः, कोकिला इव**

---

१. डा० शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्यों का स्वरूप और विकास, पृ० ४०१-४.

२. हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, ८. ४.

मदकलकाकलीकोमलालापिन्यो विटानां कर्णामृतान्यश्लीलरासकपदानि गायन्त्यः ।'[१]

अभिनवगुप्त ने अभिनव-भारती में रासक की जो परिभाषा दी है उससे स्पष्ट होता है कि रासक एक ऐसा गेय रूपक है जिसमें अनेक नर्तकियाँ एवं अनेक प्रकार के ताल-लयादि होते हैं और इसमें चौसठ नर्तक युग्म भाग लेते हैं :

अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम् ।
आचतुषष्ठियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम् ॥[२]

रास अथवा रासकों की रचनाएँ अपभ्रंश के प्रारम्भिक काल से ही मिलनी शुरू हो जाती हैं। गेय और नृत्य पदों के रूप में बाणभट्ट के समय तक इसका प्रचलन पर्याप्त मात्रा में हो चुका था। अधिकांश रासो रचनाएँ राजस्थानी और गुजराती भाषा के जैन साहित्य में मिलती हैं। जैन रासो ग्रन्थों में अनेक प्रकार के रासकों का उल्लेख मिलता है। उन रचनाओं से पता चलता है कि जैन लोग ताली बजा-बजाकर मन्दिरों में रात्रि के समय गाते थे। दिन में पुरुष-स्त्री लगुडारास करते थे।

जैनों के यहाँ ये दोनों रास १३वीं-१४वीं शताब्दी तक भी खेले जाते थे। इसका प्रमाण सप्तक्षेत्रीरासु (सं० १३२७) नामक रचना के एक उद्धरण से ही मिल जायेगा :

बइसइ सहूइ श्रमणसंघ सावय गुणवंता ।
जोयइ इच्छवु जिनह भुवणि मनि हरख धरंता ॥
तीछे तालारस पडइ वहु भाट पढंता ।
अनइ लकुटारस जोईई खेला नाचंता ॥ ४८ ॥

सविहू सरीखा सिणगार सवि तेवउ तेवड़ा ।
नाचइ धामीय रंभरे तउ भावहि रुडा ॥
सुललित वाणी मधुरि सादि जिणगुण वायंता ।
ताल मानु छंद गीत मेलु वाजित्र वाजंता ॥ ४९ ॥[३]

---

१. हर्षचरित, चतुर्थ उच्छ्वास.

२. भरतनाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० १८३.

३. प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, १९१६, पृ० ५२.

परन्तु रात्रि एवं दिन में खेले जाने वाले तालारासु और लगुडारास का जैनों में निषेध किया गया क्योंकि इस तरह के खेलों से जीवहिंसा की संभावना रहती है :

ताला रासु रयणि नहि देइ, लउड़ा रासु मूलह वारेइ।[1]

शारदातनय (१२वीं शती) ने रासक के तीन भेद लतारासक, दण्ड-रासक तथा मण्डलरासक बताये हैं :

लतारासक नाम त्रे स्यात्त्रेधा रासकं भवेत्।
दण्डरासकमेकन्तु तथा मण्डलरासकम् ॥[2]

हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने रासक का लक्षण अपनी गुरु-परम्परा से भिन्न दिया है :

षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः।
पिण्डीबन्धादिविन्यासैः रासकं तदुदाहृतम् ॥
पिण्डनात् तु भवेत् पिण्डी गुम्फनाच्छृङ्खला भवेत्।
भेदनाद् भेद्यको जातो लताजालापनोदतः ॥
कामिनीभिर्भुवो भर्तुश्चेष्टितं यत्तु नृत्यते।
रागाद् वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ॥[3]

हेमचन्द्राचार्य के गीत-नृत्यादि के तत्त्व को रामचन्द्र ने स्वीकार किया है।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने रासक को नाटक का रूप माना है। उसका लक्षण इस प्रकार किया है :

रासकं पंचपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम्।
भाषा विभाषा भूयिष्ठं भारती केशिकी युतम् ॥
असूत्रधारमेकांकं सवोध्यंग कलान्वितम्।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम् ॥
उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम्।
इह प्रतिमुखं संधिमपि केचित्प्रचक्षते ॥[4]

---

१. प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, १९१६, पृ० ८०.
२. डा० शिवप्रसाद सिंह, सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० ३२९ से उद्धृत.
३. नाट्यदर्पण, ओरियण्टल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा, १९२१, भाग १, पृ० २१४.
४. साहित्यदर्पण, पृ० १०४-५.

रासक की शैली मूलत: गेय शैली ही थी। संभवत: इसीलिए कुछ विद्वानों ने रासक की व्युत्पत्ति रास से मानी है। इस संदर्भ में पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कथन है—'रास शब्द का विशेष आग्रह हो तो स्वार्थ में 'क' मानकर इस रासक को नाट्यरासक या रासक नामक उपरूपकों से पृथक् श्रव्यकाव्य का बोधक मान लिया जा सकता है। रासक शब्द को इसलिए भी ग्रहण करना चाहिए कि रासो शब्द के विभिन्न रूपों की निष्पत्ति रासक से ही सुभीते के साथ होती है।'[१] यों रास का उत्सवरूप में प्रयोग भागवतपुराण में मिलता है :

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः।
रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः॥[२]

उपर्युक्त विवेचन से हम इस मन्तव्य पर पहुँचे हैं कि प्रारम्भिक अवस्था में रासक गेय रूपक था और कालान्तर में इसने ही नाट्यरासक का रूप ग्रहण कर लिया। यहीं से इसमें विकासोन्मुख धारा का प्रवाह हुआ। आगे चलकर इसमें काफी परिवर्तन आ गया। 'वस्तुत: रासक काव्य परम्परा पर मध्यकालीन चरितकाव्यों खासतौर से संस्कृत के ऐतिहासिक चरितकाव्यों का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि इसका रूप ही बदल गया।'[३] हमारा संकेत इसी बदले हुए रूप की ओर है कि इस प्रकार के 'रासो' नामक काव्य कथाकाव्यों के अन्तर्गत ही आते हैं। श्री अगरचन्द नाहटा का भी कथन है कि 'पीछे रास, रासु अथवा राउस शब्द प्रधानतया कथाकाव्यों के लिए रूढ़-सा हो गया और रसप्रधान रचना रास मानी जाने लगी।'[४]

मारवाड़ी भाषा में रासो का भिन्न अर्थ है। मुंशी देवीप्रसाद जी के अनुसार 'रासे के मायने कथा के हैं। यह रूढ़ी शब्द है। एकवचन 'रासो' और बहुवचन 'रासा' है। मेवाड़, ढूढाड़ और मारवाड़ में झगड़े

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, प्र० भाग, पृ० ५५.
२. भागवत, १०. ३३. २.
३. डा० शिवप्रसाद सिंह, सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० ३३०.
४. प्राचीन काव्यों की रूप-परम्परा, पृ० ५.

को भी रासा कहते हैं। जैसे यदि कई आदमी झगड़ रहे हों या वाद-विवाद कर रहे हों तो तीसरा आदमी आकर पूछेगा—'कांई रासो है'। लंबी चौड़ी वार्ता को भी रासो और रामायण कहते हैं। बकवाद को भी रामायण और रासा ढूढाड़ में बोलते हैं। 'कांई रामायण है' क्या बकवाद है। यह एक मुहावरा है। ऐसे ही 'रासा' भी इस विषय में बोला जाता है।'[1] इसी प्रसंग में पंडित मोहनलाल विष्णुलाल जी पंड्या का मत भी उद्धरणीय है—'हिन्दी 'रासो' शब्द संस्कृत 'रास' अथवा 'रासक' से है और संस्कृत भाषा में 'रास' के शब्द, ध्वनि, क्रीड़ा, शृंखला, विलास, गर्जन, नृत्य और कोलाहल आदि के अर्थ और 'रासक' के काव्य अथवा दृश्यकाव्यादि के अर्थ परम प्रसिद्ध हैं।....यह 'रासो' शब्द आजकल की ब्रजभाषा में भी अप्रचलित नहीं है, किन्तु अन्वेषण करने से वह काव्य के अर्थ के अतिरिक्त अन्य अनेक अर्थों में भी प्रयोग होता हुआ दृष्टि आवेगा, जैसे—हमने चौदे के गदर को एक 'रासो' जोड्यौ है—कल वहादुर सिंघ जी की बैठक में बंदर ने गदर को रासो गायो हो—फिर मैंने भरतपुर के राजा सूरजमल को रासो गायो सो सब देखते ही रह गए—अजी ये कहा रासौ हैं—मैं तो कल्ल एक रासे में फंस गयौ यासूं तुमारे वहां नांय आय सक्यौ—अजी राम गोपाल बड़ौ दिवारिया है, वाके रासे में फंस कै रूपैया मत बिगाड़ दोजो। हम नै आज दिन कौ रासो नियराय दीनो है—देखौ साब! रासे के संग रासौ है, बुरी मत मानौ—तथा लुगाइयें भी गाया करतो हैं :

गीत— मत काची तोन्हं रखियो घानी नान्ह करूंगी अंत रासा।
गुर राख, पकावा, मत काचा। इत्यादि ॥ १ ॥
जिव लोगन की 'रास' उठेगी तौन्ह के खाक उठावेगा।
हलजोत नहीं पछतावेगा। इत्यादि ॥ २ ॥[2]

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि रास, रासो, रासक आदि का प्रारम्भिक रूप जो भी रहा हो परन्तु बाद में उसका प्रचलन कथाकाव्यों के रूप में रूढ़ हो गया। रासो संज्ञक अधिकांश रचनाओं को कथाकाव्यों की श्रेणी में रखा जा सकता है। पृथ्वीराजरासो को आचार्य हजारीप्रसाद

---

१. सरस्वती, भाग ३, पृ० ९८.
२. हिन्दी साहित्य का अतीत, पृ० ५३ से उद्धृत.

जो ने कथाकाव्य मानते हुए लिखा है कि 'पृथ्वीराजरासो आरम्भ में ऐसा कथाकाव्य था जो प्रधानरूप से उद्धत प्रयोग प्रधान मसृण प्रयोग युक्त गेयरूपक था।'[१] अपभ्रंश में संदेशरासक और पुरानी हिन्दी का वीसल-देवरासो शुद्ध मसृण रासक है। हिन्दी में आगे चलकर उद्धत रासो की परम्परा ही फूली-फली। रासो संज्ञक रचनाओं में ही कहीं उन्हें चरित, कहीं चौपाई, कहीं कथा तथा कहीं रास नाम दिए गये हैं।[२] १५वीं शताब्दी के बाद के रास काव्यों में चरित्र-वर्णन की परिपाटी चल पड़ी थी। समयसुन्दर ने अपने चार 'रास' ग्रन्थों में से एक को कथा, एक को प्रबन्ध और चारों को चौपाईबन्ध करने का उल्लेख किया है :

सांव पजुनक कथा सरस प्रत्येक बुद्ध प्रबन्ध।
नलदमयंती मृगावती चउपई चार सम्बन्ध ॥[३]
—सीतारामचउपई.

इस प्रकार अनेक जैन रासग्रन्थों में प्रेम-कथानकों के माध्यम से जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ मानकविकृत हंसराज-वच्छराज रास की संक्षिप्त कथा द्वारा यह भलीभांति स्पष्ट हो जायेगा कि इस प्रकार की रचनाएँ कथाकाव्य के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। कथा का संक्षेप इस प्रकार है—नरवाहन नामक जम्बूद्वीप का एक राजा था। उसके सालिवाहन नाम का एक पुत्र और शक्तिकुमार नाम का छोटा भाई था। एक बार राजा को स्वप्न में परमसुन्दरी के दर्शन हुए। राजा सुखद स्वप्न के कारण अधिक देर तक उसी में निमग्न सोता रहा। मन्त्री ने राजा की निद्रा भंग कर दी। अतः वह राजा का कोपभाजन हुआ। राजा ने मन्त्री को आदेश दिया कि वह स्वप्न में देखी गई कन्या को एक माह के अन्दर उसके समक्ष प्रस्तुत करे। मन्त्री का सारा सुख-चैन जाता रहा। विभिन्न सूत्रों से उसे पता चला कि कणयापुर की हंसाउली नामक राज-कुमारी परम सुन्दरी है परन्तु वहाँ तक पहुँचने के लिए ही तीन माह की अवधि चाहिए थी। मंत्री ने राजकार्य राजा के छोटे भाई शक्तिकुमार को सौंपकर स्वयं जोगी का भेष रमाया। वह किसी प्रकार कणयापुर

१. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ६०.

२. डा० रामबाबू शर्मा, हिन्दी काव्यरूपों का अध्ययन, पृ० १७०.

३. वही.

पहुँचा। वहाँ उसकी एक मालिन से भेंट हुई। जोगी को उसने बत्तीस लक्षणों से युक्त पाया अतः अपने घर में स्थान दिया। मालिन ने उसे बताया कि राजकुमारी देवी के मंदिर में नर-बलि चढ़ाती है। अतः वह पहले से ही देवी के मंदिर में छिप गया। राजकुमारी जब देवी के मंदिर में गई तो उसने नरबलि को हेय बताया। राजकुमारी ने समझा कि देवी का आदेश है अतः उसने बलि न चढ़ाने की शपथ ली। मन्त्री ने नगर में अपने को एक बड़ा चित्रकार घोषित कराया। राजकुमारी को जब इसकी सूचना मिली तो उसने चित्रकार को बुलवा भेजा। यह गया और राम, कृष्ण के चित्रों को दिखाने के बाद नरवाहन का चित्र दिखाते हुए उसके गुणों का बखान किया। कुमारी उस चित्र पर मोहित हो गई। मन्त्री ने राजकुमारी से कहा कि वह एक माह के अन्दर उसकी भेंट राजा से करा देगा। इसी वचन के आधार पर दोनों का विवाह हो गया। राजा नरवाहन और हंसाउली सुखपूर्वक दिवस व्यतीत करने लगे। समयानुसार हंसाउली के दो पुत्र उत्पन्न हुए। दोनों पुत्र अत्यधिक बलिष्ठ और सुन्दर थे। वे जंगल में शिकार आदि भी खेलने जाते। नरवाहन की दूसरी रानी लीलावती हंसराज के रूप पर आसक्त हो गई। रानी ने हंसराज से अपना प्रस्ताव बताया। हंसराज सुशील था। उसने कहा कि आप तो मेरी माता हैं। इस पर लीलावती ने राजा से शिकायत कर दी कि हंसराज ने उसे अपमानित किया है। राजा ने उसकी शिकायत पर दोनों पुत्रों को निष्कासित कर दिया। मार्ग में चलते-चलते हंसराज को प्यास लग गई। वच्छराज जल लेने चला गया। लौटकर आया तो उसने हंसराज को सर्पदंश से मृत पाया। वह बहुत दुःखित हुआ और समीप के नगर में उसका अन्तिम संस्कार करने के लिए उसे ले गया। वच्छराज को नगर के कोटपाल ने पुत्र न होने के कारण पुत्ररूप में स्वीकार किया। उसी नगर में अरिमर्दन नामक राजा था। वच्छराज को उसने नगर में भ्रमण करते समय देख लिया। राजा ने उसे बत्तीस लक्षणों से पूर्ण पाकर विचार किया कि वह उसकी पुत्री त्रिलोचना के लिए उपयुक्त वर होगा। वच्छराज ने जब विवाह की बात सुनो तो वह नगर छोड़कर चला गया। इस व्यवहार से कुमारी त्रिलोचना को महान् विरह सहना पड़ा। अन्त में किसी प्रकार हंसराज को उसने जीवित पा लिया। इस बीच उन्हें अनेक कष्टों से गुजरना पड़ा। बाद में दोनों ने विवाह कर लिये और अपने

नगर को वापिस हुए। उधर भी सब शांत हो चुका था। लीलावती रानी ने अपने किये का प्रायश्चित्त किया। सभी सुखपूर्वक रहने लगे।

यही उक्त रास की कथा है। मैं नहीं समझता कि इसमें किसी कथा-काव्य के गुण नहीं पाये जाते। स्वप्न-दर्शन, चित्रदर्शन, जोगीवेष, सौतेली मां का प्रणय-निवेदन, सर्पदंश आदि कथानक-रूढ़ियों तक का इसमें पाया जाना इस बात का प्रमाण है। रास संज्ञक सभी रचनाओं को कथाकाव्यों में स्वीकार करने का मेरा आग्रह कदापि नहीं है। डा० दशरथ ओझा ने रास ग्रन्थों की संख्या के विषय में लिखा है कि 'उपलब्ध रास ग्रन्थों को संख्या न्यूनाधिक एक सहस्र तक पहुँच जाती है।'[1] ऊपर हंसराज-वच्छ-राज रास संज्ञक रचना की कथा के आधार पर एवं अद्दहमाण के अप-भ्रंश भाषा में रचित संदेशरासक आदि रचनाओं के आधार पर हम रासकों को कथाकाव्यों के अन्तर्गत समाविष्ट करना अनुचित नहीं समझते।

इसी प्रकार चरित एवं रास का पर्याय विलास भी होता है अथवा इसे पर्याय न मानें तो समानार्थक शब्द मान सकते हैं। पण्डित गौरी-शंकर हीराचन्द जी ओझा का कथन है कि 'मैं रासा शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के रास शब्द से होना मानता हूँ। रास शब्द का अर्थ विलास भी होता है (शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थ खण्ड, पृ० १५९) और विलास शब्द चरित, इतिहास आदि के अर्थ में प्रचलित है। जयविलास, भीमविलास आदि ऐतिहासिक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं और प्राचीन गुजराती भाषा में कई राजाओं के इतिवृत्त रास नाम से प्रसिद्ध हैं (कुमारपालरास, श्रीपाल-रास आदि)।[2] अतः विलास भी चरितादि काव्यों की श्रेणी में आ जाता है।

पुराण-साहित्य कथा-साहित्य के अन्तर्गत आता है अथवा नहीं, यह प्रश्न विचारणीय है। वास्तव में परंपरया स्मृतियों से प्राप्त सामग्री का वर्णन करना ही पुराण का कार्य है और वही उसका लक्षण है :

पुरा परंपरां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम्।[3]

---

१. डा० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० ९१.
२. काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हस्तलेख संख्या २९ की पुष्पिका से.
३. वायुपुराण, १.२.५३.

पुराणों के प्रयोजन के सम्बन्ध में कहा गया है—'लोक संग्राहक कृष्ण द्वैपायन व्यास ने भारतीय युद्ध के बाद की देश की एवं लोगों की, विशेषकर स्त्रियों, शूद्रों तथा नाम मात्र से द्विजों की, स्थिति का आलोचन किया, और चारों वेदों का अर्थ, जो अत्यन्त गूढ़ है, सभी लोग सरलता से समझें जिससे उनका कल्याण हो, इस हेतु इतिहास और पुराण रूपी सीधा मार्ग निर्माण किया।[1] इन पुराणों में विधि और निषेध रूप में धर्मों का विवेचन किया गया।'[2]

आचार्य जिनसेनकृत जैन आदिपुराण में पुरातन आख्यानों को पुराण कहा गया है—'पुरातनं पुराणं स्यात्।'[3] पुराणों का अर्थ ही है पुरानी कहानियाँ अथवा पुराने इतिहास के ग्रन्थ।[4] अनेक पुराणों में पुराण की जो परिभाषाएँ उपलब्ध हैं उनमें पुरातन कहानियों से युक्त उन्हें अवश्य बतलाया गया है। विष्णुपुराण में पुराण उसे कहा गया है जो इन पाँच बातों से युक्त हो :

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशमन्वन्तराणि च।
सर्वेष्वेतेषु कथ्यन्ते वंशानुचरितं च यत्॥[5]

आगे पुराण के वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में भी वहीं उल्लेख किया गया है कि पुराण में आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि के अन्तर्गत वर्णन होने चाहिए :

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः॥[6]

महाभारत में पुराणों के वर्ण्य विषय के सन्दर्भ में कहा गया है कि उनमें दिव्य कथाओं और श्रेष्ठ चिन्तकों का चरित्र वर्णित होना चाहिए :

पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्।
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव॥[7]

---

१. हिन्दी विश्वकोश, खंड ७, पृ० २४९.
२. वही, पृ० २५०.
३. आदिपुराण, १.२१.
४. रामप्रताप त्रिपाठी, पुराणों की अमर कहानियाँ, भाग १ का निवेदन.
५. विष्णुपुराण (गीताप्रेस, गोरखपुर), ३.६.२५.
६. वही, ३.६.१५.
७. महाभारत, १.५.२.

हिन्दू धर्मानुसार पुराणों की संख्या अठारह मानी गई है :

१. ब्रह्मपुराण, २. पद्मपुराण, ३. विष्णुपुराण, ४. शिवपुराण, ५. श्रीमद्भागवतपुराण, ६. नारदपुराण, ७. मार्कण्डेयपुराण, ८. अग्निपुराण, ९. भविष्यपुराण, १०. ब्रह्मवैवर्तपुराण, ११. लिंगपुराण, १२. वराहपुराण, १३. स्कंदपुराण, १४. वामनपुराण, १५. कूर्मपुराण, १६. मत्स्यपुराण, १७. गरुडपुराण, १८. ब्रह्माण्डपुराण।[1] गणेशपुराण और मुद्गलपुराण ये दो उपपुराण हैं।[2]

जैन पुराण-साहित्य में पुराणों की संख्या निर्धारित नहीं है। फिर भी यह मान्य है कि त्रेसठ शलाका पुरुषों अथवा महापुरुषों के जीवनचरित को उद्घाटित करने वाली कथा ही पुराण-कथा होती है। ये त्रेसठ शलाका पुरुष प्रत्येक काल में अलग-अलग होते हैं। जैनों के वर्तमान शलाका पुरुषों में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ बलदेव और ९ प्रतिवासुदेवों की गणना की जाती है।

तीर्थंकर : १. ऋषभनाथ, २. अजितनाथ, ३. संभवनाथ, ४. अभिनंदननाथ, ५. सुमतिनाथ, ६. पद्मप्रभ, ७. सुपार्श्वनाथ, ८. चंद्रप्रभ, ९. पुष्पदन्त, १०. शीतलनाथ, ११. श्रेयांसनाथ, १२. वासुपूज्य, १३. विमलनाथ, १४. अनंतनाथ, १५. धर्मनाथ, १६. शांतिनाथ, १७. कुंथुनाथ, १८. अरहनाथ, १९. मल्लिनाथ, २०. मुनिसुव्रतनाथ, २१. नमिनाथ, २२. नेमिनाथ, २३. पार्श्वनाथ, २४. महावीर।

चक्रवर्ती : १. भरत, २. सगर, ३. मघवा, ४. सनत्कुमार, ५. शांति, ६. कुंथु, ७. अर, ८. सुभौम, ९. पद्म, १०. हरिषेण, ११. जय. १२. ब्रह्मदत्त।[3]

वासुदेव : १. त्रिपृष्ठ, २. द्विपृष्ठ, ३. स्वयंभू, ४. पुरुषोत्तम, ५. पुरुषसिंह, ६. पुंडरीक, ७. दत्त, ८. लक्ष्मण, ९. कृष्ण।[4]

बलदेव : १. अचल, २. विजय, ३. भद्र, ४. सुप्रभ, ५. सुदर्शन, ६. आनंद, ७. नंदन, ८. पद्म अथवा राम, ९ बलराम।[5]

प्रतिवासुदेव : १. अश्वग्रीव, २. तारक, ३. मेरक, ४. मधु, ५. निशुंभ, ६. बलि, ७. प्रहलाद, ८. रावण, ९. मगधेश्वर जरासंध।[6]

---

१. हिन्दी विश्वकोश, खंड ७, पृ० २४८.

२. वही, पृ० २६०-६१.

३–६. अभिधानचिन्तामणि, श्लो० ६९२–६९९.

जिस प्रकार हिन्दुओं में पुराण और उपपुराण हैं उसी प्रकार जैनों में भी पुराण एवं महापुराण माने गये हैं। जिस पुराण में एक शलाका पुरुष का चरित वर्णित होता है वह पुराण है और जिसमें त्रेसठ शलाका पुरुषों का चरित वर्णित होता है वह महापुराण है। पुराण का लक्षण देते हुए आचार्य जिनसेन (ई० सन् ८वीं शती) लिखते हैं कि जो पुराण का अर्थ है वही धर्म है, यह पुराण पांच प्रकार का है—क्षेत्र, काल, तीर्थ, सत्पुरुष और सत्पुरुष का चरित्र :

स च धर्मः पुराणार्थः पुराणं पञ्चधा विदुः।
क्षेत्रं कालश्च तीर्थञ्च सत्पुंसस्तद्विचेष्टितम् ॥[1]

आचार्य ने क्षेत्र, काल और तीर्थादि को अलग-अलग स्पष्ट किया है। आकाश, मर्त्य और पाताल लोक के विन्यास को क्षेत्र; भूत, भविष्य और वर्तमान तीन कालों के विस्तार को काल; मोक्षप्राप्ति के उपाय को तीर्थ कहते हैं और तीर्थ का सेवन करने वाले शलाका पुरुष कहलाते हैं :

क्षेत्रं त्रैलोक्यविन्यासः कालस्त्रैकाल्यविस्तरः।
मुक्त्युपायो भवेत्तीर्थं पुरुषास्तन्निषेविणः ॥[2]

आदिपुराण में पुराण के वर्ण्य पर विचार करते हुए लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान-तप, गति और फल इन आठ का पुराणों में वर्णन आवश्यक बतलाया गया है :

लोको देशः पुरं राज्यं तीर्थं दानतपोऽन्वयम्।
पुराणेष्वष्टधाख्येयं गतयः फलमित्यपि ॥ ३ ॥[3]

लोक का नाम कहना, उसकी व्युत्पत्ति बतलाना, प्रत्येक दिशा तथा उसके अन्तरालों की लम्बाई, चौड़ाई आदि बतलाना, इनके सिवाय और भी अनेक बातों का विस्तार के साथ वर्णन करना लोकाख्यान कहलाता है। लोक के किसी एक भाग में पहाड़, द्वीप तथा समुद्र आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन करने को जानकार सम्यग्ज्ञानी देशाख्यान कहते हैं। भारतवर्ष आदि क्षेत्रों में राजधानी का वर्णन करना पुराण जानने वाले आचार्यों के मत से पुराख्यान कहलाता है। उस देश का यह भाग अमुक राजा के

१. आदिपुराण, २.३८.
२. वही, २.३९.
३. वही, ४.३.

अधीन है अथवा वह नगर अमुक राजा का है इत्यादि वर्णन करना जैन-शास्त्रों में राजाख्यान कहा गया है। जो इस अपार संसार से पार करे उसे तीर्थ कहते हैं, ऐसा तीर्थ जिनेन्द्र भगवान् का चरित्र ही हो सकता है अतः उसका कथन करने को तीर्थाख्यान कहते हैं। जिस प्रकार का तप और दान करने से जीवों को अनुपम फल की प्राप्ति होती हो उसका कथन करना तपदानकथा कहलाती है। नरकादि चार गतियों का कथन करने को गत्याख्यान कहते हैं। संसारी जीवों को पुण्य-पाप का जैसा फल मिलता है उसका मोक्षप्राप्ति पर्यन्त वर्णन करना फलाख्यान कहलाता है :

लोकोद्देशनिरुक्त्यादिवर्णनं यत्सविस्तरम्।
लोकाख्यानं तदाम्नातं विशोधितदिगन्तरम्॥ ४॥
तदेकदेशदेशाद्रिद्वीपाब्ध्यादिप्रपञ्चनम्।
देशाख्यानं तु तज्ज्ञेयं तज्ज्ञैः संज्ञानलोचनैः॥ ५॥
भरतादिषु वर्षेषु राजधानीप्ररूपणम्।
पुराख्यानमितीष्टं तत् पुरातनविदां मते॥ ६॥
अमुष्मिन्नधिदेशोऽयं नगरञ्चेति तत्पतेः।
आख्यानं यत्तदाख्यातं राज्याख्यानं जिनागमे॥ ७॥
संसाराब्धेरपारस्य तरणे तीर्थमिष्यते।
चेष्टितं जिननाथानां तस्योक्तिस्तीर्थसंकथा॥ ८॥
यादृशं स्यात्तपोदानमनीदृशगुणोदयम्।
कथनं तादृशस्यास्य तपोदानकथोच्यते॥ ९॥
नरकादि प्रभेदेन चतस्रो गतयो मताः।
तासां संकीर्त्तनं यद्धि गत्याख्यानं तदिष्यते॥ १०॥
पुण्यपापफलावाप्तिर्जन्तूनां यादृशी भवेत्।
तदाख्यानं फलाख्यानं तच्च निःश्रेयसावधि॥ ११॥[1]

पुराण के वर्ण्य विषय से उसके क्षेत्र की व्यापकता पर तो प्रकाश पड़ता ही है, उससे कथाकाव्य के क्षेत्र का भी ज्ञान होता है। पहले लिखा जा चुका है कि हिन्दू धर्म की तरह १८ पुराण और १८ उपपुराणों की संख्या जैनों में निर्धारित नहीं है, फिर भी उनका पुराण-साहित्य संस्कृत,

---

१. वही, ४. ४-११.

प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी तक में विपुलरूप से उपलब्ध है। नीचे जैनों के पुराण-साहित्य की एक सूची दी जा रही है[1] :

पुराण का नाम	लेखक	समय
१. पद्मपुराण—पद्मचरित	रविषेण	७०५ वि० सं०
२. महापुराण (आदिपुराण)	जिनसेन	नवीं शती
३. उत्तरपुराण	गुणभद्र	१०वीं शती
४. अजितपुराण	अरुणमणि	१७१६ वि० सं०
५. आदिपुराण (कन्नड़)	कवि पंप	
६. आदिपुराण	भट्टारक चन्द्रकीर्ति	१७वीं शती
७. आदिपुराण	,, सकलकीर्ति	१५वीं शती
८. उत्तरपुराण	,, ,,	
९. कर्णामृतपुराण	केशवसेन	१६८८ वि० सं०
१०. जयकुमारपुराण	ब्र० कामराज	१५५५
११. चन्द्रप्रभपुराण	कवि अगासदेव	
१२. चामुण्डपुराण	चामुण्डराय	९८० शक सं०
१३. धर्मनाथपुराण	कवि बाहुबली	
१४. नेमिनाथपुराण	ब्र० नेमिदत्त	
१५. पद्मनाभपुराण	भ० शुभचन्द्र	१७वीं शती
१६. पउमचरिय (अपभ्रंश)	चतुर्मुखदेव	अनुपलब्ध
१७. ,, ,,	स्वयंभूदेव	
१८. पद्मपुराण	भ० सोमसेन	
१९. पद्मपुराण	भ० धर्मकीर्ति	१६५६
२०. पद्मपुराण (अपभ्रंश)	कवि रइधू	१५–१६वीं शती
२१. ,,	भ० चन्द्रकीर्ति	१७वीं शती
२२. ,,	ब्रह्म जिनदास	१५-१६वीं शती
२३. पाण्डवपुराण	भ० शुभचन्द्र	१६०८
२४. ,, (अपभ्रंश)	भ० यशःकीर्ति	१४९७
२५. ,,	भ० श्रीभूषण	१६५७

१. प्रस्तुत सूची हिन्दी विश्वकोश, खंड ७, पृ० २६४–६५ एवं जिनसेनकृत आदिपुराण, प्रथम भाग की प्रस्तावना पृ० ८-९ के आधार पर दी गई है। हिन्दी विश्वकोश के अनुसार क्र० सं० १६,१७,२७–३०, ४५–४६, ४८-५२ अपभ्रंश भाषा में लिखित हैं।

पुराण का नाम	लेखक	समय
२६. पाण्डवपुराण	भ० वादिचन्द्र	१६५८
२७. पार्श्वपुराण (अपभ्रंश)	पद्मकीर्ति	९९९
२८. ,, ,,	कवि रइधू	१५–१६वीं शती
२९. ,,	चन्द्रकीर्ति	१६५४
३०. ,,	वादिचन्द्र	१६५८
३१. महापुराण	आचार्य मल्लिषेण	११०४
३२. ,, (अपभ्रंश)	महाकवि पुष्पदंत	
३३. मल्लिनाथपुराण (कन्नड़)	कवि नागचन्द्र	
३४. पुराणसार	श्रीचन्द्र	
३५. महावीरपुराण	कवि असग	९१०
३६. ,,	भ० सकलकीर्ति	१५वीं शती
३७. मल्लिनाथपुराण	,,	,,
३८. मुनिसुव्रतपुराण	ब्रह्म कृष्णदास	
३९. ,, ,,	भ० सुरेन्द्रकीर्ति	
४०. वागर्थसंग्रहपुराण	कवि परमेष्ठी	जिनसेन से पूर्व
४१. शान्तिनाथपुराण	कवि असग	१०वीं शती
४२. ,,	भ० श्रीभूषण	१६५९
४३. श्रीपुराण	भ० गुणभद्र	
४४. हरिवंशपुराण	पुन्नाटसंघीय जिनसेन	७०५ शक सं०
४५. हरिवंशपुराण (अपभ्रंश)	स्वयंभूदेव	
४६. ,, ,,	चतुर्मुखदेव	
४७. ,,	ब्र० जिनदास	१५–१६वीं शती
४८. ,, (अपभ्रंश)	भ० यशःकीर्ति	१५०७
४९. ,, ,,	भ० श्रुतकीर्ति	१५५२
५०. ,, ,,	कवि रइधू	१५–१६वीं शती
५१. ,,	भ० धर्मकीर्ति	१६७१
५२. ,,	कवि रामचन्द्र	१५६० से पूर्व

उपर्युक्त पुराणों की सूची में बारह पुराण अपभ्रंश भाषा में लिखित हैं। वास्तव में पुराणों की रचना धर्म से सम्बन्धित है परन्तु धर्म कथा-साहित्य में कोई प्रत्यवाय उपस्थित नहीं करता। जैनों के पुराण-साहित्य

के अतिरिक्त उनका संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का कथा-साहित्य धार्मिक कोटि में डालकर वहुत पहले वहिष्कृत किया जा चुका था। विशेषरूप से यहाँ अपभ्रंश रचनाओं की चर्चा करना आवश्यक है। अपभ्रंश साहित्य की प्राप्त रचनाओं में से अधिकतम रचनाएँ जैन कवियों-लेखकों द्वारा लिखी गई हैं। उनका विषय भी जैन शलाका पुरुषों की कथा अथवा अन्य जैन कथाओं से सम्बन्धित होता है। यद्यपि जैन कथाओं के नायकों को जैन सिद्धान्तों का पालन करते हुए मोक्ष-प्राप्त्यर्थं दीक्षित होते दिखाया गया है तथापि इन कथाओं में शृंगारिकता एवं व्यावहारिक पक्ष किसी बात में कम दिखाई नहीं पड़ता। साधारणतया जैन साहित्य में जैनधर्म का ही शान्त वातावरण व्याप्त है, सन्त के हृदय में शृंगार कैसा ?[1] डा० रामकुमार वर्मा के इस कथन पर डा० शिवप्रसाद सिंह की टिप्पणी विवेकपूर्ण और यथार्थ है—'जैन काव्य में शान्ति या शम की प्रधानता है अवश्य किन्तु वह आरम्भ नहीं, परिणति है। संभवतः पूरे जीवन को शम या विरक्ति का क्षेत्र बना देना प्रकृति का विरोध है। जैन कवि इसे अच्छी तरह जानता है इसीलिए उसने शम या विरक्ति को उद्देश्य के रूप में मानते हुए भी सांसारिक वैभव, रूप, विलास और कामासक्ति का चित्रण भी पूरे यथार्थ के साथ प्रस्तुत किया है।'[2] इस टिप्पणी का प्रथम वाक्य अत्यधिक मार्मिक और जैन साहित्य की सम्पूर्ण व्याख्या के लिए एक तथ्य है। असल में जो लोग सिर्फ इतना जानते हैं कि जैनधर्म निवृत्ति मार्ग का पोषक है वे ही जैनधर्म की अपूर्ण जानकारी होने के कारण धर्म एवं साहित्य पर अनेक दोषारोपण थोपते हैं। जैन साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि उसमें भारतीय कला, विद्या एवं अन्य लोक पक्ष अथवा परलोक पक्ष आदि विषयों के अन्तर्गत एक व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। जैनों के यहाँ जीवन को दो भागों में विभक्त किया गया है: १. मुनिधर्म और २. गृहस्थधर्म। इन्हीं दोनों धाराओं की छाप उनके साहित्य पर पड़ती है। 'मुनिधर्म के द्वारा एक ऐसे वर्ग की स्थापना का प्रयत्न किया गया है जो सर्वथा निःस्वार्थ, निःस्पृह और निरीह होकर वीतराग भाव से अपने व दूसरों के कल्याण में ही अपना समस्त समय व शक्ति लगावे। साथ ही गृहस्थधर्म की

---

१. डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. १००.

२. डा० शिवप्रसाद सिंह, सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० २८२.

व्यवस्थाओं द्वारा उन सब प्रवृत्तियों को यथोचित स्थान दिया गया है जिनके द्वारा मनुष्य सभ्य और शिष्ट बनकर अपनी, अपने कुटुम्ब की, तथा समाज व देश की सेवा करता हुआ उन्हें उन्नत बना सके।[1]

अपभ्रंश काव्यों में लौकिक आनन्द की दृष्टि से एक ओर शृंगारिक पक्ष का चमत्कार मिलेगा तो दूसरी ओर संयम की यथार्थता का बयान भी। पाटलिपुत्र में मुनि स्थूलभद्र चातुर्मास कर रहे थे। नगर की एक रमणी वेश्या उन पर अनुरक्त हो गई। वेश्या को अपने रूप का गर्व था अतः वह मुनि को रिझाने चल पड़ी। उस वेश्या का रूप अपभ्रंश कवि की लेखनी में देखिये :

कन्नजुयल जसु लहलहंत किर मयण हिंडोला
चंचल चपल तरंग चंग जसु नयण कचोला
सोहइ जासु कपोल पालि जणु गालि मसूरा
कोमल विमल सुकंठ जासु वाजइ सखंतूरा
तुंग पयोहर उल्लसइ सिंगार थवक्का
कुसुम वाण निय अमिय कुंभ किर थापण मुक्का ॥[2]

अर्थात् प्रकम्पित कर्णयुगल मानो कामदेव के हिंडोले थे, चंचल ऊर्मियों से आपूरित नयन कच्चोले, सुन्दर विषैले फूल की तरह प्रफुल्लित कपोल-पालि, शंख की तरह सुडोल सुचिक्कण निर्मल कंठ—उसके उरोज शृंगार के स्तवक थे, मानो पुष्पधन्वा कामदेव ने विश्वविजय के लिए अमृत कुम्भ की स्थापना की थी।

इस सुरम्य सुन्दरी का रूप भी मुनिवर के संयम को डिगाने के लिए नाकाफी रहा। क्योंकि उन्होंने सिद्धिरूपी रमणी से परिणय कर लिया था तथा वे संयम श्री के भोग में लीन हो चुके थे :

मुनिवइ जंपइ वेस सिद्धि रमणी परिणेवा।
मनु लीनउ संयम सिरि सों भोग रमेवा ॥[3]

---

१. डा० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० २८३-८४.

२. डा० शिवप्रसाद सिंह, सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० २८३ से उद्धृत.

३. वही.

अन्यत्र भी ऐसे अनेकानेक उद्धरणों से अपभ्रंश काव्य भरे पड़े हैं। अपभ्रंश भाषा के उत्कृष्ट कवि स्वयंभू और पुष्पदंत आदि कवियों की साहित्य-समाज को बहुत बड़ी देन है। इसीलिए राहुल जी ने स्वयंभू का मूल्यांकन इन शब्दों में किया : हिन्दी कविता के पांचों युगों—सिद्ध सामन्त युग, सूफी युग, भक्त युग, दरबारी युग और नवजागरण युग के जितने भी कवियों को हमने यहाँ संगृहीत किया है, उनमें यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि स्वयंभू सबसे बड़ा कवि था।[1] इतने से भी जब महापंडित राहुल जी को संतोष नहीं होता तो वे कहते हैं कि 'राम के हाथों मुक्ति पाने वालों का जब हमारे देश में नाम भी नहीं रह जायेगा, तब भी तुलसी की कद्र होगी, स्वयंभू के जैनधर्म का अस्तित्व भी न रहने पर वह नास्तिक भारत का महान् कवि रहेगा। उसकी वाणी में हमेशा वह शक्ति रहेगी कि कहीं अपने पाठकों को हर्षोत्फुल्ल कर दे, कहीं शरीर को रोमांचित कर दे और कहीं आँखों को भीगने के लिये मजबूर कर दे।'[2]

उक्त विद्वानों के निष्पक्ष वक्तव्यों से अपभ्रंश साहित्य को प्रकाश में लाने की प्रेरणा लोगों को मिली। आज अपभ्रंश साहित्य की प्रतिष्ठा हिन्दी के आदि स्रोत के रूप में हो चुकी है। यदि जैनेतर कहानियों की धार्मिक रचनाएँ कथा-कोटि में रखी जा सकती हैं तो न्यायोचित यही है कि हमें पक्षपातरहित होकर अपभ्रंश कथाकाव्यों की धार्मिक रचनाओं पर विचार करना चाहिये। कथासरित्सागर कथाकाव्य है परन्तु वह भी धार्मिक उद्देश्यपूर्ण है। इसकी पुष्टि डा० सत्येन्द्र के कथन से होगी—'कथासरित्सागर की भाँति के अनेक ग्रन्थ भारतीय साहित्य में मिलते हैं और इनमें से अधिकांश धार्मिक उद्देश्यनिहित हैं। कथासरित्सागर भी साम्प्रदायिक भावना से मुक्त नहीं है। शैव और शाक्त भावनाओं का इसमें प्राधान्य है। शिव और देवी की पूजा और बलि, इनके दिये वरदान तथा विद्याधरत्व प्राप्त करना ये सभी साम्प्रदायिक दृष्टि की पुष्टि करते हैं। ऐसी ही विलक्षण दिव्यतापूर्ण कहानियाँ जैनियों के साहित्य में मिलती हैं। कथासरित्सागर के विद्याधर-विद्याधरियाँ आदि शिव-परिकर के हैं, जिन-परिकर के नहीं।'[3] इस प्रकार के बन्धन यदि स्वीकार किये

---

१. राहुल सांकृत्यायन, हिंदी काव्यधारा, प्रयाग, १९५४, पृ० ५०.

२. वही, पृ० ५४.

३. डा० सत्येन्द्र, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० १६१.

जायेंगे तब तो महाकवि तुलसीदासकृत रामचरितमानस भी साम्प्रदायिक श्रेणी में रखा जायेगा। जबकि तुलसी बाबा स्वयं उसे 'कथा' कहते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी धार्मिक प्रेरणा को काव्यत्व में बाधक नहीं मानते। उनके मत से 'इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी-कभी शुक्ल जी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिये।'[1]

इन तथ्यों के आधार पर कथाकाव्य की व्यापकता की पुष्टि होती है। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि कथाकाव्य के अन्तर्गत रास, चरित, विलास, पुराण के अतिरिक्त धर्मकथाओं तथा कथात्मक काव्यों का भी समावेश किया जाना चाहिये। अपभ्रंश कथा-साहित्य में शलाका पुरुषों की कथा के अतिरिक्त धार्मिक व्रत, अनुष्ठान और विधानादि सम्बन्धी रचनाएँ भी 'कथा' संज्ञक उपलब्ध हैं। उदाहरणस्वरूप नयनंदिकृत सकलविधिविधानकहा (वि० सं० ११००), रइधूकृत पुण्णासवकहा-कोसो, बालचन्द्रकृत सुगंधदहमीकहा एवं णिद्दहसत्तमीकहा, यशःकीर्ति की जिणरत्तिविहाणकहा व रविवयकहा का नामोल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार अपभ्रंश कथा-साहित्य को व्रत-कथाकाव्य, पुराण, चरित आदि कथाकाव्यों से भरपूर पाते हैं।

अपभ्रंश एवं प्राकृत में कथा के लक्षण, भेद एवं उपभेदों पर यत्र-तत्र कथाग्रन्थों, कोषों तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों में विचार किया गया है। प्राकृत ग्रन्थ दशवैकालिक में कथाएँ चार प्रकार की बताई गई हैं—अर्थ-कथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रितकथा।

> अत्थकहा कामकहा धम्मकहा चेव मीसिया य कहा।
> एत्तो एक्केक्कावि य णेगविहा होइ नायव्वा॥ १८८॥[2]

इन कथाओं के भी उपभेद होते हैं। सबका उल्लेख करना यहाँ प्रासंगिक नहीं है। अर्थकथा का लक्षण इस प्रकार है :

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ११.

२. दशवैकालिक, पृ० २१२.

विज्जासिप्पमुवाओ अणिवेओ संचओ य दक्खत्तं।
सामं दंडो भेओ उवप्पयाणं च अत्थकहा ॥ १८९ ॥[1]

अर्थात् विद्या, शिल्प, उपाय, साम, दंड और भेद का जिस कथा में वर्णन हो वह अर्थकथा है। मूलतः अर्थकथाओं में अर्थसम्बन्धी अथवा अर्थोपार्जनसम्बन्धी बातों की प्रधानता रहती है। अतएव उसे अर्थकथा संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

कामकथा का लक्षण इस प्रकार है—रूप, अवस्था, वेश, दाक्षिण्य, शिक्षा आदि विषयों की एवं कला-शिक्षा की दृष्टि, श्रुति, अनुभूति और संस्तुति कामकथा है।

रूवं वओ य वेसो दक्खत्तं सिक्खियं च बिसएसुं।
दिट्ठं सुयमणुभूयं च संथवो चेव कामकहा ॥ १९२ ॥[2]

दशवैकालिक में धर्मकथा आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेगिनी और निर्वेदिनी चार प्रकार की कही गई है। आक्षेपिणी कथा में आचार, व्यवहार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद ये चार बातें मुख्यतया होती हैं :

धम्मकहा बोद्धव्वा चउव्विहा धीरपुरिसपन्नत्ता।
अक्खेवणि विक्खेवणि संवेगे चेव निव्वेए ॥
आयारे ववहारे पन्नत्ती चेव दिट्ठीवाए य।
एसा चउव्विहा खलु कहा उ अक्खेवणी होइ ॥१९४-१९५॥[3]

विक्षेपिणी कथा चार प्रकार की होती है—अपने शास्त्र के कथनोपरान्त परशास्त्र का कथन करना, परशास्त्र के कथनोपरान्त अपने शास्त्र का कथन, मिथ्यात्व का वर्णन करके सम्यक्त्व का कथन, और सम्यक्त्व का विवेचन करके मिथ्यात्व का वर्णन करना।

विक्खेवणी सा चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—ससमयं कहेत्ता परसमयं कहेइ, परसमयं कहेत्ता ससमयं कहेइ, मिच्छावादं कहेत्ता सम्मावादं कहेइ, सम्मावादं कहेत्ता मिच्छावायं कहेइ ॥[4]

---

१. वही.
२. वही, पृ० २१८.
३. वही, पृ० २१९.
४. दशवैकालिक-सूत्र : हरिभद्रवृत्ति, म०म० प्रिंटिंग वर्क्स, पृ० २२१.

इसी प्रकार संवेगिनी कथा आत्मशरीर संवेगिनी, परशरीर संवेगिनी, इहलोक संवेगिनी और परलोक संवेगिनी के भेद से चार प्रकार की होती है। शुक्र, शोणित, मांस, वसा, मेदा, अस्थि, स्नायु, चर्म, केश, रोम, नाक, दन्त आदि संघातस्वरूप मलमूत्रयुक्त अपने शरीर की अशुचिता का वर्णन कर विरक्ति उत्पन्न करना आत्मशरीर संवेगिनी कथा है। इसी प्रकार दूसरे व्यक्ति के शरीर की (उक्त पदार्थों द्वारा) अशुचिता का वर्णन करना परसंवेगिनी कथा है। संसार की असारता का वर्णन करके विरक्ति का कथन लोक संवेगिनी कथा के अन्तर्गत आता है। देवादि भी कषायों वश दुर्गति को पाते हैं—इस प्रकार के कथन से वैराग्य की प्रभावशाली व्याख्या परलोक संवेगिनी कथा है :

आयपरसरीरगया इहलोए चेव तहय परलोए।
एसा चउव्विहा खलु कहा उ संवेयणी होइ॥
वीरियविउव्वणिढ्ढी नाणचरणदंसणाण तह इड्ढी।
उवइस्सइ खलु जहियं कहाइ संवेयणीइ रसो॥[1]

तंजहा—आयसरीरसंवेयणी परसरीरसंवेयणी इहलोयसंवेयणी परलोयसंवेयणी, तत्थ आयसरीरसंवेयणी जहा जमेयं अम्हच्चयं सरीरयं एवं सुक्कसोणियमंसवसामेदमज्जट्ठिण्हारुचम्मकेसरोमणहदंतअंतादि-संघायणिप्फण्णतणेण········एसा परलोयसंवेयणी गयत्ति।[2]

उद्योतनसूरि ने भी धर्मकथा के आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी चार भाग किये हैं। आक्षेपिणी मनोनुकूल तथा विक्षेपिणी मन के प्रतिकूल होती है। संवेदिनी ज्ञानोत्पत्ति का कारण बनती है और निर्वेदिनी से वैराग्योत्पत्ति होती है :

तत्थ अक्खेवणी मणोणुकूला, विक्खेवणी मणो-पडिकूला, संवेग-जणणी णाणुप्पत्ति-कारणं, णिव्वेय-जणणी उण वेरग्गुप्पत्ती। भणियं च गुरुणा सुहम्म-सामिणा।

अक्खेवणि अक्खित्ता पुरिसा विक्खेवणीए विक्खित्ता।
संवेयणि संविग्गा णिव्विण्णा तह चउत्थीए॥[3]

---

१. वही, पृ० २१९.
२. वही, पृ० २२३–२४.
३. उद्योतनसूरि, कुवलयमाला, पृ० ४.

धार्मिक कथान्तर्गत निर्वेदिनी कथा पापाचरण से छुटकारा दिलाने के लिए कही जाती है। इसके चार भेद हैं। प्रथम प्रकार की निर्वेदिनी कथाएं वे होती हैं जो इस लोक में किए गए दुराचरणों का फल इसी लोक में पाने का कथन करके व्यक्ति में वैराग्योत्पादन करती हैं। इस जन्म के किये गये कार्यकलापों का फल जन्मजन्मान्तरों तक भोगना पड़ता है, इसका कथन करके व्यक्ति में निर्वेद उत्पन्न करनेवाली कथा दूसरा प्रकार है। इसी प्रकार परलोकसम्बन्धी क्रियाकलापों का सरस वर्णन करने वाली निर्वेदिनो कथा तीसरा प्रकार है। चतुर्थ प्रकार सहित निर्वेदिनी कथाएं सरस ढंग से व्यक्ति को वैराग्योन्मुख करने में सहायक होती हैं। इस कथा का दशवैकालिक में निम्नलिखित स्वरूप है :

पावाणं कम्माणं असुभविवागो कहिज्जए जत्थ।
इह य परत्थ य लोए कहा उ णिव्वेयणो नाम॥
थोवंपि पमायकयं कम्मं साहिज्जई जंहि नियमा।
पउरासुहपरिणामं कहाइ निव्वेयणीइ रसो॥[1]

दशवैकालिक में कथा के जो चार प्रकार बताए हैं उनमें चौथी मिश्रित कथा होती है। मिश्रित कथा में धर्म, अर्थ, काम इन तीनों प्रकार की कथाओं का मिश्रित रूप होता है। जिस कथा में किसी एक पुरुषार्थ की प्रधानता न होकर तीनों ही पुरुषार्थों के वर्णन में समानता रहे वह मिश्रकथा कहलाती है :

सा पुनः 'मिश्रा' मिश्रानाम संकीर्णपुरुषार्थाभिधानात्।[2]

हरिभद्रसूरि ने 'समराइच्चकहा' में उक्त चार प्रकार की ही कथाओं का उल्लेख किया है—एत्थ सामन्नओ चत्तारि कहाओ हवन्ति। तं जहा। अत्थकहा, कामकहा, धन्मकहा, संकिण्णकहा य।[3] इन कथाओं के अलग-अलग लक्षण भी दिये गये हैं। अर्थकथा और कामकथा के लक्षण लगभग दशवैकालिक ग्रन्थ के लक्षणों के समान ही हैं।[4] हरिभद्रसूरि के

---

१. दशवैकालिक, पृ० २१९.
२. दशवैकालिक-सूत्र : हरिभद्रवृत्ति, पृ० २२८.
३. समराइच्चकहा, संपा०—एम० सी० मोदी, भाग २, पृ० २.
४. तत्थ अत्थकहा नाम—जा अत्थोवायाणपडिबद्धा असिमसिकसिवाणिज्ज-सिप्पसंगया विचित्तधाऊवायाइपमुहमहोवायसंपउत्ता सामभेयउवप्पयाणदण्डा-इपयत्थविरइया, सा अत्थकह त्ति भणइ। जा उण कामोवायाणविसया वित्तवपुव्वयकलादक्खिणपरिगया अणुरायपुलइयपडिवत्तिजोयसारा दूईवावा-ररमियभावाणुवत्तणाइपयत्थसंगया, सा कामकह त्ति भणइ।—वही, पृ०२–३.

अनुसार धर्मकथा वह है जिसमें क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य, अणुव्रत, दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थ-दण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोग-परिभोग, अतिथिसंविभाग, अनुकम्पा तथा अकाम निर्जरा के साधनों का प्रचुरता से वर्णन हो :

जा उण धम्मोवायाणगोयरा खमामद्दवज्जवमुत्तितवसंजमसच्चसोयाकिंचण्णबंभचेरपहाणा अणुव्वयदिसिदेसाणत्थदण्डविरईसामाइयपोसहोवयासोवभोगपरिभोगातिहिसंविभागकलिया अणुकम्पाकामनिज्जराइपयत्थसंपउत्ता, सा धम्मकह त्ति ।[1]

मिश्रकथा धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्गों का कथन करने वाली तथा उदाहरण, हेतु और कारणों से पुष्ट होती है :

जा उण तिवग्गोवायाणसंबद्धा कव्वकहागन्थत्थवित्थरविरइया लोइयवेयसमयपसिद्धा उयाहरणहेउकारणोववेया, सा संकिण्णकह त्ति वुच्चइ ।[2]

आचार्य जिनसेन ने कथा के सद्धर्मकथा या सत्कथा एवं विकथा ये दो भेद माने हैं । उनका कथन है कि मोक्ष पुरुषार्थ के लिए उपयोगी होने से धर्म, अर्थ तथा काम का कथन करना कथा कहलाती है । जिसमें धर्म का विशेष निरूपण होता है उसे बुद्धिमान् सत्कथा कहते हैं । धर्म के फलस्वरूप जिन अभ्युदयों की प्राप्ति होती है उनमें अर्थ और काम भी मुख्य हैं अतः धर्म का फल दिखाने के लिए अर्थ और काम का वर्णन करना भी कथा कहलाती है । यदि यह अर्थ और काम की कथा धर्मकथा से रहित हो तो विकथा ही कहलायेगी जो मात्र पापाश्रव का कारण होती है । जिससे जीवों को स्वर्गादि अभ्युदय तथा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है वास्तव में वही धर्म कहलाता है, उससे सम्बन्ध रखनेवाली कथा को सद्धर्मकथा कहते हैं :

पुरुषार्थोपयोगित्वात्त्रिवर्गकथनं कथा ।
तत्रापि सत्कथां धर्म्यामामनन्ति मनीषिणः ॥ ११८ ॥
तत्फलाभ्युदयाङ्गत्वादर्थकामकथा कथा ।
अन्यथा विकथैवासावपुण्यास्रवकारणम् ॥ ११९ ॥

१. वही, पृ० ३.
२. वही.

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसंसिद्धिरञ्जसा ।
सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता ॥ १२० ॥[1]

सद्धर्मकथा के द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल, भाव, महाफल और प्रकृत ये सात अंग होते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छः द्रव्य हैं; ऊर्ध्व, मध्य और पाताल ये तीन लोक क्षेत्र हैं। जिनेन्द्र देव का चरित्र ही तीर्थ है; भूत, भविष्य और वर्तमान तीन प्रकार के काल हैं; क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक ये दो भाव हैं; तत्त्वज्ञान का होना फल कहलाता है ओर वर्णनीय कथावस्तु को प्रकृत कहते हैं। उक्त सात अंग जिस कथा में पाये जायें उसे सत्कथा कहते हैं :

द्रव्यं क्षेत्रं तथा तीर्थं कालो भावः फलं महत् ।
प्रकृतं चेत्यमून्याहुः सप्ताङ्गानि कथामुखे ॥ १२२ ॥
द्रव्यं जीवादि षोढा स्यात्क्षेत्रं त्रिभुवनस्थितिः ।
जिनेन्द्रचरितं तीर्थं कालस्त्रेधा प्रकीर्तितः ॥ १२३ ॥
प्रकृतं स्यात् कथावस्तु फलं तत्त्वावबोधनम् ।
भावः क्षयोपशमजस्तस्य स्यात्क्षायिकोऽथवा ॥ १२४ ॥
इत्यमूनि कथाङ्गानि यत्र सा सत्कथा मता ।
यथावसरमेवैषां प्रपञ्चो दर्शयिष्यते ॥ १२५ ॥[2]

कथा के लक्षणों के साथ-साथ ही इन आचार्यों ने वक्ता और श्रोता के लक्षण भी बताये हैं।[3] कथा का विस्तार न तो अधिक हो और न अति संक्षेप हो तो वह कथा महान् अर्थ वाली कथा होती है :

महार्थापि कथा अपरिक्लेशबहुला कथयितव्या।[4]

उद्योतनसूरि ने कथा के पांच भेद स्वीकार किये हैं : सकलकथा, खंडकथा, उल्लापकथा, परिहासकथा और संकीर्णकथा—ताओ पुण पंच कहाओ। तं जहा। सयलकहा, खंडकहा, उल्लावकहा, परिहासकहा, तहा वरा कहिय त्ति ¨ संकिण्ण कहत्ति।[5]

---

१. जिनसेन, आदिपुराण, पृ० १८.

२. वही.

३. वही, पृ० १८-२०.

४. दशवैकालिक-सूत्र : हरिभद्रवृत्ति, पृ० २३०.

५. उद्योतनसूरि, कुवलयमाला, पृ० ४.

आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में कथाओं के १. कथा, २. उपाख्यान, ३. आख्यान, ४. निदर्शन, ५. प्रवल्हिका, ६. मन्थल्लिका, ७. मणिकुल्या, ८. परिकथा, ९. खंडकथा, १०. सकलकथा, ११. उपकथा, १२. बृहत्कथा के भेद से १२ भेद गिनाए हैं। उनका कथन है कि धीर-प्रशान्त नायक द्वारा समस्त भाषाओं में गद्य अथवा पद्य में अपना वृत्तान्त लिखा जाना कथा है। धीर-प्रशान्त नायक की अन्य कवि द्वारा कोई गद्यमय रचना जैसे कादम्बरी, कोई पद्यमय रचना जैसे लीलावती कथा है और समस्त भाषाओं में कोई संस्कृत, कोई प्राकृत, कोई मागधी, शौरसेनी, पैशाची अथवा कोई अपभ्रंश भाषा में निबद्ध वृत्तांत कथा है।

किसी प्रवन्ध में प्रबोधनार्थं उदाहरणस्वरूप जो कथा आये वह उपाख्यान है, जैसे नलोपाख्यान। आख्यान अभिनय, पठन, गायन के रूप में ग्रन्थिक द्वारा कहा गया होता है—जैसे गोविन्दाख्यान। जहाँ अनेक प्रकार की चेष्टाओं द्वारा कार्य-अकार्य, उचित-अनुचित का निश्चय किया जाय और जिसके पात्र धूर्त, विट, कुट्टिनी, मयूर और मार्जारादि हों, वहाँ निदर्शन होता है, जैसे—पंचतन्त्र। जहाँ दो विवादों में एक की प्रधानता दिखायी जाय और जो अर्ध-प्राकृत में रची गई हो वह प्रवल्हिका है, जैसे—चेटक। प्रेत महाराष्ट्री भाषा में लिखी गई क्षुद्रकथा को मन्थल्लिका कहते हैं, जैसे—अनंगवती। जिसमें पुरोहित, अमात्य, तापसी आदि का प्रारब्धनिर्वाह में वर्णन हो वह भी मन्थल्लिका है। जिसमें वस्तु का पूर्व में प्रकाशन न होकर बाद में हो, वह मणिकुल्या है, जैसे—मत्स्यहसित। धर्म, अर्थ, कामादि पुरुषार्थों में से किसी एक पुरुषार्थ को उद्देश्य कर लिखी गई कथा जो अनेक वृत्तान्त, वर्णन प्रधान हो वह परिकथा कहलाती है, जैसे—शूद्रक। जिसका मुख्य इतिवृत्त रचना के मध्य या अन्त के समीप वर्णित हो, वह खण्डकथा है, जैसे—इन्दुमती। ऐसा इतिवृत्त जिसके अन्त में समस्त फलों की सिद्धि हो जाय वह सकलकथा है, जैसे—समरादित्य। प्रसिद्ध कथा के अन्तर्गत किसी एक पात्र के आश्रय से उपनिबंधित कथा उपकथा होती है। लम्भ चिह्न से अंकित, अद्भुत अर्थ वाली कथा बृहत्कथा कहलाती है, जैसे—नरवाहनदत्तचरितादि :

धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा॥ अ०८, सू०८॥

आख्यायिकावन्न स्वचरितव्यावर्णकोऽपि तु धीरशान्तो नायकः, तस्य तु वृत्तमन्येन कविना वा यत्र वर्ण्यते, या च काचिद् गद्यमयी यथा

कादम्बरी, काचित्पद्यमयी यथा लीलावती, या च सर्वभाषा काचित् संस्कृतेन काचित् प्राकृतेन काचिन्मागध्या काचिच्छूरसेन्या काचित् पिशाच्या काचिदपभ्रंशेन बध्यते सा कथा।

प्रबन्धमध्ये परबोधनार्थं नलाद्युपाख्यानमिवोपाख्यानमभिनयन् पठन् गायन् यदेको ग्रन्थिकः कथयति तद्गोविन्दवदाख्यानम्।

तिरश्चामतिरश्चां वा चेष्टाभिर्यत्र कार्यमकार्यं वा निश्चीयते तत्पञ्चतन्त्रादिवत्, धूर्तविटकुट्टनीमतमयूरमार्जारिकादिवच्च निदर्शनम्।

(पृ० ४६३)

प्रधानमधिकृत्य यत्र द्वयोर्विवादः सार्धप्राकृतरचिता चेटकादिवत् प्रवाह्लिका।

प्रेतमहाराष्ट्रभाषया क्षुद्रकथा गोरोचना-अनङ्गवत्यादिवन्मन्थल्लिका। यस्यां पुरोहितामात्यतापसादीनां प्रारब्धनिर्वाहे उपहासः सापि मन्थल्लिका।

यस्यां पूर्वं वस्तु न लक्ष्यते पश्चात्तु प्रकाश्यते सा मत्स्यहसितादिवन्मणिकुल्या।

एकं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकारवैचित्र्येणानन्तवृत्तान्तवर्णनप्रधाना शूद्रकादिवत् परिकथा।

(पृ० ४६४)

मध्यादुपान्ततो वा ग्रन्थान्तरप्रसिद्धमितिवृत्तं यस्यां वर्ण्यते सा इन्दुमत्यादिवत् खण्डकथा। समस्तफलान्तेतिवृत्तवर्णना समरादित्यादिवत् सकलकथा। एकतरचरिताश्रयेण प्रसिद्धकथान्तरोपनिबन्ध उपकथा। लम्भाङ्किताद्भुतार्था नरवाहनदत्तादिचरितवद् बृहत्कथा। एते च कथाप्रभेदा एवेति न पृथग्लक्षिताः॥

(पृ० ४६५)

उपाख्यानमिति। यदाह—

नलसावित्रीषोडशराजोपख्यानवत्प्रबन्धान्तः।
अन्यप्रबोधनार्थं यदुपाख्यातं ह्युपाख्यानम्॥

आख्यानमिति। तथा चाह—

आख्यानकसंज्ञां तल्लभते यद्यभिनयन् पठन् गायन्।
ग्रन्थिक एकः कथयति गोविन्दवदवहिते सदसि॥

निदर्शनमिति । तथा च—

निश्चीयते तिरश्चामतिरश्चां वापि यत्र चेष्टाभिः ।
कार्यमकार्यं वा तन्निदर्शनं पञ्चतन्त्रादिः ॥

(पृ० ४६३)

धूर्तविटकुट्टनीमतमयूरमार्जारिकादि यल्लोके ।
कार्याकार्यनिरूपणरूपमिह निदर्शनं तदपि ॥

प्रवह्लिकेति । तथा च—

यत्र द्वयोर्विवादः प्रधानमधिकृत्य जायते सदसि ।
सार्धप्राकृतरचिता प्रवह्लिका चेटकप्रभृतिः ॥

मन्थल्लिकेति । तथा च—

क्षुद्रकथा मन्थल्ली प्रेतमहाराष्ट्रभाषया भवति ।
गोरोचनेव कार्या सानङ्गवतीव वा कविभिः ॥

सापीति । तथा च—

यस्यामुपहासः स्यात्पुरोहितामात्यतापसादीनाम् ।
प्रारब्धनिर्वाहे सापि हि मन्थल्लिका भवति ॥

मणिकुल्येति । तथा च—

मणिकुल्यायां जलमिव न लक्ष्यते तत्र पूर्वतो वस्तु ।
पश्चात्प्रकाशते सा मणिकुल्या मत्स्यहसितादिः ॥

परिकथेति । तथा च—

पर्यायेण बहूनां यत्र प्रतियोगिनां कथाः कुशलैः ।
श्रूयन्ते शूद्रकवज्जिगीषुभिः परिकथा सा तु ॥

(पृ० ४६४)

खण्डकथेति । तथा च—

ग्रन्थांतरप्रसिद्धं यस्यामितिवृत्तमुच्यते विबुधैः ।
मध्यादुपान्ततो वा सा खण्डकथा यथेन्दुमती ॥

सकलकथेति । चरितमित्यर्थः ।

उपकथेति । तथा च—

यत्राश्रित्य कथान्तरमतिप्रसिद्धं निबध्यते कविभिः ।
चरितं विचित्रमन्यत्सोपकथा चित्रलेखादिः ॥

बृहत्कथेति । तथा च—

लम्भाङ्कितादद्भुतार्था पिशाचभाषामयी महाविषया ।
नरवाहनदत्तादेश्चरितमिव बृहत्कथा भवति ॥

(पृ० ४६५)

कौतूहल कवि ने लीलावईकहा को दिव्यमानुषी कथा कहा है। दिव्यमानुषी कथा पाठकों को आकर्षित करती है। अपनी कथा के सन्दर्भ में कवि कहता है कि उसकी पत्नी नें उससे कहा कि वह मुग्ध युवतियों के लिए प्राकृत भाषा में, जिसमें देशी शब्द भी हों, एक दिव्य-मानुषी कथा कहे :

एमेयमुद्ध-जुयई-मणोहरं पाययाए भासाए ।
पविरल-देसि-सुलक्खं कहसु कहं दिव्व-माणुसियं ॥
तं तह सोऊण पुणो भणियं उब्बिब-बाल-हरिणच्छि ।
जइ एवं ता सुव्वउ सुसंधि-बंधं कहा-वत्थुं ॥[1]

और कवि कौतूहल त्रस्त बालहरिणो के समान नेत्रवाली अपनी पत्नी के आग्रह को स्वीकार कर दिव्यमानुषी लीलावतीकथा की रचना कर देते हैं। उन्होंने आगे संस्कृत, प्राकृत और मिश्र भाषा में रची जाने वाली कथाओं का भी संदर्भ दिया है अर्थात् इसे उनके अनुसार भाषा के आधार पर कथाओं का भेद माना जा सकता है :

अण्णं सक्कय-पायय-संकिण्ण-विहा सुवण्ण-रइयाओ ।
सुव्वंति महा-कइ-पुंगवेहि विविहाउ सुकहाओ ॥[2]

अर्थात् संस्कृत, प्राकृत एवं मिश्र भाषा में सुन्दर शब्दावली में रचित महाकवियों की विविध कथाएँ सुनी जाती हैं।

मुख्यतः प्राकृत-अपभ्रंश का अधिकतम भाग जैन साहित्यान्तर्गत है। आगे जिन अपभ्रंश कथाकाव्यों के विषय में विशद विचार करेंगे वे भी उक्त साहित्य में से ही होंगे। डा० ए० एन० उपाध्ये ने जैन कथा-साहित्य को पाँच भागों में विभक्त किया है[3] :

---

१. लीलावईकहा, पृ० ११.
२. वही, पृ० १०.
३. बृहत्कथाकोश की प्रस्तावना, पृ० ३५.

१. प्रबन्ध काव्य के रूप में शलाका पुरुषों के चरित।
२. शलाका पुरुषों में से किसी एक का विस्तृत चरित।
३. रोमाण्टिक धर्मकथाएँ।
४. अर्ध-ऐतिहासिक प्रबन्ध कथाएं।
५. उपदेशप्रद कथाओं के संग्रह—कथाकोश।

डा० उपाध्ये ने यह वर्गीकरण समग्र जैन कथा-साहित्य को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत किया है किन्तु यही वर्गीकरण अपभ्रंश कथा-साहित्य पर भी पूर्णतः लागू हो सकता है। विशेष द्रष्टव्य यह है कि अपभ्रंश रचनाकारों ने मिश्रित अथवा मिश्रकथा को प्रधानता दी अथवा यों कहें कि अपभ्रंश कथाकाव्यों में मिश्र ढंग की कथाएं अधिक हैं। प्राकृत कथा-साहित्य में समराइच्चकहा को हरिभद्र ने धर्मकथा माना है परन्तु जब हम उन्हीं के बताए मिश्रकथा के लक्षणों की कसौटी पर इस कथा को कसते हैं तो यह मिश्रकथा ही ठहरती है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही दृष्टियों से मिश्रकथा की प्रशंसा की जा सकती है। इसका एक कारण यह है कि इस प्रकार की कथा में लेखक को पात्रों की अभिव्यक्तियों अथवा इसके मिस अपने अनुभवों को अभिव्यक्त करने का अवसर रहता है। अपभ्रंश कथाकाव्यों के अध्ययन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। अपभ्रंश की जिन रचनाओं को हमने कथाकाव्यों को कोटि में स्वीकार किया है उनके कथानकों को संक्षिप्त रूप में यहाँ प्रस्तुत करेंगे। इन कथानकों से जहाँ हम एक ओर (उनमें वर्णित विषयों के आधार पर) उनकी कथात्मकता से परिचित होंगे वहीं दूसरी ओर हमें हिन्दी प्रेमाख्यानकों पर उनके प्रभाव को बात को समीक्षात्मक दृष्टिकोण से विचार करने का अवसर भी मिलेगा।

लीलावईकहा

इस कथा[2] के रचनाकार कवि कोऊहल (कौतूहल) हैं। ग्रन्थ की रचना ई० सन् आठवीं शताब्दी के लगभग हुई।[3] कौतूहल ने अपने वंश

---

१. समराइच्चकहा, पृ० २.
२. डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा संपादित, सिंघी जैन ग्रं० बम्बई से १९४९ ई० में प्रकाशित.
३. डा० जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५२९.

का परिचय दिया है। इनके पितामह बहुलादित्य प्रकाण्ड पण्डित थे। अतः पाण्डित्य इन्हें विरासत में मिला। इस कथा को कवि ने 'दिव्य-मानुषी' कहा है।[1] अपनी पत्नी की विनती पर कवि ने 'मरहट्ठ-देसिभासा' में इसकी रचना की। मूलतः यह रचना अपभ्रंश-भाषा की नहीं है तथापि एक महत्त्वपूर्ण प्रेमकथा होने के कारण यहाँ इसका उल्लेख करना आवश्यक समझा गया है। दूसरी प्रमुख बात यह है कि इसे संस्कृत की कादम्बरी के टक्कर की रचना घोषित किया गया है। जो हो, प्राकृत-अपभ्रंश की दूरी में इसे एक कड़ी हो समझना चाहिए। इसका कथा-सारांश इस प्रकार है :

मंगलाचरणादि के बाद मूल विषय प्रारम्भ होता है। प्रतिष्ठान नामक एक रमणीक नगर था। वहाँ का राजा सातवाहन था। कथा का नायक राजा सातवाहन ही है। राजा विपुलाशय की अप्सरा रम्भा से कुवलयावलि नाम की पुत्री थी। गन्धर्वकुमार चित्रांगद से उसका प्रेम हो गया और उसने गन्धर्व-विवाह कर लिया। जब राजा विपुलाशय को इस बात का पता लगा तो उसने चित्रांगद को राक्षस होने का शाप दे दिया। वह भीषणानन नामक राक्षस बन गया। कुवलयावलि बहुत दुःखित होती है और आत्महत्या करने लगती है। परन्तु उसकी मां रम्भा उसे रोक देती है। रम्भा ने उसे सान्त्वना दी तथा यक्षराज नलकूबर के पास छोड़ दिया। इस यक्षराज की पत्नी एक विद्याधरी वसन्तश्री थी जिससे महानुमति नामक पुत्री हुई। महानुमति का कुवलयावलि से स्नेह बढ़ता गया और दोनों अच्छी सखियाँ बन गईं। एक बार दोनों सखियाँ विमान द्वारा मलयगिरि पर गईं। वहाँ सिद्धकुमारियों के साथ झूला झूलते हुए कुवलयावलि को आँखें सिद्धकुमार माधवानिल से मिल गईं और वह प्रेमाविद्ध हो गई। वहाँ से वह घर वापिस आई तो उसकी व्याकुलता बढ़ने लगी। कुवलयावलि सखी की दशा देखकर सिद्धकुमार का पता लगाने मलय पर्वत पर गई। वहाँ पहुँचने पर पता चला कि माधवानिल को उसका कोई शत्रु पाताललोक में ले गया है। कुवलयावलि अपनी सखी के पास लौट आती है और उसे धैर्य बंधाती है। दोनों सखियों ने अपनी इष्टसिद्धि के लिए भवानी-पूजन

---

१. लीलावईकहा, पृ० ११.

का निश्चय किया और वे गोदावरी नदी के किनारे भवानी की पूजा करने लगीं।

कथा की नायिका लीलावती सिंहलदेश की राजकुमारी थी। इसके पिता सिंहलराज शिलामेघ थे और माता शारदश्री वसन्तश्री की बहन थी। लीलावती ने राजा सातवाहन का चित्र देखा और वह मोहित हो गई। राजा सातवाहन को वह स्वप्न में देखती। उसने माता-पिता की आज्ञा ली और अपने प्रिय की खोज में निकल पड़ी। मार्ग में गोदावरी नदी पड़ी वहाँ उसका दल ठहर गया। वहीं उसकी मौसी वसन्तश्री की पुत्री महानुमति और उसकी सखी कुवलयावलि से भेंट हो गई। दो से तीन विरहिणियाँ हो गईं और एक साथ रहने लगीं।

राजा सातवाहन को साम्राज्य-विस्तार की इच्छा हुई। अतः वह सेना लेकर सिंहल की ओर चला। राजा के दूत ने सातवाहन को मंत्रणा दी कि सिंहलराज से शत्रुता नहीं बढ़ानी चाहिए। अतः सातवाहन ने विजयानन्द सेनापति को दूत बनाकर सिंहलराज के पास भेजा। वह रामेश्वर के मार्ग से सिंहल रवाना हुआ। विजयानन्द जिस नौका से जा रहा था वह टूट गई अतः उसे गोदावरी के तट पर रुक जाना पड़ा। यहाँ पर उसे नग्न पाशुपत के दर्शन हुए। उसे पता लगा कि सिंहलराज की पुत्री अपनी सखियों के साथ यहीं रहती है। विजयानन्द लौट आया और सातवाहन से आकर पूरा वृत्तान्त कहा। सातवाहन ने उससे विवाह करने की इच्छा व्यक्त की। सातवाहन सेनासहित उपस्थित हुआ। परन्तु लीलावती ने कहा कि जब तक महानुमति का प्रिय नहीं मिलेगा तब तक वह विवाह नहीं करेगी। राजा पाताललोक गया और माधवानिल को छुड़ा लाया। राजा ने अपनी राजधानी लौटकर भीषणानन राक्षस पर आक्रमण किया तो चोट खाते ही वह राजकुमार बन गया।

संयोगात् यक्षराज नलकूबर, विद्याधर हंस और शिलामेघ एक ही स्थान पर एकत्रित होते हैं। नलकूबर अपनी पुत्री महानुमति का उसके प्रिय सिद्धकुमार माधवानिल से, विद्याधर हंस अपनी कन्या कुवलयावलि का चित्रांगद से और सिंहलनरेश अपनी राजकुमारी लीलावती का राजा सातवाहन के साथ विवाह कर देते हैं।

पउमसिरीचरिउ

कवि धाहिल का लिखा हुआ पउमसिरीचरिउ[1] चार संधियों में समाप्त एक प्रेमकथा है। जैसा कि जैनों के अन्य काव्यों में भी धार्मिक उद्देश्य अधिक निहित रहता है, वैसा ही इसमें भी है। धाहिल ने स्वयं ही अपने को दिव्यदृष्टि कहा है—'धाहिलु दिव्वदिट्ठि कवि जंपइ'। इनका समय वि० ८वीं श० के बाद और बारहवीं शताब्दी के पूर्व माना गया है। कथा संक्षेप में इस प्रकार है :

भगवान् चन्द्रप्रभ एवं सरस्वती की स्तुति के बाद कवि कथा आरम्भ करता है। भरत क्षेत्र के मध्यदेश में बसन्तपुर नामक एक नगर था। वहां के राजा का नाम जितशत्रु था और लीलावती नामक उसकी रानी थी। उसी नगर में अतुल धनराशि का स्वामी धनसेन नामक एक श्रेष्ठी रहता था। धनश्री नामक उसकी दिव्यस्वरूपा एक कन्या और धनदत्त तथा धनावह नामक दो पुत्र थे। कन्या की शादी तो हो गई परन्तु दुर्भाग्य से वह विधवा हो गई। अपना जीवन बिताने के लिए वह अपने भाइयों के घर रहने लगी और भजन-पूजन करने के साथ घर की भी देखभाल करती थी।

एक दिन नगर में धर्मघोष नामक एक मुनिवर आये। उनके उपदेशों का धनश्री पर बहुत प्रभाव हुआ। धनश्री नित्य पूजन-दानादि कर्म करने लगी। चूंकि धन भाइयों का था अतः भाभियों को बुरा लगा और वे कभी-कभी धनश्री पर व्यंग्य करती थीं। धनश्री स्त्री थी अतः उसके मन में दूषित भाव आ गए और उसने भाइयों को भाभियों के विरुद्ध कर दिया। बाद में उसने उन दोनों भाई-भाभियों के भेद-भाव को मिटा दिया। इस प्रकार धनश्री ने अच्छे धर्मध्यान-पूर्वक मरणोपरान्त देवलोक पाया।

धनदत्त ने दूसरे जन्म में अयोध्या के राजा अशोकदत्त के यहाँ पुत्र-रूप में जन्म लिया। इसके भाई धनावह ने भी इसी राजा के यहां जन्म लिया। यहां धनदत्त का नाम समुद्रदत्त और धनावह का वृषभदत्त

---

१. एच० भायाणी तथा एम० मोदी द्वारा सम्पादित, भा० वि० भ० बम्बई, वि० सं० २००५ में प्रकाशित।

रखा गया। उधर धनश्री हस्तिनापुर के राजा इभ्यपति शंख और उनकी रानी शीलवतो की पद्मश्री नाम की पुत्री हुई। जैसे-जैसे यह बड़ी होती, गई इसके सौन्दर्य की कीर्ति चारों ओर फैलती गई। बसन्त माह का आगमन हुआ। पद्मश्री अपने अपूर्वश्री नामक उद्यान में गई। समुद्रदत्त भी वहाँ पहुँचा और दोनों की दृष्टियाँ मिल गईं। दोनों एक-दूसरे पर मुग्ध हो गए। दोनों की प्रेमविह्वलता विवाहोपरान्त समाप्त हुई।

समुद्रदत्त अपनी पत्नी पद्मश्री के साथ आनन्दमय दिवस बिताने लगा। आठ वर्षों के बाद वराहदत्त नामक पत्रवाहक ने समुद्रदत्त की माता की ओर से पत्र दिया। माता अपने पुत्र को देखने के लिए व्याकुल थी। उस समय पद्मश्री अपने पिता के घर थी। अतः समुद्रदत्त ने दूत को वापिस भेज दिया और स्वयं पत्नी को लेने हस्तिनापुर गया। पूर्वजन्म के दोष से केलिप्रिय पिशाच ने पद्मश्री और समुद्रदत्त के प्रेम में अन्तर डाल दिया। समुद्रदत्त को यह विश्वास हो गया कि पद्मश्री परपुरुष में आसक्त है। समुद्रदत्त को पद्मश्री सब भाँति विश्वास दिलाती है कि सब झूठ है। फिर भी समुद्रदत्त विश्वास नहीं करता।

पद्मश्री हतप्रभ हो जाती है और विलाप करती है परन्तु समुद्रदत्त उसे छोड़कर घर चल देता है। समुद्रदत्त कौशलपुरी के एक व्यापारी की पुत्री कांतिमती से विवाह कर लेता है,। कांतिमती की एक कीर्तिमती बहिन थी जिसका विवाह समुद्रदत्त के भाई उदधिदत्त से होता है। पद्मश्री के पिता को समुद्रदत्त के विवाह का पता चला तो वे पुत्री के जन्म से दुःखी हुए। पद्मश्री को विमलशीला नामक साध्वी ने धर्मोपदेश दिया। उसके प्रभाव से पद्मश्री व्रतादि करने लगी। बाद में वे दोनों कांतिमती और कीर्तिमती के घर पहुँचीं। वहाँ पद्मश्री पर चोरी का कलंक लगा। फिर भी कठिन तपश्चर्या करके पद्मश्री ने मोक्षलाभ लिया।

भविसयत्तकहा

दशमी शताब्दी के कवि धनपाल धक्कड़ ने जैनधर्म के श्रुतपंचमी व्रत के माहात्म्य-निर्देश के लिए इस कथा-काव्य[1] की रचना की। प्रारम्भ

---

१. सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे द्वारा संपादित, गा० ओ० सिरीज में १९२३ में प्रकाशित.

में कवि जिन-स्तुति एवं सज्जन-दुर्जनप्रशंसा करता है। तत्पश्चात् मूल विषय आरम्भ होता है। कवि ने अपने काव्य को दो भागों में विभक्त किया है—'विहि खंडहिं वावीसहिं संधिहिं परिचिंतिय नियहेउ निबंधिहि।'[1] परन्तु हर्मन जेकोबी ने कथा को तीन भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में धनपाल नामक एक व्यापारी के पुत्र भविष्यदत्त के भाग्य का वर्णन है। प्रारम्भ में भविष्यदत्त को उसका सौतेला भाई धोखा देता है अतः भविष्यदत्त को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बाद में वह अतुल धनराशि पाता है। द्वितीय भाग में कुरुराज और तक्षशिलाराज में युद्ध वर्णित है। भविष्यदत्त की इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसको विजय के फलस्वरूप कुरुराज्य का अर्द्धभाग प्राप्त होता है। तृतीय भाग में भविष्यदत्त एवं उसके साथियों के पूर्वजन्म तथा उत्तर-जन्मों का विवरण है। कथा संक्षेप में इस प्रकार है :

गजपुर नामक समृद्ध नगर में एक व्यापारी था जिसका नाम धनपाल था। उसकी कमलश्री नामक पत्नी थीं जो मन को हरनेवाली और अरविन्द के समान मुखवाली थी। किसी पुत्र के न होने से दोनों चिन्तित थे। कमलश्री एक बार मुनि श्रेष्ठ के पास गई और पुत्र न होने की बातें कहीं। मुनि ने पुत्र होने का आशीर्वाद दिया। समयानुसार मुनि का आशीर्वाद फलित हुआ। विलक्षण प्रतिभा के लक्षणों से युक्त पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम भविष्यदत्त रखा गया। धनपाल सरूपा नामक सुन्दरी से अपना दूसरा विवाह कर लेता है और कमलश्री तथा भविष्यदत्त को भूलने लगता है। सरूपा से बंधुदत्त नामक पुत्र उत्पन्न होता है। बंधुदत्त का लालन-पालन होता है और वह बड़ा हो जाता है। बंधुदत्त व्यापार करने के लिए देशान्तर की तैयारी कर लेता है। वह अन्य ५०० व्यापारियों के साथ कंचनपुर की यात्रा करता है। बंधुदत्त को देशान्तर जाते हुए देखकर भविष्यदत्त ने उसके साथ जाने का कमलश्री से आग्रह किया। कमलश्री के बहुत मना करने पर भी भविष्यदत्त ने बंधुदत्त का विश्वास किया और उसके साथ हो लिया। यात्रा पर चलने के पूर्व कमलश्री ने अपने पुत्र को सदाचार का उपदेश दिया और सरूपा ने अपने पुत्र बंधुदत्त से कहा कि वह भविष्यदत्त को समुद्र

---

१. भविसयत्तकहा, पृ० १४९.

में डाल दे। नौकाओं से यात्रा प्रारम्भ हुई। कुछ दिन बाद अचानक समुद्र में तूफान आ गया और किसी प्रकार ये लोग तिलक द्वीप के किनारे पहुँच गए। भविष्यदत्त को बंधुदत्त ने धोखे से यहीं छोड़ दिया और स्वयं आगे चल पड़ा।

भविष्यदत्त परेशान होता हुआ एक श्रेष्ठ नगरी में पहुँचा परन्तु वह जनशून्य थी। वहाँ उसने एक अतीव सुन्दरी कन्या को देखा। एक राक्षस ने आकर दोनों का परिणय कराया। बारह वर्ष तक आनन्दपूर्वक वह उस नगरी में रहा। उसके बाद अपार धन-सम्पत्ति के साथ वे समुद्र के किनारे पर पहुँचे और किसी जहाज की खोज में थे। एकाएक बंधुदत्त व्यापार में असफल लौटता हुआ वहाँ आ पहुँचा। उसने भविष्यदत्त से अपने पूर्व कृत्य के लिए क्षमा याचना की। भविष्यदत्त ने सब सामान जहाज पर लाद दिया। अपनी पत्नी को भी बैठा दिया। स्वयं जहाज में बैठने से पूर्व जिनमंदिर में दर्शन करने गया। इसी बीच बंधुदत्त ने जहाज चलवा दिया। बंधुदत्त ने घर आकर भविष्यदत्त की पत्नी को अपनी पत्नी बताया और विवाह की तिथि आदि निश्चित कर ली। भविष्यदत्त उधर जिन भगवान् का पूजन करने लगता है। इधर भविष्यदत्त की माँ श्रुतपंचमी का व्रत रखती है। इन दोनों के धर्मप्रभाव से एक देव भविष्यदत्त को घर पहुँचा देता है। भविष्यदत्त ने घर आकर पूरा भेद बतलाया और वहाँ के राजा से न्याय की माँग की। बंधुदत्त दोषी ठहरता है अतः उसे दंड मिलता है और भविष्यदत्त को उसकी पत्नी वापिस मिल जाती है। इसके साथ ही राजा भविष्यदत्त को अपना उत्तराधिकारी बनाकर अपनी पुत्री सुमित्रा का विवाह करने को कहता है।

इतने में गजपुर के राजा के पास पोदनपुर के राजा का एक संदेश आता है। संदेश में वह सुमित्रा की माँग करता है। राजा के इस अपमान से युद्ध आवश्यक हो जाता है। युद्ध में भविष्यदत्त प्रमुख भाग लेता है और विजयी होकर सुमित्रा से परिणय करता है। भविष्यदत्त गजपुर का युवराज बनता है और सुखपूर्वक रहने लगता है।

तत्पश्चात् भविष्यदत्त की प्रथम पत्नी की अपनी मातृभूमि जाने की

इच्छा बलवती होती है। अतः भविष्यदत्त अपने माता-पिता, सुमित्रा आदि को लेकर मैनाक द्वीप की यात्रा पर निकल पड़ता है। मैनाक द्वीप पर उन्हें एक जैन मुनि के दर्शन होते हैं। वे उन्हें धर्मोपदेश देते हैं। वहाँ कुछ दिन रहने के पश्चात् वे सब अपने घर वापिस आ जाते हैं। एक बार मुनि विमलबुद्धि वहाँ आते हैं। भविष्यदत्त उनके दर्शनों को जाता है तो मुनि ने धर्मोपदेश के साथ उसके पूर्वभव की कथा सुनाई। भविष्यदत्त को वैराग्य हो जाता है और वह अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर स्वयं जंगल चला जाता है। उसकी पत्नियाँ एवं माता भी उसी के साथ तपस्या करती हैं। अन्त में समाधिमरण होता है और उच्चपद प्राप्त करके मोक्ष हो जाता है। कथा के अन्त में श्रुतपंचमी का माहात्म्य बताया गया है।

जसहरचरिउ

इस चरितकाव्य[1] के रचयिता पुष्पदन्त १०वीं शताब्दी के कवि माने जाते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ चार सन्धियों में समाप्त है। कथा का अंतिम उद्देश्य अहिंसा के माहात्म्य को सिद्ध करना है। ग्रन्थ की कथा संक्षेप में इस प्रकार है :

अन्य चरितकाव्यों के समान मंगलाचरण, जिनस्तुति के बाद कथा प्रारम्भ होती है। यौधेय नामक एक रमणीक देश था जिसकी राजधानी राजपुर थी। इसका मारिदत्त नामक राजा था जो अपना अधिकांश समय रानियों के साथ विलास में व्यतीत करता था। एक दिन भैरवानन्द नामक कापालिकाचार्य यात्रा करते हुए उस राजधानी में आये। वे नगरी में अपने धर्म का प्रचार करते थे तथा उन्होंने घोषणा की कि उन्हें दैवीय शक्ति प्राप्त है। वे सूर्य-चन्द्र को भी अपनी आज्ञानुसार चला सकते हैं, यह खबर राजा मारिदत्त को मिली। राजा ने ससम्मान भैरवानन्द को दरबार में आमन्त्रित किया। भैरवानन्द से राजा ने वायुगमन की शक्ति प्राप्त करने की प्रार्थना की। भैरवानन्द ने राजा से कहा कि यदि वह मनुष्यसहित सभी प्राणियों के जीवित जोड़ों की बलि देवी चंडमारी को दे तो उसे दिव्यशक्ति अवश्य प्राप्त होगी। राजा ने अपने राज्याधि-

---

८२. पी० एल० वैद्य द्वारा संपादित, कारंजा जैन सिरीज में १९३१ में प्रकाशित.

कारियों को प्राणियों के जोड़ों का प्रबन्ध करने का आदेश दे दिया। अधिकारियों ने सभी प्राणियों के जोड़ों का प्रबन्ध कर दिया परन्तु मानव-जोड़े का प्रबन्ध नहीं हो सका।

इसी अवसर पर सुदत्त नामक जैन मुनि अपने अभयरुचि एवं अभयमति नाम के शिष्यों के साथ नगर के समीप एक बगीचे में पधारे। क्षुल्लकावस्था के शिष्य अभयरुचि और अभयमति ने अपने गुरु से नगर में भिक्षा के लिए जाने की आज्ञा ली। वे दोनों नगर में भ्रमण कर ही रहे थे कि राजा के कर्मचारियों द्वारा पकड़ लिये गये और देवी चण्डमारी के मन्दिर में बलि हेतु ले जाये गये। क्षुल्लकों ने गम्भीरता से राजा को आशीर्वाद दिया। उनकी आवाज ने राजा को आकर्षित एवं प्रभावित किया। राजा ने उनसे पूछा कि क्या वे किसी राजपरिवार से आये हैं और क्यों इतनी कम अवस्था में कठोर व्रत लिया है? इस पर क्षुल्लक बालक ने कहा—इस भारतवर्ष में अवन्ती नामक देश की उज्जैनी राजधानी है। वहाँ यशोबन्धु नामक राजा राज्य करता था। उसके पुत्र यशोर्ह ने राज्य संभाला और राजा अजितनाग की सुन्दर कन्या चन्द्रमती से विवाह किया। मेरा नाम यशोधर था और मैं इन्हीं दोनों का पुत्र था। सभी कलाओं में दक्षता प्राप्त करने के साथ मेरा विवाह क्रथकेशिका की राजकुमारी एवं अन्य राजकुमारियों के साथ हो गया। पिता यशोर्ह ने अपने बालों को श्वेत होते देखा तो उन्हें वैराग्य हो गया और उन्होंने यशोधर को राज्य सौंप दिया। यशोधर ने पृथ्वी पर अपना सुदृढ़ राज्य स्थापित किया और सुख से रहने लगा।

यशोधर अत्यधिक भोग-विलासी जीवन व्यतीत करने लगा। एक दिन पूर्णिमा की अर्धरात्रि में यशोधर अपनी रानी अमृतमती के पास गया। जब यशोधर को नींद आ गई तो रानी अमृतमती उसकी भुज-पाश को अलग करके अपने प्रेमी के पास गई जो कि एक कुरूप व्यक्ति था। राजा की निद्रा तत्काल भंग हो गई थी अतः हाथ में तलवार लेकर रानी का पीछा किया। रानी उस कुरूप व्यक्ति के पैरों पर गिरकर उसे प्रसन्न कर रही थी परन्तु वह दुत्कार रहा था कि इतना विलम्ब क्यों हुआ? इतना कहकर उसने रानी को एक ठोकर लगाई। रानी ने तब भी उसे अपनी सफाई दी कि वह अपने राजा पति की मृत्यु के लिए देवी की पूजा कर रही थी। इस सबको राजा ने देखा तो क्रोध से काँप

उठा और तलवार से दोनों को मारने का निश्चय किया। परन्तु उसने निश्चय बदल दिया और लौट आया। रानी भी भोर से पूर्व अपने बिस्तर पर पहुँच गई।

यशोधर को इस घटना से धक्का लगा और उसने राज्य छोड़ने का विचार बना लिया। दूसरे दिन उसने अपनी मां से कहा कि उसने एक बुरा स्वप्न देखा है अतः उसे साधु हो जाना चाहिए अन्यथा वह मर जाएगा। माता ने उसे बुरे स्वप्न का प्रभाव समाप्त करने के लिए देवी को एक जानवर की बलि देने की सलाह दी। राजा ने इसे उचित नहीं माना। अतः एक आटे का मुर्गा बनाकर देवी को बलि चढ़ाई गई और उसे सबने खाया। लेकिन राजा घर लौटा और उसने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर जंगल में जाने का निश्चय किया। यह सुनकर रानी ने राजा से कहा कि वह एक दावत का प्रबन्ध कर रही है, तत्पश्चात् राजा के साथ वे भी चलेंगी। राजा ने स्वीकार कर लिया। रानी ने राजा तथा उसकी माता को विष दे दिया। विष के प्रभाव से दोनों की मृत्यु हो गई। यशोधर के पुत्र जसवई ने जब यह देखा तो उनका संस्कार उत्तम रीति से किया जिससे कि उन्हें सुगति मिले। परन्तु इस जन्म में उन्होंने आटे के मुर्गे की बलि दी थी अतः दूसरे जन्म में यशोधर को मयूर और चन्द्रमती को जंगल के कुत्ते का जन्म मिला। मयूर को एक जंगली ने पकड़कर राजा जसवई को भेंट किया। मयूर ने अपनी पूर्वभव की रानी को आनन्द की जिन्दगी बिताते देखा तो उस पर और उसके प्रेमी पर आक्रमण कर दिया। फलस्वरूप रानी ने मयूर की टांग तोड़ दी। उसकी लड़की मयूर का पीछा करती। पूर्वभव की चन्द्रमती, जिसे कुत्ता का जन्म मिला था, आई और उसे मार डाला। राजा जसवई ने जब सुना तो उन्होंने कुत्ते को मार डाला। इस प्रकार अगले भव में यशोधर को नकुल और चन्द्रमती को सर्प का जन्म मिला। जंगल में नकुल ने सर्प को और नकुल को सुअर ने मार डाला।

फलतः अगले भव में यशोधर को क्षिप्रा नदी में मछली और माता चन्द्रमती को मगरमच्छ का जन्म मिला। मगर ने मछली को पकड़ना चाहा ही था कि महल की राजकुमारी जलक्रीड़ा के लिए वहाँ आई और मगर द्वारा पकड़ी गई। मछली मगर से तो बच गई परन्तु जाल द्वारा मगर और मछली दोनों पकड़े गए। मगर मार डाला गया और मछली

को भूनकर जसवई ने ब्राह्मणों को खिलाया। अगले जन्म में चन्द्रमती बकरी और यशोधर बकरा बना। इसके बाद वे भैंस, मुर्गा-मुर्गी के जन्मों में भी उत्पन्न हुए। अन्त में राजा द्वारा मारे जाने पर उसके पुत्र-पुत्री के जोड़े के रूप में पैदा हुए। पुत्र का नाम अभयरुचि और पुत्री का नाम अभयमति हुआ। एक बार राजा जसवई ५०० कुत्तों के साथ जंगल में शिकार खेलने गया। वहाँ उसने एक जैन मुनि सुदत्त को देखा तथा उनके ऊपर कुत्तों को छोड़ दिया। परन्तु कुत्ते अपनी गर्दन झुकाकर खड़े हो गए। अतः जसहर ने अपनी तलवार से मुनि को मारने का विचार किया। उसके एक व्यापारी मित्र ने उसे निरपराध मुनि को मारने से रोका। जसवई ने अपने पापों के प्रायश्चित्तस्वरूप मुनि के सामने अपनी गर्दन काटने का विचार किया। मुनि राजा के अन्तर्भावों को समझ गए और उसे इस प्रकार के कार्यों से विरत रहने को कहा। राजा को यह देखकर कि मुनि दूसरे के अन्तःकरण की बात जानते हैं—आश्चर्य हुआ। राजा ने अपने माता-पिता और दादी के जन्मों के विषय में पूछा। इस पर मुनि ने राजा को उनके विभिन्न जन्मों की कहानी सुनाते हुए कहा कि उसके पिता और दादी उसके पुत्र अभयरुचि और पुत्री अभयमति के रूप में पैदा हुए हैं। उसकी मां पाँचवे नरक में है।

मुनि से सब बातें जानकर राजा जसवई ने महल छोड़कर साधु बनने का निश्चय किया। अभयरुचि और अभयमति ने भी साधु बनना चाहा परन्तु अवस्था में छोटे होने के कारण सुदत्त मुनि ने उन्हें क्षुल्लक ही रहने को कहा। इस प्रकार अभयरुचि ने राजा मारिदत्त को पूरी बात समाप्त करते हुए कहा कि हम क्षुल्लक नगर में घूम ही रहे थे कि आपके आदमियों द्वारा पकड़ लिये गये और यहाँ लाये गये।

इस वृत्तान्त को सुनने के बाद राजा मारिदत्त और देवी चन्द्रमारी ने क्षुल्लकों से प्रणिपातपूर्वक जैनधर्म की दीक्षा देनें का आग्रह किया। अभयरुचि ने कहा कि दीक्षा हमारे गुरु ही दे सकते हैं। इसी अवसर पर सुदत्त भी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने मारिदत्त एवं दूसरों के पूर्वभवों की बातें बताईं। अन्त में मारिदत्त एवं भैरवानन्द को भी जैनधर्म में दीक्षित किया। इस प्रकार अभयरुचि ने मुनि की और अभयमति ने साध्वी की पदवी प्राप्त की तथा पवित्र जीवन बिताते हुए ईशान स्वर्ग में देव हुए।

णायकुमारचरिउ

यह काव्य[1] भी जसहरचरिउ के रचयिता कविवर पुष्पदन्त द्वारा ९ सन्धियों में रचित है। यह काव्य कथा की दृष्टि से मूलतः प्रेमाख्यान ही है। इसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार है :

इस ग्रन्थ का आरम्भ वाग्देवी सरस्वती की वंदना से होता है। ग्रन्थकार ने लिखा है कि मान्यखेट के राजा कृष्णराज वल्लभराज के मन्त्री नन्त्र की प्रेरणा से उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की। कवि ने मगध देश और राजगृह तथा उसके राजा का सुन्दर वर्णन किया है। एक बार तीर्थंकर महावीर राजगृह पधारे। वहाँ के राजा श्रेणिक भगवान् के दर्शनार्थ उनके समीप पहुँचे। श्रेणिक ने महावीर से श्रीपंचमीव्रत का माहात्म्य पूछा। भगवान् के गणधर गौतम ने राजा के समाधानार्थ एक कथा सुनाई।

प्राचीनकाल में मगध देश में कनकपुर नाम का एक नगर था। वहाँ राजा जयन्धर अपनी रानी विशालनेत्रा के साथ राज्य करता था। रानी को श्रीधर नाम का एक पुत्र था। एक बार वासव नाम का व्यापारी अपनी व्यापार-यात्रा से लौटा और राजा को अनेक उपहारों के साथ एक सुन्दरी का चित्र भेंट किया। राजा ने व्यापारी से चित्र के विषय में पूछा तो पता चला कि वह चित्र सौराष्ट्र में गिरिनगर के राजा को पुत्री पृथ्वी-देवी का है। राजा चित्र पर मुग्ध हो जाता है। व्यापारी ने बताया कि गिरिनगर का राजा इस राजकुमारी का विवाह आपसे करना चाहता है तो राजा उस व्यापारी और अपने मन्त्री को विविध उपहारों के साथ गिरिनगर भेजते हैं। वे राजकुमारी को कनकपुर लाते हैं और राजसी ठाट-बाट के साथ विवाह होता है।

एक दिन राजा अपनो रानियों के साथ आनन्दोद्यान में गया। दोनों रानियों में से नवीन रानी पृथ्वीदेवी राजा की पहली रानी को देख चौंक उठी। उसे ईर्ष्या हो गई और वह उद्यान में न ठहर जिनमंदिर में चली गई। वहाँ उसने जिनेन्द्रदेव की पूजा की तथा मुनि पिहिताश्रव

---

१. डा० हीरालाल जैन द्वारा संपादित, जैन सिरीज, कारंजा से १९३३ में प्रकाशित.

से पुत्रोत्पत्ति का आशीर्वाद पाया। अतः प्रसन्नतापूर्वक वह महल में वापिस आ गई। उद्यान में जलक्रीड़ा आदि के उपरान्त राजा ने पृथ्वीदेवी को उद्यान में खोजा। राजकर्मचारी द्वारा जानकर जिनमन्दिर और महल में भी खोजा। रानी पुत्र का आशीर्वाद पाकर अपनी ईर्ष्या को भूल गई और राजा के आते ही मन्दिर की घटना बताई। राजा पुनः रानी को लेकर जिनमन्दिर में मुनिराज के समीप गए। मुनि ने भावी पुत्र के विषय में और भी भविष्यवाणी की कि पुत्र उत्पन्न होगा। जिनमंदिर का लौहद्वार बन्द रहेगा परन्तु बच्चे के पैर के स्पर्श से खुल जाएगा। फिर बच्चा कुएँ में गिर जाएगा, उसकी रक्षा एक नाग करेगा। समय पर पुत्र उत्पन्न हुआ। बच्चे के बड़े होने पर वे जिनमंदिर गए परन्तु उसके दरवाजे बन्द थे अतः बड़ी निराशा हुई। परन्तु बच्चे का पैर लगते ही दरवाजे खुल गए। राजा जिनेन्द्र-पूजन में व्यस्त थे। परिचारिकाएँ बालक को उद्यान में ले जाती हैं और एक परिचारिका की गोद से वह कुएँ में गिर जाता है। पता चलते ही माँ भी कुएँ में कूद पड़ती है। नाग रक्षा करता है अतः उसका नाम नागकुमार रखा जाता है। बड़े होने पर नागकुमार को नाग अपने घर ले जाता है।

नाग ने राजकुमार को राजनीति के साथ विविध कलाओं और विज्ञान की शिक्षा दी। अपनी शिक्षा के बाद राजकुमार अपने पिता के घर आ गए। एक बार पंचसुगन्धिनी महल में एक दिव्य बांसुरीवादक की खोज में पहुंची और उसने कहा कि वह उसी पुरुष के साथ अपनी मनोहारी एवं किन्नरी कन्याओं का विवाह करेगी। नागकुमार कला में श्रेष्ठ उतरता है और दोनों कन्याओं का वरण करता है। एक दिन नागकुमार अपनी पत्नियों के साथ जल-क्रीड़ा के लिए गया। पीछे से उसकी माँ आभूषण और कपड़े देने के लिए गई। विशालनेत्रा को अवसर मिल गया और उसने राजा के कान भर दिये कि पृथ्वीदेवी अपने प्रेमी से मिलने गई है। राजा ने पीछा किया परन्तु विशालनेत्रा झूठी प्रमाणित हुई। अतः उसे राजा ने फटकारा। राजा को सपत्नियों की ईर्ष्या से भय हो गया कि नागकुमार का जीवन संकट में न पड़ जाए। अतः इस ध्येय से राजा ने पृथ्वीदेवी को कहा कि वह अपने पुत्र को बाहर भ्रमण पर जाने दे। रानी ने इसे अपना अपमान समझकर अपने पुत्र से कहा कि एक हाथी पर बैठकर वह राजधानी का भ्रमण करे। राजा को यह बात बहुत

बुरी लगी और उसने रानी से उसके आभूषण लेकर दंडित किया। नागकुमार को जब यह पता चला तो वह द्यूतभवन गया और वहाँ से बहुत से रत्नाभूषण जीतकर लाया और अपनी माँ को दिये।

दूसरे दिन राजा ने उस भवन में अनेक आभूषणों को नहीं पाया। जब उसे पता चला कि राजकुमार जीतकर ले गए तो वह बहुत प्रभावित हुआ। राजा ने राजकुमार को अपने साथ जुआ खेलने को आमन्त्रित किया। राजा अपना सब कुछ हार गया परन्तु राजकुमार ने अपनी माँ के आभूषणों के अतिरिक्त सब वापिस कर दिया।

इसके बाद एक दिन राजकुमार को एक उद्धत घोड़ा दिया जाता है जिसे राजकुमार ठीक कर लेता है। नागकुमार की शक्ति को देखकर उसका सौतेला भाई श्रीधर उससे जलने लगता है। वह सोचता है कि नाग के रहते राज्य उसे नहीं मिल सकता। अतः वह उसे मरवाना चाहता है। जब राजा को यह पता चलता है तो उसे बहुत धक्का लगता है और वह नागकुमार को अलग भवन में रहने की व्यवस्था कर देता है। एक दिन नगर में जंगली हाथी ने आकर आतंक फैला दिया। श्रीधर हाथी को मारने के प्रयास में पूर्णतः विफल हुआ। राजा स्वयं हाथी को मारने चला तो रानियों को घबराहट होने लगी। अंत में मल्लयुद्ध में प्रवीण नागकुमार ने हाथी को इस प्रकार उठा लिया जैसे कि कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठा लिया था। सभी लोग आश्चर्यचकित हो गए।

इसी समय उत्तरी मथुरा में जयवर्मा अपनी रानी जयावती के साथ राज्य करता था। उसके व्याल और महाव्याल नामक दो ज्ञानवान् पुत्र थे। उनमें से एक शिव के समान त्रिनेत्र था और दूसरा अद्वितीय सुन्दर था। एक बार राजधानी में एक साधु आया जिससे राजा ने अपने पुत्रों के भविष्य के विषय में प्रश्न किये। कुछ समय बाद राजा ने अपना राज्य पुत्रों को सौंप दिया और स्वयं साधु हो गया। दोनों भाई राज्यसुख का आनन्द ले रहे थे। इसी बीच पाटलिपुत्र के राजा श्रीवर्मा की पुत्री की सुन्दरता की ख्याति दोनों भाइयों ने सुनी। दोनों भाइयों ने अपना राज्य मन्त्री के पुत्र दूर्वाकन को सौंप दिया और स्वयं पाटलिपुत्र चले गए। वहाँ गणिकासुन्दरी ने छोटे भाई और सुरसुन्दरी ने बड़े भाई से

विवाह कर लिया। कुछ दिन बाद पाटलिपुत्र को गौड़ देश के अरिदमन ने घेर लिया। ये दोनों भाई भी वहीं थे। दोनों राजकुमारियों ने पिता और अपने भय की बात राजकुमारों को बताई। राजकुमार राजा की सहायता के लिए तैयार हो गए। घमासान युद्ध हुआ और शत्रु की पराजय हुई। व्याल अपने छोटे भाई को छोड़कर कनकपुर आ गया जहाँ कि नागक की दृष्टि से उसका तीसरा नेत्र नष्ट हो गया था।

इसी समय श्रीधर ने नागकुमार को मारने का अन्तिम प्रयत्न किया। श्रीधर ने जिन आदमियों को मारने के लिए नियुक्त किया था वे नागकुमार के निवासस्थान में जिस द्वार से घुसे उसकी निगरानी व्याल कर रहा था। सभी शत्रु मार डाले गए। नागकुमार बाहर निकलकर आया तो उसे नयनधर मन्त्री मिला जिसने उसके पिता का संन्देश दिया। पिता ने सन्देश भेजा था कि यद्यपि वह सम्राट् होने वाला है परन्तु कुछ समय के लिए देश छोड़ दे और बुलाने पर आ जाए। राजकुमार ने पिता की आज्ञा मानकर अपनी सेनाशक्ति के साथ मथुरा की ओर प्रस्थान किया।

नागकुमार ने मथुरा पहुँचकर अपनी सेना को शहर से बाहर ही रोक दिया और स्वयं शहर देखने गया। वहाँ उसे पता चला कि वहाँ के राजा ने कान्यकुब्ज के राजा की पुत्री शीलवती को, जिसका कि विवाह सिंहपुर के राजा हरिवर्मा से होने जा रहा था, जबरदस्ती भगाकर कैद कर लिया है। नागकुमार का दुर्वचन और उसके सैनिकों से युद्ध हुआ। इसी बीच व्याल आ पहुँचा। दुर्वचन ने अपने राजा को पहचान लिया और स्वयं को छोड़ने की प्रार्थना की। नागकुमार ने उसे यह कहकर छोड़ दिया कि कैद की हुई राजकुमारी को अपनी बहिन की तरह उसके पिता के यहाँ पहुँचा दो।

एक दिन नागकुमार ने देखा कि उसके मार्ग पर ५०० वाद्यकलाकार चले आ रहे हैं। उनमें से मुख्य राजा जालन्धर से ज्ञात हुआ कि उन्हें कश्मीर के राजा नन्द की पुत्री त्रिभुवनरति ने वाद्य में हरा दिया है। उस राजकुमारी की प्रतिज्ञा है कि जो उसे कला में पराजित करेगा वह उसी का वरण करेगी। नागकुमार व्याल के साथ कश्मीर गया। वहाँ नागकुमार को देखते ही राजकुमारी मोहित हो गई। बाद में नागकुमार से सभी तरह संतुष्ट होकर दोनों का विवाह हुआ।

एक दिन एक व्यापारी ने, जो अपनी यात्रा से वापिस आया था, नागकुमार से कहा कि रम्यक जंगल में तीन चोटी वाला एक पर्वत है। उसके तल में एक जिनमंदिर था जिसके लोहे के बन्द दरवाजे इन्द्र के वज्र से भी नहीं खुले। नागकुमार यह सुनकर सदल वहाँ पहुँचा और उसके हाथ के स्पर्शमात्र से मन्दिर के कपाट खुल गए। मन्दिर में चन्द्रप्रभु तीर्थंकर की प्रतिमा थी। उसने वहाँ पूजन किया। इतने में संवर ने आकर बताया कि उसकी पत्नी को भीमासुर कालगुहा में उठाकर ले गया। नागकुमार व्याल के साथ पाताल में गया। वहाँ उसने दानवकुमारी, जो अतीव सुन्दरी थी, को देखा। द्वारपाल ने उन्हें अन्दर प्रविष्ट नहीं होने दिया अतः वे संसद-भवन की ओर आए, जहाँ असुर ने आदर के साथ उनका स्वागत किया और जवाहरात तथा रत्न भेंट किये। संवर की पत्नी ने उनका विरोध किया ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् नागकुमार उसी जंगल की कंचनगुहा में प्रविष्ट हुआ। इसका मार्ग संवर ने बताया था। वहाँ उसकी भेंट देवी सुदर्शना से हुई। सुदर्शना ने नागकुमार का स्वागत किया और अपनी समस्त विद्याओं को उसे आग्रहपूर्वक प्रदान किया। नागकुमार ने विद्याओं की प्राप्ति की कथा जानकर विद्याएँ स्वीकार कर लीं। परन्तु देवी से कहा कि अभी सभी विद्याएँ वह अपने पास रखे और आवश्यकता होने पर उसे दे दे। इसके बाद देवी सुदर्शना की सलाह से नागकुमार एक अन्य कालवेतालगुहा में घुसा और वहाँ जितशत्रु की पूर्ण सम्पत्ति को प्राप्त कर लिया। तदनन्तर वह 'दैत्य-वृक्ष-छिद्र' के पास गया। वहाँ लकड़ी के राक्षस को ठोकर मारी और वहाँ जितशत्रु का पुराना धनुष देखा। बाहर आने पर वह जिनमन्दिर गया तथा वहाँ से अपने निवासस्थान पर आया।

तदनन्तर नागकुमार संवर के मार्गनिर्देशन में जंगल के बाहर आ गया। गिरिशिखर का वनराजा राजकुमार के समीप आया और उसने बताया कि एक साधु के आदेशानुसार वह अपनी कन्या लक्ष्मीमती का विवाह उसके साथ करना चाहता है। अतः वह वनराजा के घर गया और विवाह किया। एक दिन नागकुमार ने एक साधु से प्रश्न किया कि वनराजा कोई जंगल का आदमी है अथवा राजा? इस पर साधु ने वनराजा की कहानी सुनाई। पुण्ड्रवर्धन नामक नगर में अपराजित नाम का सूर्यवंशी राजा था। उसके सत्यवती और वसुन्धरा दो रानियाँ थीं।

अतिबल और भीमबल दो पुत्र थे। राजा के वृद्ध होने पर भीमबल गद्दी पर बैठा और अतिबल को देशनिकाला दे दिया। अतः वह जंगल में बस गया और गिरिशिखर नाम का नगर बसाया। अब तक तीन पीढ़ियाँ बीत चुकी हैं, वर्तमान में वनराजा गिरिशिखर में है और सोमप्रभ पुण्ड्रवर्धन में शासन करता है। इसको सुनकर नागकुमार ने व्याल से कहा कि शीघ्र ही पुण्ड्रवर्धन पर आक्रमण करो और राज्य लेकर वनराजा को सौंप दो। बाद में नागकुमार और वनराजा वहाँ पहुँचे और वनराजा को मुकुट पहनाया। सोमप्रभ सुप्रतिष्ठपुर पहुंचा और राजा विजयसिंह के अचय एवं अभय को अपनी पराजय का समाचार दिया। बाद में वे नागकुमार के सेवक हो गए ॥ ६ ॥

लक्ष्मीमती को उसके पिता के पास छोड़कर वह अपनी अन्य तीन पत्नियों एवं सिपाहियों के साथ उर्जयन्त पर्वत की यात्रा पर चला। वह एक जलन्ती नामक जंगल में पहुँचा और विषैले आम्र-कुंज में पड़ाव डाला। उसने पूरे परिकर के साथ आम्र फलों को खाया परन्तु उनका कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा। इस पर दुरमुख नाम का भील प्रस्तुत हुआ और एक चमत्कार बताया। नागकुमार की खबर सब जगह हो गई। अतः ५०० योद्धाओं ने आकर नागकुमार को अपना स्वामी स्वीकार किया। वहाँ से वह अन्तरवन पहुँचा और राजा अन्तरपुर का अतिथि बना। अन्तरपुर के राजा के पास गिरिनगर के राजा अरिवर्मा को सहायता के लिए पत्र आया था। नागकुमार ने अन्तरपुर के राजा के साथ चन्द्रप्रद्योत के विरुद्ध चलने की इच्छा व्यक्त की। दोनों ने सेना के साथ गिरिनगर को प्रयाण किया। नागकुमार के युद्धकौशल से चन्द्रप्रद्योत पकड़ लिया गया। गिरिनगर के राजा ने जब युद्ध के नायक के विषय में पूछा तो अन्तरपुर के राजा ने कहा कि वह उसका अतिथि था। बाद में जानकारी हुई कि वह उसकी बहिन पृथ्वीदेवी का पुत्र है तो अत्यानन्द मनाया गया। नागकुमार ने उसकी पुत्री गुणमती से विवाह किया। नागकुमार ने पवित्र पर्वत की यात्रा की और पूजन किया।

एक दिन नागकुमार से सहायता प्राप्त करने के लिए गजपुर के राजा अभिचन्द्र का दूत आया। विद्याधर सुकण्ठ ने अपने भाई शुभचन्द्र को मारकर उसकी सात कन्याओं का अपहरण कर लिया था। नागकुमार सहायता के लिए गया और सुकण्ठ को मारकर राजकुमारियों को मुक्त

कराया। सुकण्ठ के पुत्र वज्रकण्ठ को राज्य सौंपकर उसकी पुत्री रुक्मिणी से विवाह किया तथा गजपुर लौटकर अभिचन्द्र की पुत्री चन्द्रा के साथ उन सातों राजकुमारियों का वरण किया ॥ ७ ॥

इधर महाव्याल बहुत समय से गणिकासुन्दरी के साथ पाटलिपुत्र में आनन्द कर रहा था। एक दिन एक यात्री द्वारा उसे ज्ञात हुआ कि दक्षिण मदुरा के राजा पांड्या की अवैध पत्नी की पुत्री को कोई वर ही पसन्द नहीं आता। वह मदुरा पहुँचा और सड़क पर एक कुंवारी कन्या द्वारा देखा गया। वह यात्री से प्रभावित हुई और अपने कर्मचारियों से यात्री को पकड़ लाने के लिए कहा। यात्री ने सभी को मार दिया। इस पर लड़की द्वारा वह पुरस्कृत हुआ। इसी प्रकार एक दिन उसे एक यात्री से मालूम हुआ कि उज्जैन की राजकुमारी को कोई आदमी पसन्द नहीं है। महाव्याल ने राजा पांड्या से उज्जैन जाने की अपनी इच्छा व्यक्त की। वह उज्जैन आया और अन्य विवाहेच्छुकों के साथ महल में गया। राजकुमारी ने दूर बालकनी से ही उसे देखकर अस्वीकार कर दिया। अतः वह अपने बड़े भाई के पास गजपुर आया और नागकुमार का चित्र लेकर पुनः उज्जैन पहुंचा। चित्र देखकर राजकुमारी मोहित हो गई। नागकुमार के साथ उसका विवाह हुआ।

नागकुमार ने महाव्याल से उसकी दक्षिण-यात्रा का कोई आश्चर्य पूछा। उसने बताया कि किष्किन्धा-मलाया में मेघपुर के राजा की कन्या ने प्रतिज्ञा की है कि जो उसे नृत्य करते हुए मृदंग से हरा देगा वह उसी का वरण करेगी। नागकुमार सुनते ही वहाँ गया और उससे विवाह किया। एक दिन एक सौदागर मेघपुर उसके ससुर के यहाँ उपहारों के साथ आया और नागकुमार से कहा कि तोयावली द्वीप में एक जिनमन्दिर है और वहाँ एक वृक्ष पर कुछ कुमारियाँ सहायता के लिए चिल्ला रही थीं। वे एक विद्याधर के संरक्षण में थीं जो कि उन्हें किसी से वार्तालाप की अनुमति नहीं दे रहा था। नागकुमार ने सुदर्शना का स्मरण किया और वह अविलम्ब उपस्थित हुई। उससे विद्याएँ लेकर वह तोयावली द्वीप पहुँचा और प्रथम जिनमन्दिर में पूजन किया। उन कुमारियों में से बड़ी ने उसे बताया कि भूमितिलक के राजा श्रीरक्ष के ५०० पुत्रियाँ थीं जिनको कि उनके भान्जे ने कत्ल कर दिया और उन्हें तथा उनके दो भाइयों को जेल में डाल दिया। नागकुमार ने अचय और अभय को

राजदूत बनाकर पवनवेग के पास भेजा। परन्तु वे अपने कार्य में असफल रहे। अतः युद्ध हुआ और पवनवेग मारा गया। राजकुमारियों से शादी की और उनके भाइयों को राज्य दिलाकर नागकुमार पांड्या के राज्य में लौट आया ॥ ८ ॥

नवीं और अन्तिम संधि में नागकुमार आन्ध्र के दन्तीपुर नगर में पहुँचते हैं। वहाँ चन्द्रगुप्त की पुत्री रत्नमंजूषा से उनका विवाह होता है। वहाँ से वे त्रिभुवनतिलक जाते हैं और लक्ष्मीमति का वरण करते हैं, जो उन्हें सर्वाधिक आकृष्ट करती है। मुनि पिहिताश्रव इसी अवसर पर वहाँ आते हैं। नागकुमार उनके दार्शनिक और धार्मिक व्याख्यानों को सुनता है। मुनि से राजकुमार ने अन्तिम पत्नी के आकर्षण का कारण पूछा। इसके उत्तर में मुनि नागकुमार के पूर्वजन्म की कथा सुनाते हैं। ऐरावत देश में वीतशोकपुर नाम का एक नगर था। वहाँ धनदत्त नाम का सेठ और धनेश्वरी नाम की उसकी पत्नी थी। उसके पुत्र नागदत्त ने वहीं के एक सेठ की पुत्री नागवसु से विवाह किया। नागदत्त ने फाल्गुन माह की पंचमी का व्रत लिया। व्रत रखने पर दिन का समय तो पूजनादि में व्यतीत हो गया परन्तु अर्ध रात्रि होते-होते उसे गर्मी-प्यास लगी। व्रतभंग उसने नहीं होने दिया परन्तु मर गया और मरकर प्रथम स्वर्ग में देव हुआ। मुनि ने आगे कहा कि नागदत्त ही नागकुमार के रूप में जन्मा और लक्ष्मीमति उसकी पूर्वभव की पत्नी ही है अतः प्रगाढ़ प्रेम हुआ। मुनि इसके बाद व्रत पालने का ढंग बताते हैं। ऐसे ही अवसर पर मन्त्री नयनधर आते हैं और नागकुमार को वापिस कनकपुर ले जाते हैं। पिता स्वागत करते हैं और राज्यतिलक करते हैं। राज्यारूढ़ होते ही नागकुमार व्याल द्वारा अपनी समस्त विवाहिताओं को बुलवा लेते हैं। उन सबके साथ वे राज्योपभोग करते हैं। राजा जयन्धर और पृथ्वीदेवी वैराग्य यापन करते हैं। नागकुमार बहुत काल तक राज्य करते हैं और बाद में व्याल, महाव्याल; अचय और अभय के साथ मुनिदीक्षा ले लेते हैं। नागकुमार को श्रीपंचमी के व्रत का फल मिलता है।

जम्बूसामिचरिउ

जैन वाङ्मय में जम्बूस्वामी सम्बन्धी विपुल सामग्री उपलब्ध है। जम्बूस्वामी का चरित्र जैनों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और स्तुत्य रहा है।

यही कारण है कि चरित, कथा, रास आदि विविध काव्यरूपों में एवं संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी आदि विविध भाषाओं में ९५ काव्य जम्बूस्वामी-विषयक मिलते हैं। प्रस्तुत काव्य[1] की रचना वीर कवि (वि० सं० १०२५) ने अपभ्रंश भाषा में की है। इसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार है :

ग्रन्थ का प्रारम्भ जिनेन्द्र देवों की स्तुति से होता है। ग्रन्थकार अपने माता-पिता, प्रेरणादायकों का परिचय देने के बाद मूलकथा आरम्भ करता है। मगधदेश में राजगृह नामक नगर था। वहाँ के राजा का नाम श्रेणिक था। श्रेणिक कई सहस्र सुन्दर रानियों का पति था। एक बार विपुलाचल पर भ० महावीर का समवसरण हुआ। श्रेणिक राजा अपने समस्त सम्बन्धित परिकर के साथ भ० महावीर के दर्शनों के लिए वहाँ गया।

राजा की जिज्ञासानुसार भगवान् ने जीवादि तत्त्वों की व्याख्या की। इसी अवसर पर एक महातेजस्वी देव अपनी चार देवियों के साथ विमान से उतरा और भगवान् की वन्दना कर उचित स्थान पर बैठ गया। श्रेणिक ने कुतूहलवश उसके विषय में भगवान् से पूछा। भगवान् ने बताया कि यह विद्युन्माली नामक देव है जो सातवें दिन स्वर्ग से च्युत होकर इसी नगर में मनुष्य का जन्म लेगा तथा तपस्या द्वारा इसी भव से मोक्ष जायेगा। श्रेणिक ने देव के पूर्व भवों की कथा जानने की इच्छा भगवान् से प्रकट की। भगवान् ने देव के पूर्व भवों की कथा सुनाई। मगधदेश में वर्द्धमान नामक ब्राह्मणों का गांव था। वहाँ सोमशर्म अपनी पत्नी सोमशर्मा के साथ रहता था। उनके भवदत्त और भवदेव नामक शास्त्रों को जानने वाले दो पुत्र थे। कुछ दिनों बाद सोमशर्म व्याधि से इतना पीड़ित हुआ कि जीवित ही अग्नि में प्रविष्ट हो मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसकी पत्नी भी उसी समय चिता में जलकर भस्म हो गई। वियोग शांत हो जाने पर बड़े पुत्र भवदत्त ने राज्य संभाला। कुछ समय पश्चात् सुधर्म नामक मुनि नगर में पधारे। उनके

---

१. डा० वी० पी० जैन द्वारा सम्पादित व भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी से १९६७ में प्रकाशित; प्रस्तावना पृ० ४३--४७ पर जम्बूस्वामी-विषयक रचना-सूची.

उपदेशों के प्रभाव से भवदत्त को वैराग्य हो गया। अब भवदेव ने राज्य संभाल लिया। १२ वर्ष पश्चात् एक मुनिसंघ उस नगर में आया। भवदेव का विवाह हो रहा था तभी मुनि भवदत्त (उसके बड़े भाई) उसके दरवाजे पर पहुँचे। भवदेव बीच मण्डप से भवदत्त की खबर सुनकर उठ आया। भवदेव ने मुनि को आहार दिया। तदनन्तर नगरवासियों सहित मुनि को छोड़ने दूर तक आया। सभी लौट गए परन्तु भवदेव ने सोचा कि भवदत्त मुनि लौटने को कहें तब वह लौटे। परन्तु मुनिसंघ में पहुँचने पर उसने अनेच्छा होते हुए भी आचार्य से दीक्षा ले ली। परन्तु भवदेव अपनी विवाहिता के ध्यान में रहता और घर लौटने का अवसर खोजता रहता। किसी प्रकार बारह वर्ष बीतने पर मुनिसंघ पुनः वर्द्धमान ग्राम के समीप ठहरा। भवदेव अपने मन में पत्नी की इच्छा से ग्राम में आता है। मार्ग में जिनचैत्यालय में नागवसू से उसकी भेंट हो गई। नागवसू व्रतादि के कारण अत्यधिक कृश हो गई थी। अतः भवदेव उसे नहीं पहचान सका। भवदेव ने उसी से अपने कुटुम्ब के विषय में पूछा। नागवसू ने अपना परिचय दिया और भवदेव को व्रतभंग न करने का उपदेश दिया। भवदेव ने पुनः प्रायश्चित्त के साथ तप किया और दोनों भाई मरकर तीसरे स्वर्ग में देव हुए।

तदनन्तर भवदत्त स्वर्ग से अपनी आयु पूर्ण करके पुंडरिकिणी नगरी के राजा वज्रदंत की रानी यशोधना का पुत्र हुआ। अब इसका नाम सागरचन्द था। पूर्वविदेह में वीतशोक नगरी के राजा महापद्म की रानी वनमाला के गर्भ से भवदेव ने जन्म लिया। इसका नाम शिवकुमार रखा गया। अवस्था प्राप्त होते ही युवराज पद पर आसीन हुआ और कई राजकुमारियों से विवाह किया। सागरचन्द की नगरी में सुबंधुतिलक मुनि ने सागरचन्द को उसके पूर्व जन्म के दोनों भाइयों की कथा सुनाई। अतः वह दीक्षित हो गया। शिवकुमार को भी पूर्वभव की कथा का स्मरण हो आया। परन्तु उनके माता-पिता ने दीक्षा की अनुमति नहीं दी। फिर भी वे मन्त्री-पुत्र के हाथों शुद्ध आहार ग्रहण करते थे। अन्त में सन्यासपूर्वक मरण हुआ। उसी तप के प्रभाव से पहले भवदेव, फिर स्वर्ग में देव, फिर शिवकुमार और इसके बाद यह विद्युन्माली नाम का देव हुआ है। अब विद्युन्माली देव मनुष्यभव में जन्म लेकर विद्युत्प्रभ नामक चोर के साथ दीक्षा लेगा। श्रेणिक ने विद्युन्माली की चार देवियों

के पूर्वभवों के विषय में भगवान् से पूछा। भगवान् ने कहा—भारतदेश में चम्पानगरी का सूर्यसेन नामक एक सेठ था, जिसके चार पत्नियाँ थीं। सूर्यसेन कोढ़ी हो गया। उसकी चारों पत्नियों ने सुमति नामक मुनि से श्रावकधर्म के व्रत ले लिए। पति की मृत्यु के बाद सम्पूर्ण सम्पत्ति से मंदिर निर्माण कराया। आर्यिका बनकर तप द्वारा स्वर्ग में विद्युन्माली की चारों देवियाँ हुई हैं।

श्रेणिक राजा ने पुनः विद्युच्चोर के पूर्वभव के विषय में पूछा तो भगवान् ने बताया कि वह हस्तिनापुर के राजा विसंध्र का पुत्र है। चोरी का व्यसन हो जाने से वह राजा के पास से भाग आया और यहाँ कामलता वेश्या के घर में रहता है। चोरी उसका मुख्य व्यसन है।

इसके बाद भगवान् ने बताया कि विद्युन्माली इसी राजगृह नगर के श्रेष्ठी अरहदास की पत्नी जिनमती के यहाँ पुत्ररूप में जन्म लेगा। इसी बीच एक यक्ष अपने कुल की प्रशंसा सुनकर नाच उठा। श्रेणिक ने इसका कारण पूछा तो भगवान् ने समाधान किया कि धनदत्त सेठ की गोत्रवती नाम की पत्नी थी। उससे अरहदास और जिनदास दो पुत्र उत्पन्न हुए। जिनदास व्यसनों में पड़ गया। एक दिन एक जुआरी ने उसे मार दिया। शुभकर्मों से उसे यह यक्षयोनि मिली है और पूर्वभव के कुल की उन्नति सुनकर प्रसन्न हो रहा है। तत्पश्चात् भगवान् ने राजा को धर्मोपदेश दिये और जम्बूस्वामी के विषय में सविस्तार बताया। राजा सपरिकर अपने नगर लौट आया। सात दिन बीतने पर अरहदास की पत्नी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में पाँच स्वप्न देखे : १. सुवासित जम्बूफलों का गुच्छा, २. समस्त दिशाओं को प्रकाशित करने वाली निर्धूम अग्नि, ३. पुष्पित एवं फलभार से नम्र शालिक्षेत्र, ४. चक्रवाक, हंस आदि पक्षियों के कलरव से युक्त सरोवर, ५. मगरमच्छ आदि जलचरों से परिपूर्ण विशाल सागर। इसी समय विद्युन्माली देव जिनमती के गर्भ में आया। समय आने पर पुत्रोत्पन्न हुआ। उस समय चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र में था। पुत्र का नाम जम्बूस्वामी रखा गया। सुन्दरता से इस बालक ने कामदेव को जीत लिया था। बड़े होने पर शिक्षा-दीक्षा पूर्ण हुई। ख्याति चारों ओर फैल गई। नगर की स्त्रियाँ इसे देख मन्त्रमुग्ध होकर बेसुध हो जाती थीं।

अरहदास ने बातों-बातों में ही बहुत पहले अपने चार मित्रों को उनकी

कन्याओं से अपने पुत्र की शादी का वचन दे दिया था। अतः इन चारों से धूमधाम के साथ जम्बूस्वामी का विवाह रचाया गया। इसी शुभावसर पर राजा ने वसन्तोत्सव मनाने की घोषणा की। सभी ने उपवन में जाकर केलिक्रीड़ापूर्वक उत्सव मनाया। जलक्रीड़ा के बाद जब सभी नगर को लौट रहे थे तभी राजा का विषमसंग्रामशूर नामक हाथी बिगड़ गया और उसने आतंक की स्थिति पैदा कर दी। सभी प्रयत्न निष्फल हुए परन्तु जम्बूस्वामी ने हाथी को वश में किया और राजा द्वारा प्रशंसापात्र बने।

राजा ने जम्बूस्वामी का सम्मान किया और नगर में पहुँचकर राजसभा बुलाई। एक दिन राजा जम्बूस्वामी के साथ राजसभा में बैठा था तो गगनगति नामक विद्याधर आया और राजा से निवेदन करने लगा कि केरल के मृगांक राजा की सौन्दर्यमूर्ति विलासवती नामक कन्या से आपका विवाह होना चाहिये—यह एक मुनि का कथन है। परन्तु हंसद्वीप के रत्नचूल राजा ने उस कन्या को प्राप्त करने के लिए केरल का घेरा डाल दिया है। केरल के राजा ने कल के दिन नगर से बाहर आकर युद्ध करने का निश्चय किया है। अतः मैं भी केरल जा रहा हूँ और अपने धर्म का पालन करूंगा। राजा की आज्ञा लेकर जम्बूस्वामी विद्याधर के विमान से केरल की ओर चल दिये। इधर राजा ने अपने सेनापतियों को केरल की ओर कूच कर देने की आज्ञा दी। राजा भी सेना के साथ चला। वन-नदियों-पर्वतों को पार करते हुए कुरल पर्वत के समीप राजा ने पड़ाव डाल दिया। जम्बूस्वामी केरल नगरी के बाहर ही विमान से उतर गए और मृगांक राजा के दूत बनकर रत्नशेखर की छावनी में गए। रत्नशेखर को दूसरे की कन्या बलपूर्वक न लेने की सलाह देने पर दोनों में विवाद बढ़ गया। रत्नशेखर ने दूत को पकड़कर मार डालने का आदेश दिया। जम्बूस्वामी ने विद्याधर द्वारा दी गई तलवार-ढाल से सैकड़ों योद्धाओं को मृत्यु के घाट उतार दिया। विद्याधर ने भी युद्ध किया और शत्रु की सेना छिन्न-भिन्न् कर दी।

मृगांक को यह समाचार मिला तो वह भी अपनी सेनाओं के साथ नगर से बाहर आया और भयंकर युद्ध हुआ। रत्नशेखर और गगनगति ने आकाश-युद्ध किया जिसमें विद्याधर घायल हुआ। रत्नशेखर ने पुनः मृगांक से युद्ध किया और उसे बाँधकर ले गया। इससे मृगांक की सेना घबड़ा गई।

जम्बूस्वामी अभी तक छावनी में ही थे। जैसे ही वे बाहर आये, गगनगति ने युद्ध के समाचार दिए तो जम्बूस्वामी ने केरलीय सेना को पुनः एकत्रित किया और युद्ध छेड़ दिया। नरसंहार होने लगा। जम्बूस्वामी ने रत्नशेखर को द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारा जिससे अधिक विनाश न हो। दोनों में द्वन्द्व युद्ध हुआ। रत्नशेखर परास्त हुआ। मृगांक को बन्धनमुक्त कराकर जम्बूस्वामी केरल नगरी में गए। कुछ दिन केरल में रहने के पश्चात् मृगांक अपनी कन्या व पत्नी के साथ गगनगति विद्याधर, रत्नशेखर आदि के अनेक विमानों को लेकर मगधदेश को चल पड़े। पर्वत के निकट पहुँचते ही राजा श्रेणिक की ससैन्य भेंट हुई। राजा ने जम्बूस्वामीसहित सबका स्वागत किया। विलासवती कन्या का राजा से विवाह कर दिया गया। मृगांक व रत्नशेखर में मैत्री हो गई। सब लोग अपने-अपने निवासों को लौट गए। श्रेणिक राजा भी राजगृह की ओर चल पड़े। नगर के बाहर उपवन में सुधर्म नामक मुनि ५०० मुनियों के साथ विराजमान थे। राजा ने सभी के साथ मुनि की वंदना की। जम्बूकुमार ने प्रणाम किया।

सुधर्म मुनि को देखते ही जम्बूस्वामी का उनके प्रति स्नेह उमड़ पड़ा। अतः इसका कारण उन्होंने मुनि से पूछा। सुधर्म मुनि ने भवदत्त-भवदेव के जन्म से लेकर दोनों के ५ भवों का वर्णन किया। उन्होंने बताया कि जम्बू पहले भवदेव था और मुनि स्वयं भवदत्त। इसके बाद दोनों स्वर्ग में देव हुए। वहां से विद्युन्माली देव के रूप से च्युत होकर जम्बूस्वामी के रूप में आये और मुनि स्वयं मगधदेश के संवाहन नगर के राजा के सुधर्म नामक पुत्र हुए। इस प्रकार मुनि ने कहा कि राजा सुप्रतिष्ठ एक दिन भगवान् के समवसरण में गए और दीक्षित हो गए। मैंने भी पिता का अनुगमन किया। पिता भगवान् के चतुर्थ गणधर और मैं पांचवां गणधर हुआ। वही मैं ससंघ यहाँ आया हूँ। तुम्हारी चार देवियों ने भी चार श्रेष्ठियों के यहाँ चार सुन्दरी कन्याओं के रूप में जन्म लिया है। आज से ठीक दसवें दिन तुम्हारा उनसे परिणय हो जायेगा। यह सब सुनकर जम्बूस्वामी को वैराग्य हो गया। उन्होंने दीक्षा की अनुमति मांगी। माता-पिता एवं चारों कन्याओं के पिताओं के अनुरोध पर जम्बूस्वामी ने यह स्वीकार कर लिया कि वे एक दिन के लिए विवाह

करेंगे और दूसरे दिन दीक्षा ले लेंगे। विवाह हुआ और रात्रिकाल में सुन्दर चन्द्रोदय हुआ। चारों कुमारियां वासगृह में जम्बूस्वामी को रिझाने के लिए विविध कामचेष्टाएं करने लगीं।

जम्बूस्वामी की चारों पत्नियों के सौन्दर्य एवं कामचेष्टाओं का उन पर किंचित् प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने निराश होकर क्रमशः लौकिक सुखों की कहानियां जम्बूस्वामी को सुनाईं। परन्तु इनके उत्तरस्वरूप जम्बूस्वामी ने भी उतनी ही कहानियां सुनाईं और पत्नियों की कहानियों का खण्डन कर दिया। इसी में आधी रात हो गई। विद्युच्चर नामक चोर छिपकर इन सबके वार्तालाप को सुन रहा था। उसका चित्त बदल गया। जम्बूकुमार की मां व्याकुलतावश बार-बार जाग रही थी, उसने चोर को देखा और उससे पूछा कि तू यहां क्यों है और तुझे क्या चाहिये ? चोर ने अपना परिचय दिया और मां से सब बात पूछकर कहा कि इस घर में मुझे पहुँचाओ, यदि मैं समझा सका तो ठीक है अन्यथा मैं भी दीक्षा ले लूंगा। मां ने जम्बूस्वामी को उसका परिचय अपने भाई के रूप में कराया। जम्बूस्वामी ने मामा के समाचार पूछे। विद्युच्चर ने उत्तर, दक्षिण, पश्चिम के बाद पूर्व दिशा में भ्रमण किए हुए देशों के नाम लिए।

तत्पश्चात् विद्युच्चर ने जम्बूस्वामी को सांसारिक सुख की आवश्यकता आदि के विषय में चार कथाएं सुनाईं। परन्तु उनके खण्डन में जम्बूस्वामी ने भी चार कथाएं सुनाईं। जम्बूस्वामी पर किसी का कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। विद्युच्चर को भी संसार असार लगने लगा और उसने भी दीक्षा लेने की इच्छा व्यक्त की। जम्बूस्वामी के साथ उनके माता-पिता, चारों वधुएं और विद्युच्चर तथा राजा श्रेणिक सुधर्मगणधर के पास पहुँचे। जम्बूस्वामी, उनके पिता और विद्युच्चर निर्ग्रन्थ साधु हो गए। उनकी माता एवं वधुएं आर्यिकाएं हो गईं। अठारह वर्षोपरान्त विपुलगिरि से सुधर्मस्वामी मोक्ष गए। इसी दिन जम्बूस्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इसके बाद जम्बूस्वामी अठारह वर्षों तक धर्मोपदेश करते रहे और विपुलगिरि पर्वत से मोक्ष गए। माता-पिता एवं वधुएं विभिन्न स्वर्गों में देव हुए। जम्बूस्वामी के मोक्षगमनोपरान्त विद्युच्चर मुनिसंघ के साथ ताम्रलिप्ति पधारे और नगर के बाहर ठहरे।

वहां भूत-पिशाचों ने घोर उपसर्ग किए जिन्हें मुनि श्री विद्युच्चर के अतिरिक्त अन्य कोई सहन नहीं कर सके। अन्य मुनि ध्यान छोड़कर भाग गए।

उपसर्ग में कोई कमी नहीं आई परन्तु मुनि विद्युच्चर बारह भावनाओं के स्मरण के साथ ध्यान में तल्लीन बने रहे। इस प्रकार समाधिमरण के बाद वे सर्वार्थसिद्धि में पहुँचे। वहाँ वे अपनी आयु पूरी करके मनुष्यजन्म लेंगे और उसी जन्म से मोक्ष जायेंगे।

करकंडुचरिउ

करकंडुचरिउ[1] ११वीं शताब्दी के मध्यभाग की रचना मानी गई है। इसके रचयिता मुनि कनकामर हैं। ग्रन्थ में दस परिच्छेद हैं जिनमें करकंडु महाराज का चरित्र-वर्णन किया गया है। कथा का संक्षेप इस प्रकार है :

ग्रंथारम्भ में कवि कामदेव का विनाश करने वाले परमात्मपद में लीन जिनेन्द्रदेव के चरणों का स्मरण करता है। तदनन्तर सरस्वती देवी को मन में धारण करके लोगों के कानों को सुहावने लगने वाले करकंडु राजा के चरित्र का वर्णन करता है। जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अंगदेश की चम्पा नामक रमणीक नगरी में शत्रुओं का नाश करने वाले पराक्रमी एवं दानी धाडीवाहन नाम के राजा थे। एक दिन राजा धाडीवाहन ने कुसुमपुर नामक स्थान को गमन किया। वहाँ एक माली द्वारा पोषित सुन्दर कन्या को देख राजा काम से पीड़ित हो गए। कुसुमदत्त नामक माली से राजा को ज्ञात हुआ कि उसने उस कन्या को नदी में बहती हुई पिटारी से प्राप्त किया था। राजा ने पेटी में रखी स्वर्णमयी अंगुली की मोहर के अक्षरों से ज्ञात किया कि कन्या कौशाम्बीनरेश वसुपाल की पद्मावती नाम की कन्या है। राजपुत्री होने से राजा ने उससे परिणय कर लिया।

राजा माली को बहुत-सा द्रव्य देकर रानी के साथ अपने नगर वापिस लौट आये। एक दिन रानी ने स्वप्न में एक मस्त हाथी देखा।

---

१. डा० हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित, कारंजा जैन सिरीज, १९३५ और द्वि० संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९६४.

राजा ने स्वप्नफल में पुत्रोत्पत्ति की बात कही। जब पद्मावती की गर्भावस्था आई, राजा ने सौभाग्योत्सव मनाया। इस शुभ अवसर पर रानी को दोहला उत्पन्न हुआ। वह दिन-ब-दिन कृश होती गई। राजा ने कारण पूछा तो संकोच के साथ रानी ने कहा कि रिमझिम बूँदों में नर-रूप में हाथी पर आपके साथ भ्रमण करने की इच्छा है। राजा ने यह सम्भव कर दिया। परन्तु जिस हाथी पर वे चढ़कर चले वह हाथी भागकर कालिंजर की ओर चल पड़ा और किसी भी प्रकार नहीं रुका।

रानी के आग्रह पर राजा वृक्ष की डाल पकड़कर बच गया और दुःखी मन राज्य में वापिस लौट आया। दौड़ते-दौड़ते हाथी एक गहरे सरोवर में घुस गया। रानी चतुराई से जल में कूद पड़ी। रानी सरोवर से निकलकर एक उपवन में पहुँची जोकि सूखा पड़ा था। वह वहीं एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगी। उपवन नन्दनवन के समान फल-फूल उठा। यह देखकर वनपाल वहाँ आ पहुँचा। वनपाल वन के फूलने के कारण की खोज करने लगा। वनपाल ने रानी को देखा और उसे पुत्री कहकर अपने घर चलने को कहा। वह उसके घर चली गई। माली की पत्नी कुसुमदत्ता के मन में रानी के सौन्दर्य को देखकर पाप आ गया और वह अपने पति के प्रति शंका करने लगी। अतः मालिन ने रानी को दोष लगाकर घर से निकाल दिया। गर्भवती रानी ने एक श्मशान भूमि में होनहार पुत्र को जन्म दिया।

बालक के जन्म से श्मशान में भी अनेक मंगल हुए। रानी अपने पुत्र को गोदी में उठा ही रही थी कि उसे अपने सामने एक मातंग दिखाई पड़ा। मातंग ने शिशु को उठा लिया। रानी विलाप करने लगी तो मातंगरूपधारी विद्याधर ने रानी को समझाया कि एक बार मैं अपनी पत्नी के साथ आकाशमार्ग से जा रहा था तो विंध्यपर्वत के ऊपर पहुँचते ही मेरा विमान रुक गया। नीचे आकर देखा तो मुनि थे, मैंने उन्हें खड्ग से मारने का निश्चय किया। मुनि ने मेरी विद्याओं के नाश होने का शाप दिया। मेरी प्रार्थना पर उन्होंने कहा कि धाडीवाहन की रानी पद्मावती श्मशान भूमि में पुत्रोत्पन्न करेगी। तब तू उसका पालन करेगा तथा उसे राज्य मिलेगा और तुझे सभी विद्याएँ पूर्ववत् मिल जायेंगी।

मातंग बालक को अपने घर ले गया। पद्मावती ने दुःखहारी व्रत ले लिया। बालक के हाथ में खाज था अतः उसका नाम करकंडु रखा।

एक बार श्मशान में यशोभद्र और वीरभद्र मुनीश्वर आये। उनके संघ में से एक ने एक नरकपाल की आँखों और मुख से बाँस का विटप निकलते देखा। इस आश्चर्य का कारण उन्होंने मुनि से पूछा। मुनि ने बताया कि ये थोड़े से बाँस जिसके हाथ चढ़ जायेंगे वह समस्त पृथ्वी का राजा होगा। किसी प्रकार वे सब बाँस करकंडु के हाथ लग गए। मातंग ने करकंडु को नाना विद्याएं सिखलाईं। मातंग करकंडु को विद्यावान् की संगति का उपदेश देता है। उसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करता है। मूर्ख-संगति का कुफल एवं नीच-संगति की कहानी बताता है। उच्च-पुरुष की कहानी बताता है। इस प्रकार करकंडु को मातंग कुछ-न-कुछ सिखलाता रहता है। करकंडु भी हर समय खेचर मातंग के पास रहता है। इधर दन्तीपुर के राजा की मृत्यु हो जाती है। कोई राजकुमार न होने के कारण मन्त्री ने एक हाथी को पूजकर उसे जल से भरा घड़ा देकर यह निश्चय किया कि यह हाथी जिस किसी का इस जल से अभिषेक करेगा उसी को राज्य सौंप दिया जायेगा। हाथी ने श्मशान भूमि में एक कामदेव स्वरूप राजकुमार को देखा और उसी पर घड़े का जल छोड़ दिया। लोग उसे मातंगपुत्र समझ रहे थे। विद्याधर की सारी विद्याएं लौट आईं और तभी उसने सबको करकंडु के राजकुमार होने की बात बताई। करकंडु इस प्रकार राज्य पर आसीन हुआ।

एक दिन करकंडु नगर में भ्रमण कर रहा था तो उसने एक देशांतर से आये हुए पटधारी को देखा। उससे करकंडु ने पट लेकर देखा तो वह मुग्ध-सा देखता रहा। पूछने पर पटधारी ने बताया कि 'सोरठ देश के गिरनगर नामक नगर के राजा यमराज अजयवर्मा की अतीव सुन्दर कन्या मदनावली का जन्म हुआ। अवस्था-प्राप्त कन्या ने खेचरों से करकंडु की कीर्ति के गीत सुने और वह मदनपीड़ित हो गई। अतः यह चित्रपट उसी का मैं लिए घूम रहा हूँ। जो इसे देखकर मोहित हो वही उसका वर होगा। आप मेरी बात मानकर उसे ग्रहण करें।' करकंडु ने बात स्वीकार कर ली और मदनावली को विवाह लाये। माता आशीर्वाद दे रही थीं कि चम्पाधीश का संदेश पहुँचा। चम्पाधीश और करकंडु की सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। युद्ध में करकंडु ने खेचरी विद्या छोड़ी। जब उसकी विद्या का हरण कर लिया गया तो उसने धनुष हाथ में लिया। युद्ध में चम्पाधिप का मान दलित हुआ। समरां-

गण में माता पद्मावती का आगमन हुआ। उसने करकंडु को बताया कि चम्पाधिप उसके पिता हैं। पद्मावती ने पिता-पुत्र की पहचान कराई। दोनों का मिलाप हुआ और करकंडु को चंपाधिप का राज्य मिला।

इसके बाद करकंडु ने द्रविड़ देश को जीतने की प्रतिज्ञा की। करकंडु के मन्त्री ने बताया कि चोल, पाण्ड्य और चेर नाम के राजा आपकी सेवा नहीं करते। इस पर करकंडु ने उनके पास अपना दूत भेजा। दूत को उन राजाओं ने यह कहकर वापिस कर दिया कि वे जिन के सिवाय किसी को सिर नहीं झुकाते। करकंडु ने सूचना पाते ही उन पर सेना के साथ चढ़ाई कर दी। मार्ग में वह तेरापुर नगर में पहुँचा। वहां के राजा शिव ने करकंडु से भेंट की और समीप की पहाड़ी के चढ़ाव पर एक वामी है जिसकी पूजा प्रतिदिन एक हाथी करता है—यह बात उसे बतलाई। राजा करकंडु उस राजा के साथ वहां गया, पार्श्वनाथ के दर्शन किये तथा ऊपर चढ़कर वामी को भी देखा। उसी समय हाथी सरोवर से कमल लेकर आया और वहीं आकर चढ़ाया। राजा ने वामी को खुदवाया तो वहां पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्ति निकली. जिसे वे बड़ी भक्ति से गुफा में ले आये। मूर्ति के सिंहासन पर करकंडु को एक गांठ-सी दिखाई पड़ी। उसने शिल्पी से पूछा तो शिल्पी ने बताया कि यहां एक जलवाहिनी थी, उसी को बन्द करने के लिए यह लगाई गई है। करकंडु को जलवाहिनी देखने का कौतुक हुआ और गांठ को तुड़वा दिया। गांठ के टूटते ही अथाह जल निकल पड़ा। करकंडु पश्चात्ताप करने लगे तभी एक विद्याधर ने आकर गुफा का इतिहास बताया और जलप्रवाह रोकने का वचन दिया।

करकंडु ने उस देव से पूछा कि इस गुफा-मन्दिर को किसने बनवाया? देव ने कहा कि एक समय दक्षिण विजयार्ध के रथनूपुर नगर में नील और महानील नाम के दो विद्याधर भाई राज्य करते थे। शत्रु ने उन्हें खदेड़ दिया तो वे तेरापुर में आकर रहने लगे। धीरे-धीरे उन्होंने वहां राज्य स्थापित कर लिया और एक जैन मुनि के उपदेश से इस गुफा-मन्दिर का निर्माण कराया। इसी समय दो विद्याधर लंका की ओर यात्रा पर जा रहे थे। उन्होंने रावण के वंशजों द्वारा बनवाये गये मलय-

देश के पूदी पर्वत पर जिनमंदिर में एक सुन्दर जिनप्रतिमा देखी। वे वैसी मूर्ति अपने यहां बनवाने के ध्येय से उस मूर्ति को उठाकर चले। तेरापुर पहुँचने पर वे पर्वत पर मूर्ति को रखकर जिनमंदिर के दर्शन को चले गए। लौटकर वे उस मूर्ति को उठाने लगे तो वह उनसे नहीं उठी। उन लोगों ने मुनि के उपदेश से मूर्ति को वहीं छोड़ा और स्वयं वैराग्य ले लिया। इनमें से एक भाई मरकर स्वर्ग गया और दूसरा मायाचारी होने के कारण हाथी बना। स्वर्गवासी भाई ने अपने भाई को आकर जातिस्मरण कराया जिससे वह उक्त वामी की पूजा करने आता था। फिर विद्याधर ने करकंडु को एक दूसरी गुफा बनवाने की सलाह दी। करकंडु ने वहां दो गुफाएं और बनवाई। इसके बाद करकंडु के साथ एक दुःखद घटना हुई कि उसकी रानी मदनावली को कोई विद्याधर हाथी के रूप में आकर हरण कर ले गया। करकंडु को शोकसन्तप्त देखकर पूर्व जन्म के संयोगी विद्याधर ने उसे समझाया कि उसे मदनावली अवश्य मिल जायेगी। इसके साथ ही नरवाहनदत्त का आख्यान भी करकंडु को सुनाया। इसके बाद करकंडु को विद्याधर की बातों से समाधान हो गया और वे आगे बढ़े।

करकंडु को अनेक शुभ शकुन हुए। खेचर ने शकुनों का फल बताया। करकंडु बीच-बीच में रुकता हुआ सिंहलद्वीप पहुँचा। सिंहल-नरेश ने करकंडु का स्वागत किया। जब करकंडु को सिंहलनरेश ने अपनी पुत्री रतिवेगा को दिखाया तो रतिवेगा करकंडु को देखते ही मुग्ध हो गई। पिता ने स्थिति समझकर उसका विवाह करकंडु से कर दिया। वह अपने दहेज और रतिवेगा के साथ समुद्र मार्ग से स्वदेश रवाना हुआ। समुद्र में एक भीमकाय मच्छ ने उनकी नौका पर आक्रमण किया। मच्छ को देखकर करकंडु मल्ल-गांठ बांध और शस्त्र से समुद्र में कूद पड़ा। मच्छ को उसने मार डाला परन्तु एक विद्याधर की पुत्री ने उसका हरण कर लिया। रतिवेगा विलाप करने लगी। मन्त्री आदि ने नौकाओं के बेड़े को किनारे लगाया। रतिवेगा ने बहुत पूजा-पाठ किया। पद्मावती देवी प्रकट हुई और रतिवेगा को उसके पति मिल जाने की बात कही।

रतिवेगा ने धैर्य धारण करके देवी से पूछा कि कोई गया हुआ व्यक्ति लौटकर कभी आता है? देवी ने जिन भगवान् के भक्त अरिदमन का

चरित्र उसे सुनाया। रतिवेगा वहीं धर्म-कर्मपूर्वक अपने दिन बिताने लगी। करकंडु को जो विद्याधरी अपने घर ले गई थी उसने अपने पिता की अनुमति से करकंडु को अपना पति बना लिया। वहाँ भोग करने के बाद करकंडु नववधू के साथ रतिवेगा से आ मिले। इसके बाद उन्होंने चोल, चेर और पांड्य नरेशों पर आक्रमण किया और उन्हें परास्त किया। करकंडु ने विजय के बाद अपना पैर उनके मुकुट पर रखा तो उसे जिनप्रतिमा दिखाई पड़ गई। इससे करकंडु को बहुत पश्चात्ताप हुआ। उसने राज्य वापिस करना चाहा परन्तु उन राजाओं ने इसे स्वीकार नहीं किया और वे तपस्या करने चले गये। करकंडु वहाँ से लौटते हुए पुनः तेरापुर आये। यहाँ विद्याधर ने स्वयं मदनावली को लौटा दिया। वे चम्पापुरी आकर राज्य-सुख का भोग करने लगे।

एक दिन वनमाली ने करकंडु को सूचना दी कि नगर के उपवन में शीलगुप्त नामक मुनिराज का शुभागमन हुआ है। राजा ने अपने नगर में भेरी पिटवा दी। सभी पुरजनों और भक्तों के साथ वे मुनि महाराज के दर्शनों को चले। मार्ग में एक स्त्री अपने पुत्र-शोक से व्याकुल हो रही थी। उसे देखकर करकंडु को संसार की असारता का भान होने लगा। वे उसी विषय को सोचते-सोचते मुनि के पास पहुँचे। मुनि ने धर्मोपदेश दिया जिसे सुनकर उनका चित्त वैराग्योन्मुख होने लगा। करकंडु ने मुनि से तीन प्रश्न किये—(१) वे इतने सुन्दर हैं परन्तु उनके हाथ में कंडु क्यों हुई ? (२) उनके माता-पिता में अतिस्नेह होने पर भी उनका देहान्त क्यों हुआ ? (३) खेचर ने उनकी रानी मदनावली का क्यों हरण किया ? मुनिराज ने पहले प्रश्न का उत्तर दिया कि करकंडु पूर्वजन्म में एक श्रेष्ठी के यहाँ ग्वाल थे। ग्वाल एक दिन भैंसे चराने गया था। उसने सरोवर में एक सुन्दर कमल देखा और उसे तोड़ लिया। उसी समय एक देव ने प्रकट होकर ग्वाल से कहा कि तूने यह अत्यधिक साहस का कार्य किया है। तू इस फूल को त्रिभुवन के स्वामी को चढ़ा देना अन्यथा मैं तुझे मार डालूँगा। ग्वाल ने अपने स्वामी को ही सबसे बड़ा स्वामी समझा क्योंकि उसकी दृष्टि में मालिक की सेवा में सैकड़ों लोग लगे रहते थे। यही सोचकर वह पुष्प लेकर श्रेष्ठी के सम्मुख उपस्थित हुआ और अपनी इच्छा व्यक्त की। ग्वाल से श्रेष्ठी ने कहा कि राजा मुझसे बड़ा है, अतः फूल राजा को चढ़ाना चाहिये। ग्वाल राजा के पास गया और

उसे अपना मन्तव्य बताया। राजा ने उसे मुनि को पुष्प अर्पित करने को कहा। मुनि के पास जाने पर मुनि ने उसे जिनेन्द्र भगवान् को फूल चढ़ाने को कहा। ग्वाल ने भगवान् जिनेन्द्र का पूजन किया अतः उसे सुन्दर रूप मिला और चूँकि कमल चढ़ाते समय हाथ में कीचड़ लगा था अतः उसके हाथ में कंडु हुआ।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में मुनि महाराज ने बताया कि पद्मावती पूर्व जन्म में श्रावस्ती के सेठ की स्त्री थी। उसके व्यभिचारी होने के कारण सेठ ने वैराग्य ले लिया और पुनः जन्म लेकर चम्पा नगरी का धाडीवाहन राजा बना। जिस ब्राह्मण के साथ सेठ की पत्नी ने व्यभिचार किया था वह मरकर हाथी हुआ। सेठानी मरकर पुनः स्त्री हुई। उसे पतिवियोग हुआ। अन्त में वह अपनी पुत्री के प्रयत्न से धर्म-ध्यानपूर्वक मरकर कौशाम्बी नरेश वसुपाल के यहाँ उत्पन्न हुई। राज परिवार में इसका अशुभ जन्म जानकर उसे मंजूषा में बन्द करके यमुना नदी में बहा दिया। एक माली ने जल से निकालकर उसका पालन-पोषण किया। पूर्व कर्मानुबन्ध से धाडीवाहन राजा से उसका विवाह हुआ। हाथी द्वारा हरण अथवा अन्य ऐसे ही कष्टों से पीड़ित पद्मावती करकंडु जैसे महान् व्यक्ति की माँ थी।

तीसरे प्रश्न में मुनिराज जी ने कहा कि पूर्वजन्म में करकंडु के पास एक सुआ था। सुआ चतुर था पर उसके ऊपर सर्प ने धावा बोल दिया तो करकंडु ने उसकी रक्षा की और णमोकार-मन्त्र उसे दिया। उस सर्प को भी णमोकार-मंत्र मरते समय मिल गया था। इतने मात्र से उसे विद्याधर का जन्म मिल गया। पूर्वभव का वैर होने के कारण उसने मदनावली का हरण किया। मुनि के इन सब उत्तरों को पाकर करकंडु की वैराग्यभावना प्रबल हो उठी। वह अपने पुत्र वसुपाल को राज्य देकर मुनि हो गया। करकंडु की मां भी अर्जिका (साध्वी) हो गई तथा उसकी पत्नियों ने भी वैसा ही किया। करकंडु ने घोर तपश्चरण किया और केवलज्ञान तथा मोक्ष प्राप्त किया।

सुअंधदहमीकहा

जैनधर्म पालन करने वाला प्रत्येक गृहस्थ सुगन्धदशमी व्रत की कथा से अवगत होता है। उनके वार्षिक पर्व दशलक्षणधर्म पर भाद्रपद शुक्ला

दशमी के दिन इस कथा को सुनने और इसका व्रत रखने का धार्मिक महत्त्व है। इस कथा की अपभ्रंश, संस्कृत, मराठी, गुजराती और हिन्दी रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं जिनका सुसम्पादन डा० हीरालाल जैन ने किया है। अपभ्रंश रचना[1] के रचयिता उदयचन्द थे। कथा का रचना-काल ११५० ई० माना गया है।[2] प्रस्तुत रचना की कथा पूर्णतः धार्मिक दृष्टिकोण से लिखी गई है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है :

रचना का प्रारम्भ चौबीसों तीर्थंकरों को नमस्कार के साथ होता है। राजा श्रेणिक भगवान् महावीर से सुगन्धदशमी व्रत के पालने का फल पूछते हैं। भगवान् श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हैं—जम्बूदीप में भरत नामक देश है। भरत देश के काशी प्रदेश में वाराणसी नामक नगरी है। वहाँ पद्मनाथ नाम का सुविख्यात राजा अपनी प्रिय रानी श्रीमती के साथ राज्य करता था। वसन्तागमन पर सभी नर-नारियाँ वसन्तोत्सव मनाने लगे। राजा भी मदोन्मत्त सुन्दर हाथी पर अपनी रानी को साथ बैठाकर अन्य परिजनों के साथ उद्यान-क्रीड़ा के लिए निकला। मार्ग में उसे मुनीश्वर सुदर्शन का दर्शन हुआ। राजा ने विचार किया कि मुनि को आहार देना चाहिये। अतः राजा ने रानी से आग्रह किया कि वे स्वयं घर वापिस जाकर मुनि को अपने हाथ से सुन्दर आहार दें। रानी आहार देने चली तो गई परन्तु उसके मन को बड़ा संताप हुआ कि मुनि ने बीच में आकर आनन्द भंग किया। आहार में रानी ने कड़वे फल दिये। मुनि अस्वस्थ और अशक्त हो गए तथा उन्होंने नगर के ही एक जिनमंदिर में विश्राम किया। रानी उद्यान-क्रीड़ा के लिए पहुँच गई। इधर मन्दिर में भीड़ एकत्र हो गई और रानी के गलत आहार देने से नगरवासियों में क्षोभ फैल गया।

जब राजा उद्यान-क्रीड़ा से वापिस लौट रहा था, उसे नगर का कोलाहल सुनाई पड़ा। राजा को वास्तविक स्थिति का पता चला तो उसने रानी को राजमहल से निकाल दिया। रानी को क्लेश हुआ और मर गई। मरणोपरान्त रानी भैंस, शूकरी, मृगी की कष्टमय योनियों

---

१. डा० हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी से १९६६ में प्रकाशित.

२. सुगन्धदशमीकथा, प्रस्तावना, पृ० ४.

को पार करती हुई चाण्डालिनी कन्या हुई। माता-पिता दोनों ही की मृत्यु हो गई। उसके शरीर की दुर्गन्ध एक योजन तक पहुँचती थी। इस दुर्गन्ध को चाण्डाल भी सहन नहीं कर सके और उन्होंने उसे एक अटवी में छोड़ दिया। वहां उदुम्बर फलों-पत्तों को खाकर वह जीवित थी।

एक दिन उधर से एक मुनिसंघ विहार करते हुए निकला। एक मुनि ने आचार्य से पूछा कि इतनी दुर्गन्ध किस वस्तु की हो सकती है? आचार्य ने उस चाण्डाल-सुता का नाम लिया और बताया कि रानी श्रीमती ने मुनि सुदर्शन को क्रोधपूर्वक कड़वे फलों का आहार दिया था अतः इस योनि में भटक रही है। पुनः मुनि ने आचार्य से पूछा कि इस स्त्री का पाप कैसे दूर होगा? आचार्य ने जैनधर्म का उपदेश दिया और कहा कि इसका पालन करने पर प्राणीमात्र का कल्याण होता है। चाण्डाल-सुता ने भी उपदेश सुना और धर्म-ध्यानपूर्वक मर गई। इसके बाद वह उज्जैनी के एक गरीब ब्राह्मण की कुरूप कन्या हुई।

अब भी उसकी दुर्गन्ध एक कोस तक जाती थी। एक बार वहां के नन्दभवन में मुनि सुदर्शन का आगमन हुआ। दुर्गन्धा भी मुनि के प्रवचन में पहुँची। सभा में उपस्थित राजा जयसेन ने मुनि से दुर्गन्धा के विषय में पूछा। दुर्गन्धा के पाप को दूर करने का उपाय भी राजा ने मुनि से पूछा। मुनि ने सुगन्धदशमी व्रत पालन करने का उपदेश देकर उसके पालन और उद्यापन की विधि बतलाई।

सौभाग्य से जिस दिन मुनि का उपदेश हुआ उस दिन सुगन्धदशमी ही थी। अतएव सभी ने व्रत का पालन किया एवं जिनेन्द्रदेव का पूजन किया। दुर्गन्धा ने इस व्रत का पालन किया था अतः वह मरकर सुगति में गई। भगवान् महावीर ने राजा श्रेणिक को आगे की कथा इस प्रकार सुनाई : रत्नपुर नगरी में राजा कनकप्रभ अपनी पत्नी कनकमाला के साथ राज्य करते थे। उसी नगर में एक सेठ जिनदत्त थे जिनकी पत्नी जिनदत्ता थी। इनके तिलकमती नाम की एक पुत्री थी जो रूपवती तथा गुणवती थी। सेठानी के मर जाने से सेठ ने दूसरा विवाह कर लिया। उससे तेजमती नामक कन्या उत्पन्न हुई। तिलकमती की सौतेली मां का व्यवहार बहुत कठोर था। सेठ राजा के आदेश से देशान्तर भ्रमण को चला गया तो विमाता का व्यवहार और भी कटु

हो गया। सेठानी ने तिलकमती और तेजमती के विवाह की तैयारी कर ली। तिलकमती को फुसलाकर सेठानी रात्रि में एक श्मशान में छोड़ आई और उसके चारों ओर दीपक रखकर उससे कहा कि तेरा पति रात्रि में यहीं आयेगा और तुझसे विवाह करेगा। राजा नगर की शोभा देखने अपनी अटारी पर चढ़ा तो उसे कौतुक हुआ। अतः वह स्वयं श्मशान गया और सुंदरी से विवाह करके वहीं घर में छोड़ आया। वह प्रतिदिन रात्रि में उसके पास जाने लगा।

कुछ समय बाद सेठ देशान्तर से लौटा। विमाता ने तिलकमती के विषय में झूठी खबरें दीं। सेठ ने राजा से कहा कि मेरी पुत्री ने किसी चोर से विवाह कर लिया है और पूछने पर कहती है कि मैं अपने पति के चरण छूकर ही पहचान सकती हूँ, वैसे नहीं। राजा ने इष्ट मित्रों सहित सेठ के घर पर दावत का प्रबन्ध किया। तिलकमती को आंख पर पट्टी बांध दी गई और उससे सभी अतिथियों के पैर धुलाये गए तो उसने राजा के पैर पकड़ लिए कि यही चोर मेरा पति है। राजा ने विधिपूर्वक विवाह द्वारा उसे स्वीकार किया। सभी ने हर्ष मनाया। विवाहोपरान्त वे लोग जिनमन्दिर गए। वहीं एक मुनि विराजमान थे। मुनि से तिलकमती ने पूछा कि अपने पति के प्रथम दर्शन से ही मेरा उनसे इतना प्रेम क्यों उत्पन्न हुआ ? मुनि ने बताया कि पूर्वजन्म में उसने बहुत कष्ट उठाये और अब सुगन्धदशमी व्रत के प्रभाव से उसे यह भव मिला है। वह राज्य-सुख भोगने लगी। तत्पश्चात् तपस्यापूर्वक अपने प्राणों का परित्याग करके वह ईशान स्वर्ग के विमान में देव हुई। अगले भव में वह देव मनुष्ययोनि में आया और कर्मों का क्षय करके मोक्ष-गामी हुआ।

मयणपराजयचरिउ

हरिदेवकृत मदनपराजयचरित[1] का रचनाकाल डा० हीरालाल जैन के अनुसार १२वीं से १५वीं शती के मध्य ठहरता है[2]। कवि ने रचना को दो संधियों में समाप्त किया है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है :

---

१. डा० हीरालाल जैन द्वारा संपादित, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी से १९६२ में प्रकाशित.

२. प्रस्तावना, पृ० ६१.

अन्य अपभ्रंश-काव्यों की भांति ही कवि ने परमात्मा के चरणकमलों की वन्दना की है। तदुपरान्त अपने अल्पज्ञ होने की स्वीकारोक्ति है। भावनगर नामक पट्टन में मकरध्वज नाम का राजा राज्य करता था। एक दिन राजा अपनी रति-प्रीति नामक दोनों पत्नियों सहित सभा-भवन में बैठा था। वहां महामन्त्री, शल्य, गारव, कर्म, मिथ्यात्व, दोष, आश्रवादि योद्धा बैठे थे एवं अन्य असंख्य नरेश्वर उसकी सेवा में जुटे हुए थे। राजा ने गर्व-गर्जन के साथ कहा कि त्रैलोक्य की महिलाएं भी उसके वश में हैं। कामदेव के इस गर्जन पर उसकी रति-प्रीति रानियों को हंसी आ गई। राजा ने कारण पूछा। रति ने बताया कि सिद्धि रमणी नाम की स्त्री उनके वश में नहीं है। राजा को अत्यधिक विस्मय हुआ। उसने रति से कहा कि उचित-अनुचित मैं नहीं जानता। महिला महिलाओं का विश्वास करती है अतः प्रियतमे! तुम जाओ और उस सिद्धि रमणी को लिवा लाओ। रति के अस्वीकार करने पर काम ने उसे बुरा-भला कहा। येन-केन-प्रकारेण रति ने दूती बनना स्वीकार किया। वह चल दी तो मार्ग में उसे मोह मिल गया और वह उसे कामदेव के पास लौटा लाया। मोह ने काम को समझाया कि रति को नहीं भेजना चाहिए अन्यथा उसे निर्वेद मार्ग में ही नष्ट कर देगा। सिद्धि का विवाह तो जिनेन्द्रदेव से निश्चित होगा अतः उधर का तुम्हारा प्रयास निरर्थक है। इस पर कामदेव क्रुद्ध हो गया और अपने धनुष-बाण के साथ सिद्धि को प्राप्त करने के लिए निकल पड़ा।

मोह ने काम को सलाह दी कि आप युद्ध करने निकले हैं तो पहले शत्रु की शक्ति का तो पता लगा लीजिये। काम ने अपने पंचबाण शस्त्र रख दिये और मोह से पूछा कि जिनेन्द्र का निवासस्थान कहाँ है? मोह ने पूरी कथा बतलाई कि जिनेन्द्र भी पहले भावनगर में रहते थे और भोगासक्त थे। परन्तु संसार में दुर्गति जानकर उन्होंने घर-द्वार सब छोड़कर चरित्रपुरी में निवासस्थान बना लिया। वहाँ वे अकेले नहीं हैं अपितु पाँच महाव्रत, सात तत्त्व, दशविध धर्म, पाँच ज्ञान और सुध्यान, तप, चारित्र, क्षमा आदि सुभट उनके सहयोगी भी हैं। इस प्रकार मोह-मन्त्री ने काम को जिनेन्द्र के सम्बन्ध में सब कुछ बताया। काम ने राग-द्वेष को बुलाकर जिनेन्द्र के पास दूतरूप में भेजा। दूतों से जिनेन्द्र के

पास संदेश भेजा कि या तो जिनेन्द्र आकर काम की सेवा करें या फिर युद्ध के लिए तैयार रहें।

दूत के चारित्रपुर पहुँचने पर जिनेन्द्र की सभा में उपस्थित संज्वलन ने आज्ञा लेकर राग-द्वेष को जिनेन्द्र के सम्मुख उपस्थित किया। काम के दूतों ने जिनेन्द्र से कहा कि आप सिद्धि रमणी से विवाह का विचार छोड़कर काम की सेवा करें जिसमें कल्याण है—यही काम का आदेश है। काम की सेवा से सभी भोगसामग्री—सुख उपलब्ध होगा। जिनेन्द्र ने काम के दूतों से स्पष्ट कह दिया कि मैं सिद्धि रूपी वरांगना को परणूँगा। मैं उस दुर्दम मदन को, तुम्हारे तथा उसके बली सहायक मोह को नष्ट कर डालूँगा। राग-द्वेष दूतों ने निराश लौटकर काम को बताया कि जिनेन्द्र को आपकी बात स्वीकार नहीं है।

मदन ने युद्ध की तैयारी करके रणभेरी बजवा दी। पाँचों इन्द्रियाँ, आर्त्त-रौद्र ध्यान, तीनों शल्य, अठारह दोष, सात व्यसन, पुण्य-पाप, दर्शन-मोह, पांच आश्रवादि योद्धाओं को लेकर जिनेन्द्र पर चढ़ाई कर दी जिससे स्वर्ग में इन्द्र, गोविन्द, त्रिनेत्र, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रादि देव भी शंकित होते हैं। उस मोह को काम ने प्रधान सेनापति बनाया। अन्य योद्धाओं को लेकर काम समुद्र के समान गर्जन करता हुआ जिनेन्द्र पर चढ़ाई करने चल पड़ा।

उधर जिनेन्द्र के पास से राग-द्वेष के लौटने पर जिनेन्द्र ने संवेग को आज्ञा दे दी की रणभेरी बजवा दो। पंचसमितियों की रणभेरी बजते ही रणदक्ष पंचमहाव्रत, दशधर्म, सप्ततत्त्व आदि योद्धा एकत्र हो गए। सम्य-क्त्व को प्रधान सेनापति का पद दिया गया। जिनेन्द्र का अद्भुत प्रभाव था। उनके समीप लब्धियों की ध्वजाएं फहरा रही थीं तथा स्याद्वाद भेरी की ध्वनि गूंजी। जिनेन्द्र स्वयं क्षायिक-दर्शन हाथी पर सवार थे, अनुप्रेक्षा का कवच पहने, समाधि की गदा का प्रहरणरूप धारण किये थे और ललकार रहे थे कि स्मर कहाँ है? स्मर कहाँ है? भव्यों ने नमस्कार किया, सरस्वती ने मंगलगान किया और दया ने आशीर्वाद दिया। इसी समय संज्वलन ने विचार किया कि काम के पास जाना चाहिये। संज्वलन ने काम से जिनेन्द्र की शक्ति को बताकर कहा कि वह वहाँ से भाग जाय इसी में बुद्धिमानी है।

मदन ने संज्वलन से कहा कि चूहों की सेना कभी बिल्ली के ऊपर चढ़ी है ? संज्वलन लौट आया। काम ने अपने प्रधान सेनापति और मन्त्री मोह को बुलाया और कहा कि यदि मैं जिनेन्द्र को आज नहीं जीत सका तो अग्नि में जल जाऊँगा। मोह ने काम को विश्वास दिलाया कि समर में काम का कौन सामना कर सकता है। आकाश में इन्द्र आपसे भयभीत हैं, पाताल में धरणेन्द्र कम्पित हैं। जिननाथ आकाश-पाताल अथवा गिरि पर छिपे बच नहीं सकता। हमलोग जिन को जीतकर, बाँधकर सप्तव्यसन की कोठरी में डाल देंगे।

मदन ने पुनः श्रृंगार भाट को बुला भेजा। उसके आने पर मदन ने कहा कि तू जिनेन्द्र को युद्धभूमि में लाकर मुझे दिखला दे तो तुझे बहुत पारितोषिक मिलेगा। श्रृंगार भाट जिनेन्द्र के पास गया और उनसे कहा कि काम के पास असंख्य योद्धा हैं अतः आप काम की सेवा स्वीकार कर सुख से रहें। सम्यक्त्व ने इतना सुनते ही श्रृंगार को फटकारा कि मैं मिथ्यात्व का मुकाबला करूंगा। पांच इन्द्रियों को पांच महाव्रत जीत सकते हैं। ज्ञान मोह को, शुक्ल ध्यान १८ दोषों को, सात तत्त्व सातों भयों को, श्रुतज्ञान अज्ञान को, तप आश्रवकर्म को जीत सकेगा। जिनेन्द्र ने भाट से कहा कि यदि तू अपने काम को दिखला दे तो मैं तुझे भूमि आदि दान दूंगा। भाट ने कहा कि यदि तू मेरे पीछे-पीछे आए तो मैं एक क्षण में मदन को दिखला दूंगा तथा उसके समीप सारंग पर आक्रमण करने वाले सिंह के समान मोह को भी दिखला दूंगा। निर्वेद को यह सहन नहीं हुआ तो भाट का सीस मुड़ाकर, नाक काटकर उसे बाहर निकाल दिया।

मदन के पूछने पर भाट ने अपनी दुर्दशा का समाचार दिया। मदन बहुत उत्तेजित हुआ। वह वहां से समुद्र की भांति चल पड़ा। चलते समय मदनराज को सर्प की फुफकार, कौए की कांव-कांव सुनाई दी। गृद्ध ऊपर मंडराने लगे, घड़ा फूट गया, पवन के प्रतिकूल चलने आदि जैसे अपशकुन हुए। मदन अपशकुनों से स्तब्ध रह गया। उधर से जिनेन्द्र का सैन्य-संचालन हुआ, उससे गिरिराज टलमला गया, समुद्र, शेषनाग आदि सभी विचलित हो गए। दोनों सेनाएं आमने-सामने जुट गईं और युद्ध होने लगा।

युद्ध की भयंकरता को देखकर मदन की स्त्री रति घबराकर आई और मदन को जिनेन्द्र की अजेयता के विषय में बतलाया। मदन से कहा कि आप सिद्धि से परिणय करके क्या करेंगे? अनेक भांति से रति के समझाने पर भी मदन नहीं माना और कहा कि यह जिनेन्द्र पहले रत्न चोरी करके ले गया, मेरे दूतों को गला पकड़कर निकाला, मेरे भाट का सिर मुड़वा दिया। उसने जो यह सब किया है वह मेरे लिए लज्जास्पद है। जिनेन्द्र बहुत दिनों से गरजता था, आज मेरे सामने समर-भूमि में है, उसे आज मेरी बाणवृष्टि का सामना करना पड़ेगा। इसी बीच बन्दी ने मदन को सम्यक्त्व, संयम, पंचमहाव्रत आदि के साथ जिनेन्द्रदेव को दिखाया।

भाट ने जब इस प्रकार मदन की दृष्टि जिनेन्द्र की ओर खींची तो मकरध्वज की सेना जिनेन्द्र की सेना पर टूट पड़ी। मिथ्यात्व ने जो अग्निबाण छोड़े उनसे जिनेन्द्र की सेना घबड़ाकर भाग उठी। आकाश में ब्रह्मा और सुरेन्द्र ने आपस में बात-चीत प्रारम्भ की। इधर सम्यग्दर्शन ने आकर मिथ्यात्व को ललकारा। मिथ्यात्व ने बिगड़कर मूढत्रय बाणावलि छोड़ी जिसे दर्शन ने षडायतन बाण छोड़कर नष्ट कर दिया। दर्शन ने मिथ्यात्व को तत्त्वरुचि बाणों से मार दिया। यह देख इन्द्र ने ब्रह्मा से कहा कि सम्यक्त्व ने मदन को कैसा परास्त किया। अब स्वयं मोह ज्ञान और दर्शन के सम्मुख आया। मोह एवं अन्य उसके सहयोगी जिनेन्द्र के सेनानियों से परास्त हुए।

सबका मानमर्दन हो जाने पर मदन स्वयं वशीकरण आदि बाणों को लेकर जिनेन्द्र देव के सामने आया। दोनों में उत्तेजक वार्तालाप हुआ। मदन ने अपना मन-हाथी जिनेन्द्र के आगे बढ़ाया जिसे उन्होंने समभाव-रूप मुद्गर से चूर-चूर कर दिया। रति अपने पति को समझाने आई परन्तु उसने एक नहीं सुनी। अन्ततोगत्वा केवलज्ञान के प्रभाव से काम का बल क्षीण होने लगा। तब उसने मोह के उपदेश से २२ परीषहों को छोड़ा। करते-करते मदन मैदान छोड़कर कुपन्थों में जाकर छिप गया। देवराज इन्द्र ने ब्रह्मा से कहा कि देख लो, मदन की हार हो गई। इस प्रकार जिनेन्द्र ने केवलज्ञानरूपी आभूषण धारण किया। इस प्रकार सिद्धि रमणी का जिनेन्द्र ने परिणय किया। विवाह करने के बाद जब जिनेन्द्र क्रीड़ानिमित्त मोक्ष को गमन करने लगे तभी तपश्री ने

आकर प्रार्थना की कि आपके चले जाने के बाद मकरध्वज चारित्रनगर का ध्वंस कर देगा। यह सुनकर जिनेन्द्रदेव ने श्रुतलेख देकर वृषभसेन गणी को भेजा कि वह तपश्री और चारित्रनगर की भली प्रकार रक्षा करे।

अपभ्रंश कथाकाव्यों के कथानकों के विवरणों से उन कथाकाव्यों की विशेषता और उनमें प्रयुक्त कथानकरूढ़ियों पर तो प्रकाश पड़ता ही है, उनके लक्षणों के निर्धारण में भी मदद मिलती है। इस विवेचन से प्राप्त निष्कर्ष के आधार पर हम कह सकते हैं कि संस्कृत कथाकाव्यों और अपभ्रंश काव्यों में कुछ मौलिक अन्तर है। मुख्य रूप से कथानकरूढ़ियों के प्रयोग का अन्तर उल्लेखनीय है। संस्कृत ग्रन्थों में कथानकरूढ़ियों का प्रयोग न हुआ हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। परन्तु अपभ्रंश काव्यों में कथानकरूढ़ियों का प्रयोग खुलकर किया गया है। संस्कृत-अपभ्रंश कथाकाव्यों की वर्णन की परिपाटी में भी शिल्पगत अन्तर प्रतीत होता है।

अधिकतर अपभ्रंश कथाएं या तो लोककथाओं के आधार पर रची गईं या फिर उनमें लोक-उपादानों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। लोकवार्ता के संदर्भ में डा० सत्येन्द्र ने लिखा है—'यह एक जातिबोधक शब्द की भाँति प्रतिष्ठित हो गया है, जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों में असंस्कृत समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियाँ, गीत तथा कहावतें आती हैं। प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत् के सम्बन्ध में मानव स्वभाव तथा मनुष्य-कृत पदार्थों के सम्बन्ध में भूत-प्रेतों की दुनिया तथा उसके साथ मनुष्यों के सम्बन्ध में जादू-टोना, सम्मोहन, वशीकरण, तावीज, भाग्य, शकुन, रोग तथा मृत्यु के सम्बन्ध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। और भी, इसमें विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन के रीति-रिवाज और अनुष्ठान सम्मिलित हैं।'[1] वास्तव में जो कथाएँ लोक-कथाओं की पृष्ठभूमि पर खड़ी की जाती हैं उनमें लोक-संस्कृति की छाप रहती है। अतः वे तत्कालीन समाज की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति को स्पष्ट करती हैं। संभवतः इसीलिए डा० नेमिचन्द्र शास्त्री लिखते हैं कि 'लोक-कथाएँ मानव जाति की आदिम परम्पराओं, प्रथाओं और उसके विभिन्न प्रकार के विश्वासों का वास्तविक प्रति-

---

१. डा० सत्येन्द्र, ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० ४.

निधित्व करती हैं। सारे विश्व में लोककथाओं का रूप प्रायः एक जैसा ही पाया जाता है और विषयवस्तु तथा कथनशैली की दृष्टि से इनमें समान रूढ़ियों और समान अभिप्रायों का ही उपयोग हुआ है। लौकिक सौन्दर्यबोध, लोकचिन्ता की एकरूपता और सामान्य अभिव्यंजना प्रणाली विश्व की लोककथाओं में समान रूप से उपलब्ध हैं।'[1] लोकवार्ता और लोककथा के संबंध में उक्त दो विद्वानों के मत उद्धृत किये गये हैं जिनके आधार पर यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश कथाएँ लोककथाएँ न होते हुए भी उनमें लोक-उपादानों की स्वीकृति है।

अपभ्रंश कथाकाव्यों में कतिपय ऐसी कथानकरूढ़ियाँ चल पड़ी थीं जिन्हें हम उनका रूढ़शिल्प कह सकते हैं। अपभ्रंश काव्यों में समुद्र में नौका-भंग होना, रानी को दोहद होना, एकाधिक जन्मों का विस्तृत विवरण आदि ऐसी रूढ़ियाँ हैं जिनसे कोई ही काव्य मुक्त रह सका हो। हिन्दी प्रेमाख्यानकों की रूढ़ियों के विषय में हम पहले लिख चुके हैं। अपभ्रंश कथाकाव्यों की कथानकरूढ़ियों आदि पर प्रबन्ध के षष्ठ अध्याय में विस्तृत विचार किया जायेगा।



---

१. डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, हरिभद्र के प्राकृत कथा-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० १४५.

अध्याय ६

हिन्दी प्रेमाख्यानकों और अपभ्रंश कथाकाव्यों के शिल्प का तुलनात्मक अध्ययन

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

यों तो आठवीं शती से लेकर सोलहवीं शती तक अपभ्रंश ग्रन्थों का प्रणयन होता रहा किन्तु अपभ्रंश साहित्य का समृद्धतम युग नवीं शती से तेरहवीं शती तक माना गया है।[1] ऐतिहासिक दृष्टि से यह राजनीतिक उथल-पुथल का समय था। किसी भी भाषा का साहित्य अपने युग की सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रवृत्तियों से अपने को अछूता नहीं रख सकता। यही कारण है कि तत्कालीन युग की प्रवृत्तियों की जानकारी के लिए हम उस युग के साहित्य की छानबीन करते हैं। इतिहासकारों ने गुप्तकाल को 'स्वर्णयुग' की संज्ञा दी है। गुप्तकाल की विशेषताओं पर विचार करते हुए ए० सी० चटर्जी ने लिखा है कि गुप्तकाल कला एवं साहित्य की महान् उन्नति का समय था''''और उस समय में शासन समुन्नत तथा सुव्यवस्थित था।[2] उस समय भारतीय संस्कृति का प्रचार सुदूर पूर्व एवं दक्षिण-पूर्व एशिया में भलीभांति होने लगा था। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डा० अल्तेकर लिखते हैं कि 'उस समय के हिन्दू दर्शन के नवीन एवं दृढ़ प्रतिमानों का विकास करने में उतने ही सफल थे जितने कि समुद्री मालवाहक पोतों का

---

१. डा० हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ३४.

2. Gupta period was a time of great activity in art, literature and...the empire was prosperous and well governed.
—सतीशचन्द्र अग्रवाल, भारतीय इतिहास, इलाहाबाद, पृ० १३९ से उद्धृत.

निर्माण करने में।'[1] यही कारण है कि इस काल की तुलना विश्व के पेरिक्लिज आगस्टन तथा एलिजाबेथन युग से की गई है।

राजनैतिक स्थिति

ईसा की छठी शती आते-आते गुप्त साम्राज्य की रीढ़ टूट गयी और वह छिन्न-भिन्न हो गया। फिर भी मगध पर गुप्तों का ही राज्य रहा। सातवीं शतीं के आरम्भिक समय में प्रभाकरवर्धन ने उत्तरी भारत में अपनी शक्ति बढ़ाई। इसके पुत्र हर्षवर्धन ने पुनः उत्तर भारत के विघटित राज्य को संगठित किया और थानेश्वर तथा कन्नौज को भी जीत लिया। बाणभट्ट के हर्षचरित में आसाम प्रदेश के भास्करवर्मन और हर्ष की मैत्री का उल्लेख मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हर्ष ने साम्राज्य-विस्तार किया। परन्तु भारतेश्वर बनने का उसका रूप पुल-केशी द्वितीय ने तोड़ दिया और दक्षिणापथ पर उसका अधिकार न हो सका। यद्यपि भारत को राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में दिनोदिन अस्थिरता की स्थिति आती जा रही थी तथापि हर्ष ने अपने शासन में स्थितियों में सुधार किया और उन्हें स्थिरता प्रदान की। इसका विवरण ह्वेनसांग के भारत-यात्रा के वृत्तान्तों में मिल जाता है। ह्वेनसांग ने सातवीं शताब्दी के लगभग सभी भारतीय राज्यों का उल्लेख किया है। वह यहाँ के शासकों से मिला भी था। हर्ष की शासन-व्यवस्था का जो परिचय उसने दिया है उसे प्रकारान्तर से भारत की मूल राजनीतिक स्थित्ति का भी दस्तावेज कहा जा सकता है। वह लिखता है कि 'शासन-व्यवस्था उदार सिद्धान्तों पर आधारित है। कार्यकारिणी परिषद् साधारण है। लोगों से जबर्दस्ती कार्य नहीं लिया जाता। राज्य-कर भी साधारण ही हैं। व्यापारी स्वतन्त्र रूप से अपना माल बाहर ले जाते और ले आते हैं।'[2] हर्ष के समय की धार्मिक

---

1. The Hindus of that age were as successful in evolving new and bold systems of philosophy as in building large and steady vessels to carry goods over sea. —वही, पृ० १३८.
2. As the administration of the government is founded on benign principles, the executive is simple. People are not subject to forced labour. In this way taxes on people are light. The merchants who engage in commerce come and go in carrying out their transaction. —वही, पृ० १४८.

अवस्था का पता हर्ष को छठी परिषद से लगता है जिसका उल्लेख ह्वेनसांग के जीवन-चरित में किया गया है। हर्ष प्रत्येक वर्ष प्रयाग में एक धार्मिक परिषद करता था जिसमें वह प्रत्येक सम्प्रदाय के धार्मिकों को दान दिया करता था। छठी परिषद के प्रथम दिवस हर्ष ने बुद्ध भगवान् की प्रतिमा प्रतिष्ठित की और विभिन्न प्रकार के रत्न एवं वस्त्रादि वितरित्त किये। दूसरे दिन उन्होंने सूर्यदेव की मूर्ति स्थापित की और दान दिया। तीसरे दिन ईश्वरदेव की मूर्ति स्थापित की और उपहार वितरित्त किये। चौथे दिन १०,००० बौद्ध भिक्षुओं को बहुमूल्य उपहार भेंट किये। इस प्रकार साधुओं-भिक्षुओं के अतिरिक्त दीन-दुःखियों को महीनों तक दान बाँटा गया। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शासन की ओर से सभी धर्मों का समान आदर था। साथ ही बौद्ध धर्म के प्रभाव को बात भी स्पष्ट हो जाती है।

तत्कालीन सामाजिक स्थिति के विषय में ह्वेनसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि परम्परागत जाति-विभेद के चार वर्ग थे। ब्राह्मण सर्वाधिक पवित्र और पूज्य माने जाते थे। ब्राह्मणों के नाम के अन्त में 'शर्मा' लगा रहता था। क्षत्रियों को भी उचित आदर प्राप्त था और वे युद्धप्रिय थे। हर्ष के समय वैश्यों की स्थिति काफी सुदृढ़ थी। उन्होंने कृषि को छोड़कर व्यापार अपना लिया था। शूद्रों की दशा बहुत बिगड़ी हुई थी। इस जातिगत विभाजन के होते हुए भी समाज का नैतिक स्तर ऊंचा था और शिक्षणसंस्थाएं भारतीय संस्कृति के अध्ययन-अध्यापन का कार्य करती थीं।

आठवीं शताब्दी में भारत पर विदेशी आक्रमण प्रारम्भ हो गए। भारतवासियों के लिए यह नई बात तो नहीं थी चूंकि छठी शताब्दी में भारत हूणों को परास्त कर चुका था। परन्तु ७१० ई० में अरबों ने भारतीय प्रदेश सिन्ध पर विजय प्राप्त कर ली। अरबों ने सिन्ध से आगे बढ़ने की जीतोड़ कोशिश की किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। फिर भी आठवीं शताब्दी के मध्य तक अरब सौराष्ट्र और भिन्नमाल राज्यों पर आक्रमण करते रहे। अन्ततः अरबों ने भारत में प्रवेश पा लिया। इस समय भारतीय और अरबी संस्कृतियों का मिलन हुआ। सांस्कृतिक आदान-प्रदान की भूमिका में अनेक भारतीय विद्वान् अरब गये और अरब से अनेक विद्वान् अध्ययन के लिए भारत आये। संस्कृत

भाषा की विभिन्न विधाओं के ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद हुआ और भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार हुआ।[1]

सम्राट हर्ष के समय में भारत की स्थिति शोचनीय नहीं थी। परन्तु उनकी मृत्यु के बाद यहां के राजाओं में मतभेद बढ़ते गए और छोटे-छोटे राज्य स्थापित होने लगे। गुर्जर प्रतिहारों का प्रथम शासक नागभट्ट (७वीं सदी) हुआ। इसने अरबों के आक्रमण का सामना किया। इसके वंश की शक्ति बढ़ी और वत्सराज के प्रतिनिधित्व में गुर्जर प्रतिहारों का कन्नौज पर अधिकार हो गया। इस वंश का पालों से सीमावर्ती क्षेत्रों में सदैव संघर्ष बना रहा। १०वीं शताब्दी तक आते-आते इनमें आपसी फूट हो गई और इनकी शक्ति क्षीण हो गई। गुजरात, मालवा इनके आधिपत्य से मुक्त हो गए। १०२० ई० में गुर्जर प्रतिहारों का राज्य पूर्णतः विघटित होकर कई राज्यों में विभक्त हो गया।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि भारतवर्ष में अनेक शक्तियां उदय में आ रही थीं। आठवीं शती के प्रारम्भिक समय में बंगाल में पालवंशों के राज्य का श्रीगणेश हुआ। इस वंश के राजा धर्मपाल ने दक्षिणी बिहार से लेकर बंगाल तक अपना आधिपत्य जमाकर कन्नौज को भी विजित किया। देवपाल, महीपाल आदि इस वंश के अन्य प्रमुख राजा हुए। इस वंश का ४०० वर्षों तक शासन चला और १२वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इनका पतन हो गया। गुजरात के चौलुक्यों का शासनकाल ९६१-१२४१ ई० तक रहा। इस वंश का प्रथम शासक मूलराज था। १०२४ ई० में भीमदेव के समय में महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया। महमूद गजनवी के गुजरात पहुँचते ही भीम भाग खड़ा हुआ और बचकर निकल गया। १०६४ ई० में भीम का पुत्र कर्ण राजा हुआ। गुजरात में इस वंश के प्रमुख राजाओं में कुमारपाल (११४२–११७३ ई०) का शासन उल्लेखनीय है।

इसी समय में चौहान, चेदि, गहड़वाल, चन्देल और परमार आदि क्षत्रियों की अलग-अलग शक्तियां उभर रही थीं। ये लोग किसी एक

---

१. जयचंद्र विद्यालंकार, इतिहास-प्रवेश, सरस्वती प्रकाशन मंदिर, इलाहाबाद, १९४१, के आधार पर.

शक्ति-संगठन में एकत्रित नहीं हो सके। परिणामस्वरूप फूट दिनों दिन बढ़ती गई। राजनैतिक उथल-पुथल में क्षत्रिय वंशजों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भिक समय में तो ये लोग शक्तिशाली और नीतिनिपुण साबित हुए। आगे चलकर जैसे-जैसे आपसी मतभेद बढ़ते गए वैसे-वैसे शक्ति क्षीण होती गई और मुसलमानों के आक्रमणों का जवाब देने में असमर्थ होकर विलासप्रिय जीवन बिताने के आदी हो गए।

यों महमूद गजनवी का भारत पर प्रथम आक्रमण १००० ई० में हुआ। फिर भी मुसलमानों को भारत पर पूरी तरह आधिपत्य जमाने में कई शताब्दियां लगी थीं। परन्तु वे निरन्तर प्रयत्नशील रहे। १२वीं शताब्दी में पृथ्वीराज चौहान ने मुहम्मद गौरी से टक्कर ली। परन्तु क्षत्रियों की आपसी फूट के कारण कन्नौज के राजा जयचन्द ने पृथ्वीराज का साथ नहीं दिया। अतः पृथ्वीराज को अन्ततः हार खानी पड़ी और दिल्ली गौरी के हाथ पहुँच गई। धीरे-धीरे उसने मध्यभारत को भी हस्तगत कर लिया। इन्हीं सब परिस्थितियों में भारत यवनों के अधीन हुआ। अस्तु।

भाषागत स्थिति

आक्रमणों और राजनीतिक उथल-पुथल के समय भी साहित्यिक रचनाएं होती रहीं। इनकी भाषा के सम्बन्ध में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि 'तुर्की विजय के पहले भारतीय चालू या कथ्य बोलियों में सबसे अधिक प्रचलित यही शौरसेनी अपभ्रंश थी। उन दिनों पश्चिमी अपभ्रंश का स्थान आजकल की हिन्दुस्थानी जैसा था।....पश्चिमी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी कुछ अंशों में ब्रजभाषा हुई। मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ पश्चिमी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी हिन्दी दक्षिण में भी पहुँची।'[1]

१०वीं-११वीं शती के विदेशी आक्रमणों के समय साहित्यिक रचनाओं की भाषा पश्चिमी अपभ्रंश थी—इसका उल्लेख भी डा० चाटुर्ज्या ने किया है। वे लिखते हैं कि १०वीं-११वीं शती में जब अपने मुसलमानी मजहब को साथ लिए हुए तुर्की तथा ईरानियों ने उत्तरी भारत पर आक्रमण करना एवं आधिपत्य जमाना आरम्भ किया था, उस समय राजपूज राजवंशों में साहित्यिक रचनाओं की भाषा, धार्मिक

१. डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १८९.

एवं शास्त्रीय भाषा संस्कृत के अतिरिक्त, पश्चिमी अपभ्रंश ही थी, जिसमें भिन्न-भिन्न प्रदेशों की स्थानीय बोलियों का प्रभाव रहता था। विशुद्ध ब्रज या नव्यभारतीय आर्य अवस्था की हिन्दी का तब तक उदय नहीं हुआ था।[1] इन उद्धरणों से तत्कालीन भाषा एवं उस पर राजनीतिक प्रभाव का संदर्भ रेखांकित होता है। आक्रमणों की स्थिति सामान्य होने पर दोनों संस्कृतियों के मिश्रण एवं समन्वय के परिणाम सामने आये। संभवतः मुसलमान लेखक अद्दहमाण की अपभ्रंश रचना संदेश-रासक (१४ वीं शती) इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

धार्मिक अवस्था

भारत में ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म तो पहले से ही स्थापित थे, उसमें इस्लाम धर्म अतिरिक्त बढ़ गया। ८–१३वीं शती अशान्ति और परिवर्तनों की अवधि थी। विभिन्न धर्मों का कभी उत्थान और कभी पतन होता रहा। मुसलमानी आक्रमणों और उनके देवालयों, धार्मिक स्थलों के विनाश से भक्ति-आन्दोलन को बल मिला। बौद्ध धर्म हर्षवर्धन के समय में ही ह्रास की ओर उन्मुख था। महायान, हीनयान दो शाखाओं के बाद बौद्ध धर्म में कई उपशाखाएं भी हो गईं। महायान में शून्यवाद और विज्ञानवाद की स्थापना हुई। बौद्ध धर्म की एक वज्रयानी शाखा हुई जिसमें मन्त्र-तन्त्र, विषय-भोग, देवपूजा आदि की रुचि के अनुसार खुली छूट मिली। सहजयानी सम्प्रदाय में भ्रष्टाचरण को कोई रोक नहीं सका। अतएव पाखण्डों को जनता अधिक दिन तक सहन नहीं कर सकी। आठवीं शताब्दी में बंगाल के पाल राज्य ने बौद्ध धर्म को प्रचारित करने में सहयोग दिया। यहीं से बौद्ध धर्म नेपाल और तिब्बत पहुँचा। भारत में बौद्ध धर्म का विकास नालन्दा और विक्रमशिला के नष्ट होने तक ही हो सका। उसकी पांच–छः पीढ़ियों बाद ही बौद्ध धर्म समाप्तप्राय हो गया।

जैनधर्म की स्थिति लगभग सामान्य रूप से एक समान रहती आई। जैन पंचमकारों से सदैव दूर रहे अतः बौद्ध धर्म के समान उन्हें दुर्दिन नहीं देखने पड़े। इस काल के राष्ट्रकूट (७५३–९७५) और सोलंकी-गुर्जर (९६१–१२५७) राजा जैनधर्म से बहुत प्रभावित थे। फिर भी इन्होंने अपने राज्य की सुरक्षा के लिए युद्ध से कभी मुख नहीं

१. वही, पृ० १८९.

मोड़ा। वस्तुतः जैनधर्म क्षत्रियों एवं वीरों ने ही स्वीकार किया था तथा उन्होंने यवनों और शकों को युद्ध में लोहे के चने चवाये थे। परन्तु धीरे-धीरे यह व्यापारियों का धर्म बनकर रह गया और क्षत्रियोचित धर्म उनमें से जाते रहे। जिस अपभ्रंश की पृष्ठभूमि की चर्चा हम कर रहे हैं उसमें यह स्मरणीय है कि अपभ्रंश साहित्य के प्रणयन एवं उसके संरक्षण का श्रेय सर्वाधिक जैनों को ही मिला है। इस काल में जैनाचार्यों ने दर्शन, ज्योतिष, नाटक, काव्य, आयुर्वेद, व्याकरण आदि सभी विषयों पर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में ग्रन्थ लिखे। जैनाचार्यों ने सदैव उस समय की प्रचलित भाषाओं को अपने ग्रन्थों का आधार बनाया। यही कारण था कि इस काल की अधिकांश रचनाएं देशभाषा में—अपभ्रंश में—लिखीं गईं। विशेषकर इसमें चरितादि कथाकाव्य अधिक लिखे गए।

अन्य धर्मों की भांति ही जैनधर्म को भी दिगम्बर, श्वेताम्बर दो शाखाएं हो गईं। इसका प्रचार-प्रभाव समस्त भारत में फैल गया। ११-१२वीं शताब्दी में पश्चिम भारत में जैनधर्म, दक्षिण में शैवधर्म, पूर्व तथा उत्तर में वैष्णवधर्म विशेषरूप से फैला था।[1] अब इन सभी धर्मों के विचार-भेदों से समाज में अनेक परिवर्तन आये। विचार-भेदों से भारतीय समाज में वैमनस्य का विष फैलने लगा। ये धार्मिक विवाद चलते रहे। ११वीं शती के प्रारम्भ में इस्लाम ने भारत में जगह बना ली और भारत पर उसकी संस्कृति का प्रभाव पड़ने लगा। इस्लाम और हिन्दुओं में धार्मिक कलह जारी रहा। इसी समय हिन्दू-मुस्लिम दोनों ही धर्मों के कुछ ऐसे संत हुए जिन्होंने मतभेदों को मिटाने का प्रयत्न किया।

सामाजिक स्थिति

इस काल की परिस्थितियों के कारण हिन्दुओं के बहुप्रचलित चार वर्ण अनेक जातियों-उपजातियों में विभक्त हो गए। फलतः सामाजिक व्यवस्था एवं एकता की रीढ़ टूट गई। ऐसे अवसर का लाभ विदेशी आक्रमणकारी मुसलमानों ने उठाया। विघटित और असंगठित जातियां मुसलमान आक्रमणकारियों का सामना करने में असमर्थ रहीं। चारों

१. अपभ्रंश-साहित्य, पृ० २९.

वर्णों के नियमपालन का आधार मनुस्मृति थी। फिर भी कतिपय क्षत्रिय नरेशों ने शस्त्र और शास्त्र दोनों विद्याओं पर समानाधिकार प्राप्त किया। राजा भोज पंडितों के आश्रयदाता भी थे और स्वयं एक प्रकाण्ड विद्वान् भी। भोज के चाचा मुंजराज को अपभ्रंश का कौन-सा पाठक नहीं जानता ? मुंज न स्वयं अपभ्रंश का कवि था बल्कि अपने रोमांटिक व्यक्तित्व के कारण अनेक प्रेमाख्यानों का नायक भी। कहने का तात्पर्य यह कि शास्त्र-ज्ञान में ब्राह्मण ही पारंगत हो सकता था, यह इन राजाओं ने असिद्ध कर दिया था। स्मृति के अनुसार कृषिकर्म वैश्यों का ही था। परन्तु धर्म परिवर्तन कर लेने से वैश्यों ने अधिकतर यह कर्म छोड़ दिया। अतः शूद्रों को यह भार भी वहन करना पड़ा। ९वीं-१०वीं शताब्दी तक ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के लिए भी कृषिकर्म त्याज्य नहीं रह गया था। इन सब बातों के रहते जाति-पांति के भेद बढ़ते जा रहे थे। छुआछूत का रोग चरम सीमा तक पहुँच गया। बाल-विवाह की प्रथा चल पड़ी। जम्बूस्वामीचरिउ आदि अपभ्रंश रचनाओं से पता चलता है कि राजाओं एवं सेठों में बहुपत्नी प्रथा भी थी।

इस प्रकार १४वीं--१५वीं शताब्दी तक जहां एक ओर भारतीयों का राजनैतिक जीवन छिन्न-भिन्न हो रहा था वहां दूसरी ओर सामाजिक जीवन भी अस्त-व्यस्त हो गया था। फिर भी हिन्दू समाज की धार्मिक चेतना विलुप्त नहीं हुई थी, सुसुप्त अवश्य हो गई थी। यही कारण था कि विदेशी सभ्यता और संस्कृति का बीजारोपण होने पर भी भारतीयों ने उसे जमने नहीं दिया। मुसलमानी आक्रमण के बाद देश के समन्वयवादी धर्मवेत्ता पुरुषों की प्रेरणा से एक नई मिली-जुली संस्कृति पैदा होने लगी थी।

साहित्यिक अवस्था

साहित्यिक अवस्था की दृष्टि से इस काल का महत्त्व कम नहीं है। महापंडित राहुलजी का इस काल के सम्बन्ध में कथन है कि 'हमारा यह साहित्य-युग उस वक्त आरंभ होता है, जब कि बाण और हर्षवर्धन को रंगमंच छोड़े बहुत देर नहीं हुई थी। कवियों में अश्वघोष, भास, कालिदास, दण्डी, भवभूति और बाण की कृतियाँ बहुत चाव से पढ़ी जाती हैं। स्वयंभू ने इन पुराने कवियों के प्रति अपनी कृतज्ञता साफ

प्रकट की है।"[1] जैसा कि इस युग की राजनीतिक अवस्था का विवेचन करते समय हम देख चुके हैं कि अनेक छोटे-छोटे राज्य थे। उनमें बहुत से कवियों को राज्याश्रय प्राप्त था। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि रजवाड़ों अथवा सामन्तों के लिए ही इस युग में काव्य रचे गये अपितु साधारण जनता के लिए भी कथाकाव्यों की रचनाएँ हुईं। प्रबन्ध के पांचवें अध्याय में विवेचित लीलावईकहा, समराइच्चकहा, भविसयत्त-कहा, पउमसिरिचरिउ, जसहरचरिउ, णायकुमारचरिउ, जम्बूसामिचरिउ, करकंडुचरिउ, सुअंधदहमीकहा, मयणपराजयचरिउ आदि रचनाएँ इसी काल (८वीं से १५वीं शती) की अपभ्रंश रचनाएं हैं।

अपभ्रंश-हिन्दी प्रेमाख्यानकों में पूर्वापर सम्बन्ध

हिन्दीसाहित्य के इतिहासकारों ने काल-विभाजन की दृष्टि से १०५० ई० से हिन्दी साहित्य का आरम्भ स्वीकार किया है। जैसा कि हम देख चुके हैं, अपभ्रंश साहित्य की रचनाएँ ८वीं शताब्दी से १६-१७वीं शती तक होती रहीं। हिन्दी प्रेमाख्यानकों में सबसे पहला प्रेमाख्यान चन्दायन (१३५० ई०) उपलब्ध है। अपभ्रंश कथाकाव्यों एवं हिन्दी प्रेमाख्यानकों में पूर्वापर क्रमिक सम्बन्ध है। इसका कारण यह है कि अपभ्रंश कथाकाव्यों के सर्जनकाल और हिन्दी प्रेमाख्यानकों के रचना-काल के मध्य में कोई अन्तराल नहीं है। कुछ समय तक हिन्दी प्रेमा-ख्यानक और अपभ्रंश कथाकाव्य समानान्तर रूप से भी लिखे जाते रहे। अपभ्रंश कथाकाव्यों एवं हिन्दी प्रेमाख्यानकों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश कथाकाव्य हिन्दी प्रेमाख्यानकों के ही पूर्व प्रच-लित शिल्प-विधान में रचे गये—अर्थात् हिन्दी प्रेमाख्यानकों का शिल्प अपभ्रंश कथाकाव्यों के शिल्प का ही ऐतिहासिक विकास है। उदाहरण के लिए इनके कथा-विन्यास, चरित्र, कथोद्देश्य, वस्तुवर्णन आदि का क्रमशः तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्यक है।

कथा-विन्यास

कथा-विन्यास किसी कथाकाव्य को अच्छा-बुरा साबित करने की कसौटी है। यही कारण है कि एक श्रेष्ठ कथाकार अपनी रचना को पूर्वनियोजन के आधार पर विन्यस्त करता है। इस संदर्भ में अपभ्रंश

---

१. पं० राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी-काव्यधारा, १९५५, पृ० ४५.

कथाकाव्यों के रचयिताओं की सराहना करनी होगी। लगता है अपभ्रंश कथाकारों ने संस्कृत के लक्षणकारों की मान्यताओं का भी ध्यान रखा। संस्कृत साहित्य के प्रमुख आचार्य रुद्रट ने कथा का जो लक्षण दिया है[1] उसमें वे लिखते हैं—'रचयेत् कथाशरीरं पुरेव पुरवर्णकप्रभृतीनि' अर्थात् कथा की रचना 'पुर' की तरह करनी चाहिये। रुद्रट के इस मत को या तो नज़रन्दाज कर दिया गया अथवा जानकर भी लोगों ने इसे महत्त्व नहीं दिया है। इस प्रसंग का जो भी कारण रहा हो किन्तु तथ्य यह है कि रुद्रट के इस लक्षण को कथाओं के मूल्यांकन की दृष्टि से देखा जाये तो निःसन्देह यह प्रामाणिक होगा। अर्थात् कथा का पुर की तरह विन्यास होता है। पुरविन्यास और कथाविन्यास का प्रश्न विचारणीय है।

पुरविन्यास और कथाविन्यास

प्राचीन साहित्य में 'पुर' शब्द नगर के अर्थ में प्रयुक्त होता था। उदाहरणार्थ—तैत्तिरीयसंहिता में नगर शब्द का उल्लेख पुर के अर्थ में ही हुआ है।[2] 'पुर' शब्द का उल्लेख तैत्तिरीयब्राह्मण[3], ऐतरेयब्राह्मण[4] और शतपथब्राह्मण[5] में मिलता है। पिशेल के अनुसार प्राकार एवं परिखा से परिवेष्ठित नगर 'पुर' कहलाता था।[6] उल्लिखित पुर के विन्यास के लिए विभिन्न ग्रन्थों में नगर-निवेशन, नगर-स्थापन, नगर-विन्यास, नगर-विनिवेश, पुर-निवेशन, पुरस्थापन, नगर-करण और नगर-मापन जैसे अन्य शब्दों का प्रयोग किया गया है।[7] हिन्दी-विश्वकोश में 'पुरनिवेश या नगरनियोजन नगरों, कस्बों और गांवों के प्रसार का, विशेषकर उनमें भवन-निर्माण हेतु भूमि के और संचरण व्यवस्था के

---

१. देखिए—'श्रमण', नव०-दिस० अंक, १९६७, पृ० ४७–४९ पर लेखक का लेख.
२. नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेत—तैत्तिरीयसंहिता, १.२.१८.३१.४.
३. तैत्तिरीयब्राह्मण, १.७.७५.
४. ऐतरेयब्राह्मण, १.२३.२.११.
५. शतपथब्राह्मण, ३.४.४.३.
६. वेदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ५३९.
७. डा० हृदयनारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृ० २३१.

विकास का, नियोजन करने के लिये सामयिक गतिविधि' को कहा गया है।[1] भारतीय वास्तु वाङ्मय में विश्वकर्मीयशिल्प, मानसार, मयमत और समरांगणसूत्रधार जैसे प्रतिष्ठित ग्रन्थों में इस विषय पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।[2] आदिपुराण में नगर उसे कहा गया है जिसमें परिखा, गोपुर, अटारी और प्राकारमण्डित नाना प्रकार के भवन हों, जो जलाशय और उद्यान से युक्त हों। पानी निकालने के लिए नालियां भी जहाँ बनी हों।[3]

पुरविन्यास के लिए योग्य शिल्पियों द्वारा योजना प्रस्तुत कराई जाती थी। उसी पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार पुरविन्यास का कार्य पूर्ण किया जाता था। डा० उदयनारायण राय ने 'प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन' नामक अपने शोध-प्रबन्ध में पुरविन्यास सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित किए हैं। उनके अनुसार पुरविन्यास की संक्षिप्त योजना इस प्रकार कार्यान्वित होती थी :

१. **भूपरीक्षा** : किसी भी नगर के निर्माण के पूर्व भूमि का निर्धारण करना आवश्यक था। भूमि के चुनाव में प्राचीन विशेषज्ञों के विचारों को महत्त्व दिया जाता था। अनेक ग्रन्थों में नदियों के संगम पर अथवा नदियों के तट पर या पर्वत के पास पुर का बसाना उत्तम माना गया है।

२. **बलिकर्मविधान** : भूमि का निर्धारण करने के बाद उसके शोधन का कार्य किया जाता था। भूमि-शुद्धिकरण के लिये पूजा चढ़ाई जाती थी जिसे 'बलिकर्मविधान' की संज्ञा दी गई। एक प्रकार का भूमि पर अनुष्ठान होता था जिसके बाद भूमि शुद्ध मान ली जाती थी और सम्राट विभिन्न वस्तुएं दान करता था।

---

१. हिन्दी विश्व-कोश, भाग ७, पृ० २४३.

२. वही.

३. परिखागोपुराट्टालवप्राकारमण्डितम् ।
नानाभवनविन्यासं सोद्यानं सजलाशयम् ॥
पुरमेवंविधं शस्तमुचितोद्देशसुस्थितम् ।
पूर्वोत्तरप्लवाम्भस्कं प्रधानपुरुषोचितम् ॥ —आदिपुराण, १६.१६९-७०.

३. नगर-चिह्न : भूमि-शोधन क्रिया के बाद नगर के विभिन्न भागों परिखा, प्राकार, दुर्ग, राजपथ तथा अन्य स्थानों—भवनों की निर्माणयोजना के अनुसार भूमि पर धातुनिर्मित कीलों को गाड़ दिया जाता था और उन्हें मजबूत धागों से एक-दूसरे के साथ बांध दिया जाता था। इस प्रकार सभी स्थान निर्दिष्ट कर दिये जाते थे।

४. सुरक्षा के साधन : नगर-नियोजन के पूर्व उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध कर लिया जाता था। ये साधन दो प्रकार के होते थे : १. प्राकृतिक—नदी, पर्वत आदि, २. कृत्रिम—परिखा, प्राकार आदि। सर्वप्रथम परिखा का निर्माण किया जाता था। परिखा से निकलने वाली मिट्टी द्वारा ही वप्र का निर्माण किया जाता था और इस पर विषैले-कटीले पौधे लगा दिये जाते थे। परिखा ३ प्रकार की—जलपरिखा, रिक्त-परिखा और पंकपरिखा होती थी।

५. प्राकार : परिखा के बाद जो वप्र होता था उसी के ऊपर पर-कोटा या चहारदीवारी बनाई जाती थी। यह नगर की सुरक्षा का अभेद्य साधन माना जाता था। प्राकार की संख्या बड़े-बड़े नगरों की एकाधिक भी होती थी। इन प्राकारों पर चारों दिशाओं में बुर्ज भी बनाये जाते थे।

६. गोपुर : नगर के प्राकार में जो द्वार होते थे उन्हें गोपुर कहा जाता था। इन द्वारों की संख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से मानी गई है। परन्तु सभी में ४ प्रधान द्वार होते थे जिनमें मजबूत फाटक लगे होते थे।

७. नगरों का आकार : नगरों के चौकोर, आयताकार, वृक्षाकार, समानान्तर चतुर्भुजाकार, अर्धचन्द्राकार, भुजंगाकार और त्रिभुजाकार होने का प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है।

८. राजमार्गों का निर्माण : परिखा आदि के निर्माण के पश्चात् राजमार्गों का निर्माण किया जाता था। इसका उद्देश्य यह रहता था कि भवनों के निर्माण को यदि पहले किया जाता तो राजपथों का कम चौड़ा होना या टेढ़े-मेढ़े होना सम्भावित था। ये राजमार्ग नगरों के आकार, आबादी के हिसाब से तथा सुरक्षा की दृष्टि से बनाये जाते थे। राजमार्गों के साथ ही छोटे-छोटे मार्ग भी बनाये जाते थे। ये जहां एक-दूसरे को काटते थे वहां चौराहे बनते थे।

९. हाट : राजमार्गों के किनारे-किनारे हाटों का निर्माण किया जाता था। इन हाटों की संख्या नगरों के छोटे-बड़े होने के हिसाब से होती थी।

१०. पुरभूमि का वितरण : राजमार्गों के बाद राजप्रासाद, उच्चाधिकारियों के निवास-स्थान एवं अन्य नागरिकों तथा कर्मचारियों के भवनों के लिए भूमि का वितरण किया जाता था। और तब इन सबका निर्माणकार्य किया जाता था।

उक्त विधि से नगर-नियोजन होता था। नगर-सन्निवेश की विभिन्नता थी। नगरों का विभाजन राजधानी, पत्तन, द्रोणमुख, पुटभेदन, निगम, स्थानीय, खर्वट और खेट के रूप में मिलता है।

आचार्य रुद्रट का 'पुर के समान कथाविन्यास' के होने का कथन पुरविन्यास और कथाविन्यास के तुलनात्मक अध्ययन से अधिक स्पष्ट हो सकेगा। पुरविन्यास के लिए पहले योजना बनाई जाती है। ठीक इसी तरह किसी कथा की रचना के पूर्व रचनाकार अवश्य ही अपनी कथा का प्रारूप अथवा विषय-प्रारूप निर्धारित करता है। पूर्व नियोजन के सम्बन्ध में रचनाकार को रचना के पूर्व उसका नियोजन किसी-न-किसी रूप में अनिवार्य होता है। इस प्रकार पूर्व नियोजन सम्बन्धी सिद्धान्त में कथाविन्यास और पुरविन्यास में समानता देखी जाती है।

द्वितीय बात पुरविन्यास में भूमिपरीक्षा की आती है अर्थात् यह देखा जाता है कि किस स्थान पर नगर-नियोजन किया जाये जो प्रत्येक दृष्टि से उपयुक्त हो। इधर कथाविन्यास में कथाकार प्रथम अपना 'प्लाट' कथानक खोजता है। वह अपने मनोनुकूल और युगानुरूप विषय चुनता है। 'प्लाट' शब्द भूमिखंड और कथावस्तु दोनों के लिए आज भी समान रूप से प्रयुक्त होता है। पुनः पुरविन्यास की भूपरीक्षोपरान्त भूमि-शोधन का पूजा-कार्य किया जाता है जिससे निर्माणकार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो। कथा-विन्यास के अन्तर्गत मंगलाचरण-स्तुति आदि इसी विधि के समान हैं। कथा की निर्विघ्न पूर्णता के लिए ही ऐसा किया जाता है।

पुरविन्यास में नगर-चिह्न बना लिये जाते हैं। कथाविन्यास में भी कथा को कई भागों में विभक्त देखा जाता है। किस परिच्छेद, अंश या

अध्याय में क्या रहेगा उसी के अनुसार रचनाकार उसे चिह्नांकित करता है। नगर-निर्माण में सुरक्षा के साधन के रूप में परिखा, प्राकार आदि की रचना होती है तो कथा को सुगठित बनाने के लिए कथानक की सीमा-रेखाएं तै कर ली जाती हैं। नगरों में प्रवेशद्वार, गोपुर आदि होते हैं तो कथाओं में परिच्छेद और अध्यायादि होते हैं। कथानक में प्रवेश करने के लिये इन्हीं परिच्छेदों या खण्डों को जानकर ही आगे का प्रवेश सुगम्य होता है। नगरों का सौन्दर्य वहाँ के उद्यानों, सरोवरों, चित्र-शालाओं एवं हाटों आदि के सुन्दर निर्माण पर आधारित होता है। श्रेष्ठ कथानकों में उक्त वस्तुओं के सरस वर्णनों से कथानक की शोभा बढ़ती है। आचार्य रुद्रट की परिभाषा विवेच्य प्रेमाख्यानकों पर कहीं पूर्णरूप से और कहीं अधिकांशरूप से लागू होती है। यह बात पुर-विन्यास और कथाविन्यास के तुलनात्मक अध्ययन को दृष्टि में रखकर प्रमाणित सिद्ध होती है। इतना ही नहीं अपितु नगरों के नामकरण के समान ही कथाओं के नामकरण की परिपाटी भी हमारे सामने है। वाल्मीकि-रामायण के अनुसार अलम्बुषा नामक एक अप्सरा थी जिसके गर्भ से इक्ष्वाकु नामक एक परम धार्मिक एवं पराक्रमी नरेश को विशाल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसी ने वैशाली नामक नगर की नींव डाली।[1] इसी तरह पाटलिपुत्र के नामकरण के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि पाटलि वृक्ष के पुत्र के घर के चतुर्दिक इस नगर के बसने के कारण इसका नाम पाटलिपुत्र पड़ गया।[2] वरुणा और अस्सी नदियों के तट पर बसने के कारण वाराणसी नाम पड़ा। पुराणों के अनुसार निमि के पुत्र मिथि के नाम के आधार पर मिथिला नाम पड़ा।[3] कहने का तात्पर्य यह कि नगरों के नाम श्रेष्ठ व्यक्तियों, नदियों, पर्वतों आदि के नाम पर रखे जाते थे। इसी प्रकार हम कथाओं के नामकरण को भी देख सकते हैं। पूर्व विवेचित अपभ्रंश कथाकाव्यों के नामों से स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि उनका नामकरण कथा के प्रधान नायक, नायिका अथवा विषय के आधार पर किया जाता था। यदि नागकुमारचरित नामक

---

१. डा० उदयनारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृ० १४०.

२. वही, पृ० १५०.

३. वही, पृ० १७९.

कथाकाव्य है तो उसमें मूलकथा नागकुमार को लेकर ही चलेगी। करकंडुचरिउ नाम है तो उसमें उसी व्यक्तित्व का चरित्रांकन मिलेगा। ठीक यही पद्धति हिन्दी प्रेमाख्यानकों ने स्वीकार की और कथा के नायक या नायिका अथवा दोनों के नाम पर ही काव्य का नाम रखा। उदाहरणार्थ—मधुमालती, मृगावती, चन्दायन, माधवानल-कामकन्दला, छिताईवार्ता, कनकावली, पुहुपावती, लैला-मजनूँ आदि।

कथाकाव्यों के चरित्र

अपभ्रंश कथाकाव्यों में अधिकांश रचनाएं चरितसंज्ञक ही हैं। उनमें चरितनायकों के चरित्र को उत्तम कोटि का सिद्ध करने के लिए कथाकारों ने अपनी प्रतिभा का पूर्ण सदुपयोग किया है। सम्भवतः इसका मूल कारण अपभ्रंश रचनाकारों की धार्मिक भावना रही है। चूंकि अपभ्रंश के कथाकाव्यों में प्रायः जैन शलाकापुरुषों में से ही किसी के चरित को कथा का विषय बनाया गया है। दूसरी बात यह कि रचनाकार उत्कृष्ट कोटि के चरित्रों के माध्यम से समाज में अच्छे चरित्रों के निर्माण की भी अपेक्षा रखता है। प्रायः अपभ्रंश काव्यों में चरित नायक अथवा प्रधान पात्र के अतिरिक्त अन्य प्रासंगिक पात्रों के चरित्र पर विशेष दृष्टि नहीं रखी गई। संस्कृत के काव्य अपभ्रंश काव्यों से चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भिन्न प्रारूप में रचे गए। चरित्र-चित्रण की अपेक्षा संस्कृत काव्यों में रस-अलंकारों का विशेष ध्यान रखा गया। हिन्दी प्रेमाख्यानकों की चरित्र-चित्रण की पद्धति पर अपभ्रंश कथाकाव्यों का प्रभाव पड़ा।

अपभ्रंश काव्यों में कुछ पात्र ऐतिहासिक और कुछ काल्पनिक चुने जाते रहे। ऐतिहासिक और काल्पनिक कथाओं का मिश्रण करके कथाओं का न्यास किया जाता था। इस परम्परा का भी हिन्दी प्रेमाख्यानकों में पालन किया गया। कौतूहलकृत लीलावतीकथा का नायक सालिवाहन ऐतिहासिक व्यक्ति है। कवि ने कथा की नायिका लीलावती को सिंहल की राजकुमारी के रूप में अंकित किया है। हर्ष (सातवीं शती) ने अपनी रत्नावली नाटिका में रत्नावली को सिंहल की राजकुमारी बताया है।[1]

---

१. रत्नावली नाटिका, अंक ४.

करकंडुचरिउ में करकंडु भी सिंहल की राजकुमारी रतिवेगा से विवाह करता है। कहने का तात्पर्य यह कि उन दिनों सिंहल प्रदेश की स्त्रियों के सौन्दर्य की निजंधरी कथाएं प्रचलित थीं। हिन्दी प्रेमाख्यानक पदमावत का ऐतिहासिक नायक रतनसेन भी सिंहल की पद्मिनी के वियोग में मारा-मारा फिरता है। सिंहल की राजकुमारियों को लेकर हिन्दी-प्रेमाख्यानकों से पूर्व अनेक रचनाएं हुईं।

चरित्रों की मुख्य विशेषताएं

नायकों के चरित्र को ऊंचा उठाने के लिए नायक को अतिशय पराक्रमी सिद्ध किया जाता है। जो कार्य कोई व्यक्ति कठिनाई से भी नहीं कर सकता उसे इन कथाओं का नायक निमेष मात्र में कर डालता है। प्रायः हो अपभ्रंश कथानायकों के चरित्र में यह अभूतपूर्व प्रतिभा दिखाई पड़ती है। करकंडुचरिउ में करकंडु सिंहल से रतिवेगा के साथ समुद्री मार्ग से लौट रहा था तो एक भीमकाय मच्छ ने उनकी नौका पर आक्रमण किया। करकंडु मल्ल-गांठ बांधकर समुद्र में कूद पड़ा और मच्छ को मार डाला। इसी प्रकार णायकुमारचरिउ में एक मदोन्मत्त हाथी को (जो किसी के वश में नहीं आ रहा था) नागकुमार ने पलभर में मार गिराया। यह सब नायक को पराक्रमी सिद्ध करने के लिए किया जाता था। यही बात हिन्दी प्रेमाख्यानकों के नायकों के चरित्र में देखने को मिल जायेगी। किसी में नायक को राक्षस को परास्त करना पड़ता है तो किसी में योगी वेश धारण कर भटकना पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह कि अपभ्रंश के काव्यों में नायकों के चरित्रोत्थान के लिए जो प्रक्रियाएं अपनाई गई हैं ठीक वे ही अथवा उनसे मिलती-जुलती बातें हिन्दी प्रेमाख्यानकों के पात्र-पात्राओं के चरित्र में देखने को मिल जाती हैं।

अपभ्रंश चरितनायकों में एक विशेषता और पाई जाती है वह यह कि वे एकाधिक नारियों से परिणय करते हैं। कहीं-कहीं वे कुमारियों द्वारा बाध्य कर दिये जाते हैं जिससे उन्हें परिणय के बाद ही मुक्ति मिलती है। जैसे करकंडु ने समुद्र में मच्छ को तो मार डाला परन्तु उसे एक विद्याधरी हरण करके ले गई। जब उसने उससे परिणय कर लिया तब करकंडु उसको साथ लेकर रतिवेगा से मिल सका। इसी प्रकार भविसयत्तकहा में कथा का नायक प्रथम शादी एक सुनसान नगर में

स्थित अतीव सुन्दर कन्या से करता है। पुनः गजपुर के राजा की युद्ध में सहायता करता है। विजयी होने पर राजा सुमित्रा नामक अपनी कन्या से भविष्यदत्त का विवाह कर देता है। णायकुमारचरिउ का नायक नागकुमार चौदह कुमारियों का विभिन्न स्थितियों में वरण करता है। प्रायः ही यह अपभ्रंश काव्यों के नायकों की चरित्रगत विशेषता है। इन सब में नायक सब कुछ अपनी असाधारण शक्ति द्वारा ही प्राप्त करता है। हिन्दी प्रेमाख्यानकों के नायकों में भी बहुविवाह की बात देखने में आती है। दामोकृत लखमसेन-पद्मावती कथा का नायक दो विवाह करता है। मधुमालती कथा में नृपति कंवर कर्ण और पद्मावती की अन्तर कथा आती है, उसमें कर्ण को ६१ शादियां करते दिखाया गया है। इसी प्रकार रसरतन, चन्दायन आदि के नायकों को भी एकाधिक रानियां थीं। अपभ्रंश कथाकाव्यों के नायकों की भांति ही हिन्दी प्रेमाख्यानकों में भी नायकों के चरित्र का विकास दिखाया जाता है।

कथोद्देश्य

कथोद्देश्य की दृष्टि से अपभ्रंश एवं हिन्दी प्रेमाख्यानकों में समानता दृष्टिगत होती है। सर्वालंकारविभूषित राज्यकन्या की प्राप्ति संस्कृत कथाओं का ही उद्देश्य नहीं था बल्कि अपभ्रंश और हिन्दी में भी इसे एक महत्त्वपूर्ण कथोद्देश्य माना गया। हिन्दी कवियों की प्रेमकथाओं में सिंहल की पद्मिनी का अनिर्वचनीय आकर्षण बार-बार चित्रित हुआ है। जायसी के पदमावत में पद्मावती को सिंहल की राजकुमारी बताया गया है। सिंहल की राजकुमारियों को लेकर कथानक गढ़ने की प्रथा रूढ़ हो चुकी थी। कौतूहलकृत लीलावईकहा, भविसयत्तकहा, करकंडुचरिउ, जिनदत्तचरित आदि में सिंहल की राजकुमारियों को लेकर कथाएं मिलती हैं। अपभ्रंश कथाकाव्यों एवं हिन्दी प्रेमाख्यानकों के कथानकों में भावसाम्य तो प्रायः देखा जाता है। अपभ्रंश प्रेमाख्यानकों में कन्याप्राप्ति के फल के अतिरिक्त कुछ और भी लक्ष्य है। अर्थात् काव्य की समाप्ति नायक को कन्याप्राप्ति कराने के बाद ही नहीं कर दी जाती। इस बात में अपभ्रंश के काव्यों ने संस्कृत लक्षणकारों की मान्यताओं का पालन नहीं किया। जैसा कि अपभ्रंश कथाकारों पर आरोप किया जाता रहा है कि वे साम्प्रदायिक भावनाओं के वशीभूत थे और धर्मविशेष के प्रचार के लिए काव्य लिखते थे। किसी हद तक बात सच हो सकती है

परन्तु अपभ्रंश कथाओं में प्रेमाख्यानकों का होना सिद्ध है, साथ ही कन्याप्राप्ति का फलरूप भी विद्यमान है। मनुष्य के लिए इसके आगे भी कुछ करना रहता है, यह भारतीय दर्शन है। इसी भारतीय दर्शन के अनुसार उन काव्यों में नायक को सांसारिक मौज-मस्ती ले लेने के बाद किसी मुनि के सदुपदेश से धर्म की मान्यताओं के अनुसार मोक्ष अथवा स्वर्गादि पारलौकिक गति प्रदान कराई जाती है। यही उनका कथोद्देश्य हो जाता है। संस्कृत कथाएं प्रायः उस भारत की उपज हैं जो विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित समृद्धि और निश्चिन्तता में जी रहा था। अपभ्रंश और हिन्दी के प्रेमाख्यानों में यदि इस लोक के सुख के अलावा कुछ और भी चित्रित हुआ तो इसे हम तत्कालीन परिवेश की बाध्यता तथा धार्मिक आन्दोलनों का परिणाम मान सकते हैं। हिन्दी प्रेमाख्यानकों पर इस प्रवृत्ति का पूरा प्रभाव पड़ा। सूफी काव्य तो आध्यात्मिक उद्देश्य से लिखे ही गए, संस्कृत परम्परा का अनुसरण करने वाले हिन्दी प्रेमाख्यानों में भी जीवन के चतुर्थ पुरुषार्थ 'मोक्ष' की कम चर्चा नहीं है। पुहकरकृत रसरतन में कथा का उद्देश्य कन्याफल के अतिरिक्त कुछ और भी दिखलाया गया है। पुहकर कहते हैं :

पुहकर वेद पुरान मिल, कीनो यही विचार।
यहि संसार असार में, राम नाम है सार॥ ३५०॥

वैरागर वैराग वपु, हीरा हित हरिनाम।
प्रीत जोत जिय जगमगै, हरै त्रिविध तन तापु॥ ३५१॥

सत संगति सत बुद्धि उर, विष घरनी संग लाय।
ज्ञान वान प्रस्थान करि, तजै विषै सुखपाय॥ ३५२॥

तातें तत्व लहै मुकर, सूझ देख मन मांहि।
कोई तेरे काम नहिं, तू काहू को नांहि॥ ३५३॥

परधन पर दारा रहित, पर पीरहिं मन लाय।
काम क्रोध मद लोभ तज, विजय निसान बजाय॥ ३५४॥

पुहकर भव सागर गरुव, निपट गहिर गंभीर।
राम नाम नौका चढ़े, हरिजन लागैं तीर॥ ३५५॥

रसरतन के रचयिता ने विशुद्ध एवं उत्कृष्ट कोटि के भारतीय प्रेमाख्यान की रचना की। अन्त में उन्होंने सूरसेन (कथानायक) को

सांसारिक सुखों से वैराग्योत्पादन के लिए वैरागर खंड (वैराग्य खंड) की ही रचना कर दी। इसका कारण यही था कि वे कथा का अन्तिम लक्ष्य कन्याप्राप्ति ही नहीं मानते थे। अतएव कथानायक सूरसेन को जब यह पता चलता है कि :

जगत अनित्य कर्म ही नीरा।
केवल विमल नामु हरि हीरा॥
कामिनि कनक और हय हाथी।
ये तो नहीं संग के साथी॥ ३२९॥

सुकृत संग और नहिं कोई।
क्यों नहिं भजन हरी तिहिं सोई॥
ममता चित्त करौ जिन कोई।
है प्रभु और न दूजौ होई॥ ३३०॥

मुक्ति संग है और न कोई।
क्यों न भजे हरि से हितु होई॥
कलि प्रतिपाल बाल सुत दारा।
मनो ग्वाल गोचारन हारा॥ ३३४॥

तभी सूरसेन को वैराग्य उत्पन्न हो जाता है :

सुनत सूर उपज्यौ वैरागा।
विष्णु भक्ति बाढ़ौ अनुरागा॥
सब संपति तह त्रिन कर जानी।
विष्णुभक्ति निश्चय उर आनी॥

इसके बाद वे अपना सारा राज्य पुत्रों को सौंपकर काशीवास करने के लिए चले जाते हैं :

सुंदर सूर सुबुद्धि उदारा। गोरख ज्ञान सैनिक अवतारा॥
काशीवास कियो तिन जाई। इतनी कथा सुकवि गुन गाई॥३४३॥

सारांश यह कि कथोद्देश्य की दृष्टि से भी यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी प्रेमाख्यानक अपभ्रंश कथाकाव्यों के प्रभाव से मुक्त रहे।

वस्तु-वर्णन

वस्तु-वर्णन काव्य का प्रधान अंग है। कथानक की शोभा वस्तु-वर्णन के सफल चित्रण पर निर्भर करती है। वस्तु-वर्णन के अन्तर्गत आने वाले तत्त्वों के विषय में प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में विचार किया जा चुका है। यहाँ तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जा रहा है। कथा में प्रमुख स्थलों अथवा नगरविशेष का वर्णन आवश्यक होता है। अपभ्रंश काव्यों की इस परम्परा का हिन्दी प्रेमाख्यानकों ने अनुकरण किया।

नगर-वर्णन

अपभ्रंश कथाकाव्य करकंडुचरिउ में चम्पानगरी का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

तहिं देसि रवण्णइं धणकणपुण्णइंअत्थि णयरि सुमणोहरिय।
जणणयणपियारी महियलि सारी चंपा णामइं गुणभरिय॥

जा वेढिय परिहाजलभरेण।
णं मेइणि रेहइ सायरेण॥
उत्तुंगधवलकउसीसएहिं ।
णं सग्गु छिवइ बाहूसएहिं॥

अर्थात् उस रमणीक देश में धन-धान्य से पूर्ण आकर्षक चम्पानगरी थी, जो लोगों की आँखों को प्रिय लगती थी और इस महीतल पर सभी गुणों से युक्त थी। वह चारों ओर से जल-परिखा से घिरी हुई थी तथा ऐसी लगती थी मानों पृथ्वी समुद्र से घिरी हो। गगनचुम्बी धवल शिखर आकाश को छूती हुई सैकड़ों बाहुओं के समान लगते थे और जहाँ जैन मन्दिर उत्तुंग खड़े शोभित हो रहे थे मानों निर्मल अभंग पुण्य-पुंज हो। उन मंदिरों पर रेशमी वस्त्रों की झंडियाँ लहलहा रही थीं। ऐसा लगता था मानों आकाश में श्वेत सर्प लहरा रहे हों :

जिण मंदिर रेहहिं जहिं तुंग।
णं पुण्णपुंज णिम्मल अहंग॥
कोसेयपडायउ घरि लुलंति।
णं सेयसप्प णहि सलवलंति॥१.३-४.

पुहकरकृत रसरतन में भी चंपावती नगरी का वर्णन आया है। बहुत कुछ विशेषताएँ और स्थिति करकंडुचरिउ की चंपानगरी से मिलती-जुलती हैं। रसरतन की चंपावती नगरी की भौगोलिक स्थिति इस प्रकार है :

गुज्जर नगर उदधि के तीरा। अचवंहिं कूप सरोवर नीरा॥
नगर अनूप रम्य सुषदाई। मनौ अवनि अमरावति आई॥

—चंपा० खंड, ८, पृ० १३२.

करकंडुचरिउ की चंपानगरी सुमनोहर है और रसरतन की चंपानगरी भी चित्त को हरने वाली है :

नागर चतुर सुजान नगर भाव देष्यो तहां।
मन जान्यौ उन्मान चित्त हरन चंपावती॥

—वही, २०, पृ० १४०.

यह नगरी भी अनेक गुणों से युक्त है :

उपवन सुंदर सुखद अनूपा। गुन गाहक सोभित सब कूपा॥

—वही, ९१.

वहाँ जिनमंदिर की शोभा का वर्णन है तो रसरतन में शंकरजी के मन्दिर की :

थंभ सौपन्न मुत्ती झलक्कै। देषि गंधर्प मुनि देव थक्कै॥

उच्च उत्तंग सोभा न आवै। सिषिर कैलास उपमान पावै॥
नमंडियौ नाद गंधार सोहै। हरत षल पास जब नैन जोहै॥

—वही, १५६-५७, पृ० १४५.

द्वीप-वर्णन

करकंडुचरिउ के सिंहल-द्वीपवर्णन को तुलना जायसीकृत पदमावत में वर्णित सिंहल-द्वीपवर्णन से की जा सकती है। वर्णन-परिपाटी एक ही है परन्तु विस्तार में अन्तर आ जाना स्वाभाविक है। करकंडुचरिउ में सिंहल-द्वीपवर्णन इस प्रकार है :

ता एक्कहिं दिणि करकंडएण।
पुणु दिण्णु पयाणउ तुरियएण॥
गउ सिंहलदीवहो णिवसमाणु।

करकंडु णराहिउ णरपहाणु ॥
जहिं पाउलपिल्लइं मणु हरंति ।
सुर खेयर किंणर जहिं रमंति ॥

गयलीलइं महिलउ जहिं चलंति ।
णियरूवें रइरूउ वि खलंति ॥
जहिं देक्खिवि लोयहं तणउ भोउ ।
वीसरियउ देवहं देवलोउ ॥

आवासिउ णयरहो वहिपएसे ।
अरिसंक पवड्ढिय तहिं जि देसे ॥
आवासु मुएवि सहयरसमेउ ।
करकंडु गयउ रमणिहिं अमेउ ॥

तहिं गरुवउ सवणसएहिं भरिउ ।
णं कप्पवच्छु देवेंहि धरिउ ॥
दलवंतहिं पत्तहिं परियरिउ ।
वडु दिट्ठु राएं समु वित्थरिउ ॥

घत्ता—करकंडें पेक्खिवि तहो वडहो दीहइं सुट्ठु सुकोमलइं ।
ता लेविणु गुलिया धणुहडिया विद्धाइं असेसइं सद्दलइं ॥

—वही, ७.५. पृ० ६४.

अर्थात् एक दिन करकंडु ने (सिंहलद्वीप) शीघ्र प्रस्थान करने की आज्ञा दी। नराधिप करकंडु अपने परिकर के बीच विराम लेता हुआ सिंहलद्वीप पहुँचा। जहाँ पर (सिंहलद्वीप में) लाल बत्तखें (पक्षी विशेष) मन को लुभा रहीं थीं, सुर, खेचर और किन्नर क्रीड़ारत थे। जहाँ की स्त्रियाँ गजगामिनी थीं और अपने रूप-सौन्दर्य से रति के रूप को भी फीका कर रही थीं। जहाँ पर तरुणों के भोग-विलास को देखकर देवताओं को देवलोक विस्मृत हो जाता था। नगर के बाहर उसने पड़ाव डाला जिससे उस नगर के लोगों को शत्रु की शंका हो गई। अपने आवास को छोड़कर करकंडु अपने साथियों के साथ क्रीड़ा करने के लिए बाहर गया। वहाँ करकंडु ने एक विशाल बरगद का वृक्ष देखा जिस पर सैकड़ों पक्षी बैठे थे, ऐसा लगता था मानों देवताओं से रक्षित कल्पतरु हो जोकि घनी पत्तियों से युक्त था। अधिक एवं कोमल पत्तियों को

देखकर करकंडु ने अपनी कमान से छोटी-छोटी गोलियां मारनी शुरू कीं और उसे पत्रहीन कर दिया।

पहले लिखा जा चुका है कि जायसी ने भी सिंहलद्वीप को श्रेष्ठतम द्वीप कहा है। यदि जायसी के वर्णन और इसकी तुलना करें तो लगेगा कि जायसी ने उसी पैटर्न पर सिंहल-द्वीप का वर्णन किया है। जायसी को सिंहलद्वीप के समान अन्य कोई द्वीप नहीं मिला :[1]

सब संसार परथमैं आए सातौं दीप।
एकौ दीप न उत्तिम सिंघल दीप समीप ॥

—पदमावत, पृ० २५.

भविसयत्तकहा में एक नगर का वर्णन इस प्रकार किया है :

तहिं गयउरु णाउं पट्टणु जणजणियचच्छरिउ।
णं गयणु मुएवि सग्गखंडु महि अवयरिउ ॥ १.५.

अर्थात् वहाँ गजपुर नाम का नगर है जिसने मनुष्यों को आश्चर्य में डाल दिया है। मानों गगन को छोड़कर स्वर्ग का एक खंड पृथ्वी पर उतर आया हो।

स्वयंभू कवि ने अपने महाकाव्य में महेन्द्रनगर का जो वर्णन किया है उसकी तुलना जायसी के सिंहलनगर-वर्णन से की जा सकती है। स्वयंभू के महेन्द्रनगर का वर्णन :

गयणंगणे थिएण, विज्जाहर-पवरणरिन्दहो।
णाइ स-णिच्चरेण, अवलोइउ णयरु महिंदहो ॥११॥
चउ-दुवारु चउ-गोअरु चउ-पायारु-पंडरं।
गयण-लग्ग पवणाहय-धयमालाउरं पुरं।
गिरि-महिन्द-सिहरे रमाउले।
रिद्धि-विद्ध-धण-धण्ण-संकुले।
तं णिएवि हणुयेण चिंतियं।
सुरपुरं क्किमिदेण धत्तियं ॥

—स्वयंभूरामायण, ४६.१-२.

---

१. पदमावत, संपा०—वा० श० अग्रवाल, सिंहल-द्वीप-वर्णन, पृ० २५.

इस ऋद्धि-वृद्धि और धन-धान्य से पूर्ण तथा गगनचुम्बी द्वार-प्राकार और गोपुरों पर पवन से लहलहाती ध्वजाओं वाले महेन्द्रनगर को देखकर हनुमान जी सोचने लगते हैं कि क्या यह इन्द्र का देवलोक है? ठीक इसी प्रकार जायसी ने भी सिंहलनगर का वर्णन करते हुए उसके ऊँचे भवनों एवं निवासियों के सुख-समृद्धिपूर्ण होने के साथ ही उसे 'इन्द्रासनपुरी' अर्थात् अमरावती के समान सुन्दर कहा है :

सिंघल नगर देखु पुनि बसा। धनि राजा असि जाकरि दसा॥
ऊँची पंवरी ऊंच अवासा। जनु कबिलास इन्द्र कर बासा॥
राऊ रांक सब घर घर सुखी। जो देखिअ सो हंसता मुखी॥
रचि रचि राखे चंदन चौरा। पोते अगर मेद औ केवरा॥
सब चौपारिन्ह चंदन खंभा। ओठंघि सभापति बैठे सभा॥
जनहु सभा देवतन्ह कै जुरी। परी द्रिस्टि इन्द्रासन पुरी॥

—पदमावत, पृ० ३६.

सरोवर-वर्णन

अपभ्रंश काव्यों में वस्तुवर्णन के अन्तर्गत सरोवरों का सजीव चित्रण किया गया है। करकंडुचरिउ में सरोवर का चित्रण करते हुए चरितकार कहता है कि तालाब के समीप चिड़ियों की चहचहाहट से लगता है मानो वह अपने समीप बुला रहा हो, जलकुंजर अपनी सूंड में पानी भर-भरकर घड़े की तरह उड़ेल रहे हैं जैसे प्यासे प्राणियों को पानी दे रहे हों, ऊपर निकले हुए कमलदंडों से वह गर्व करता हुआ प्रतीत होता है, उछलती हुई मछलियाँ जैसे उसकी उद्घोषणा हो, शुभ्र फेन के बुलबुलों से वह हंसता हुआ सा प्रतीत होता है, विविध पक्षियों से नाचता हुआ, भ्रमरावलि के गुंजन से गाता हुआ और पवन से आंदोलित होने के कारण दौड़ता हुआ सा प्रतीत होता है :

जलकुंभिकुंभकुंभइं धरंतु तण्हाउरजीवहं सुहु करंतु।
उद्दंडणलिणिउण्णइ वहंतु उच्छल्लियमीणहिं मणु कहंतु।
डिंडीरपिंडरयणहिं हसंतुअइणिम्मलपउरगुणेहिं जंतु।
पच्छण्णउवियसियपंकएहिं णच्चंतउ विविहविहंगएहिं।

गायंतउ भमरावलिरवेण धावंतउ पवणाहयजलेण।
ण सुयणु सुहावउ णयणइट्ठु जलभरिउ सरोवरु तेहिं दिट्ठु ॥

—करकंडुचरिउ, ४. ७. ३--८.

परवर्ती हिन्दी प्रेमाख्यानकों में नगर-वर्णन के अन्तर्गत सरोवरों का वर्णन अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश काव्यों के समान है। छिताईवार्ता में सरोवर का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

सोहैं कमल कमोदिनि पान। भंवर बास रस भूलहिं न्यान ॥
निमसहिं हंस हंसिनी संग। भरे अनंद कुरंग कुलंग ॥
क्रीलति चकई चक्क चकोर। बन के जीव गुंजरहिं मोर ॥
ढेंकि पंखि मटामरे घनै। जल कूकरी आरि अनगनै ॥
सारिस बग्ग हंस उनहारि। निमसहि पंखि सरोवर पारि ॥
पुरइनि कमल रहे जल छाइ। बहु फुलवारि रही महकाइ ॥

—छिताईवार्ता, पृ० ६३.

हिन्दी प्रेमाख्यानकों में वस्तुवर्णन के अन्तर्गत प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में सरोवरों का विवरण दिया गया है। वहीं यह स्पष्ट कर दिया है कि ये अपने पूर्ववर्ती वर्णन-परिपाटी से कितने अधिक प्रभावित हैं। सरोवर-वर्णन की प्रणाली में कुछ रूढ़ियों का अन्त तक पालन किया जाता रहा। जैसे कुछ सरोवरों के वर्णन में जलचरों के नाम ही गिना दिए जाते थे। वर्णरत्नाकर और चन्दायन आदि के सरोवर-वर्णनों में अद्भुत साम्य है। वर्णरत्नाकर में सरोवर-वर्णन इस प्रकार है :

'शरतक चाँद अइ(स)न निम्मं ……सरोवर देषु।……कमल, कोकनद, कल्हार, कुवलय, कुमुदते उपशोभित……सौर, मिलिन्धि, सफरी प्रभृति अनेक ये मत्स्य तें वलवलायमान…… हंस, कलहंस, सारस, सरालि, सिन्धु, कंकारी, कराल, कोयष्टि, कारण्डव, कुकुल, खएर, आंजन, मोरापालि, वक, पुण्डेरि, चक्रवाक प्रभृति अनेक जलचटक ते सुशोभन……।'

उपर्युक्त संदर्भ में 'चन्दायन' में सरोवर-वर्णन में आये जलचर जन्तुओं के नाम देखिए :

१. वर्णरत्नाकर, संपा०—सुनीतिकुमार चटर्जी, पृ० ३९--४०.

पैरहिं हंस मांछ बहिराहैं। चकवा चकवी केरि कराहैं॥
दबला ढेंक बैठ झरपाये। बगुलाबगुली सहरी खाये॥
बनलेउ सुवनं घना जल छाये। अरु जलकुकुरी बर छाये॥
पसरीं पुरई तूल मतूला। हरियर पात तइ रात फूला॥
पाँखी आइ देस कर परा। कार कंरजवा जलहर भरा॥

सारस कुरलहिं रात, नींद तिल एक न आवइ।
सबद सुहाव कान पर, जागहिं रैन बिहावइ॥ २२॥

संस्कृत कथाकाव्यों एवं अपभ्रंश के सरोवर वर्णनों में रूढ़िगत साम्य तो है परन्तु संस्कृत काव्यों में जो आलंकारिक चित्रण किया गया है वह अपेक्षाकृत अधिक आकृष्ट करता है। उदाहरण के लिए कादम्बरी के पम्पा एवं अच्छोद सरोवर का वर्णन इस प्रकार है :

'वह सरोवर ऐसा आभायुक्त था मानों पृथ्वी देवी ने अपने निवास के लिए स्फटिक का भूमिगृह रच रखा हो। वह ऐसा गंभीर था मानों समुद्रों ने पाताल से ऊपर आने का मार्ग बनाया हो। वह क्षितिज के छोर तक फैला हुआ था मानों दिशाओं के भीतर से उनका रस चूकर एकत्र हो गया हो। वह इतना विस्तृत था मानों आकाश का अंशावतार हो। उसके जल की शुभ्रता ऐसी थी मानों रजताद्रि कैलाश ही द्रवित हो गया हो....। उसकी धवलता से ज्ञात होता था मानों शिव का अट्टहास ही जल बन गया हो।....उसकी नीली आभा से ऐसा लगता था मानों वैदूर्य पर्वत सलिल के रूप में दिखाई पड़ रहा हो। उसकी उज्ज्वलता ऐसी थी मानों शरदाकाश की मेघमाला गलकर पृथ्वी पर आ गई हो........। कहीं उसमें तरंगें उठ रही थीं। कहीं क्रौंचवनिताएँ कलरव कर रही थीं। कहीं धार्तराष्ट्र नामक पाण्डुवर्ण के हंस पानी में पंख फड़फडा रहे थे।....कहीं किनारे पर बैठकर मोर जल में चोंच डुबा रहे थे........। कहीं अनंत शतपत्र और पुंडरीक खिले हुए थे जिन पर उड़ते हुए भ्रमरकुल संगीत की तान छेड़ रहे थे। कहीं क्रीड़ा के लिए आए हुए हाथी सूड़ों में जल भर कर उडेल रहे थे।'[1]

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १३३–३४.

जल-क्रीड़ा

निर्मल सरोवरों में स्त्रियों की जलक्रीड़ा का चित्रण भी अपभ्रंश काव्यों में बेजोड़ किया गया है। कहीं-कहीं ऐसा भी देखा गया है कि जो राजा दिग्विजय करते थे वे विजित राजा की रानियों के साथ वापियों में स्नान करते थे। कविवर पुष्पदन्त ने णायकुमारचरिउ में स्त्रियों की जल-क्रीड़ा का जो वर्णन किया है वह बड़ा ही सजीव और स्वाभाविक बन पड़ा है :

गयणिवसण तणु जलेल्हिक्कावइ अद्धु मिल्लु का वि थणु दावइ।
पउमिणिदलजलबिंदु वि जोयइ का वि तहिं जि हारावलि ढोयइ।
का वि तरंगहिं तिवलिउ लक्खइ सारिच्छउ तहो सुहयहो अक्खइ।
काहे वि महुयरु परिमल बहलहो कमलु मुएवि जाइ मुह कमलहो।
सुहुमु जालोल्लु दिट्ठणहमग्गउ काहे वि अंबरु अंगि विलग्गउ।
काहे वि उप्परियणु जले घोलइ पाणियछल्लि व लोउ णिहालइ॥

कोई स्त्री (लज्जावश) अपने वस्त्ररहित शरीर को जल में छिपा रही है। कोई अर्धोन्मीलित स्तन को प्रदर्शित कर रही है। कोई हारा-वलि को धारण करती हुई जल बिन्दु युक्त पद्मिनी कमलिनी के समान लग रही है। कोई तरंगों से त्रिवलियुक्त प्रतीत हो रही है। भ्रमर कमल को छोड़कर किसी के मुख-कमल पर बैठ रहा है। किसी के शरीर पर भींगा वस्त्र चिपका हुआ है जो मेघ के समान प्रतीत हो रहा है। स्वयंभू कवि ने भी जल-क्रीड़ा का चित्रण करते हुए लिखा है कि युवक-युवतियां जल-क्रीड़ा कर रहे हैं। वे देवताओं के समान स्नान करते हुए लीला कर रहे हैं। जल को हाथों से उछाल रहे हैं। मुरज-वाद्य आदि दिखाई पड़ रहे हैं। वे नाना प्रकार के गीत गा रहे हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार की भंगिमाएं बना रहे हैं आदि :

तहं नर-नारि-जुवइ जल कीडइ। कीडंताइ ण्हंति सुरलीलइ॥
सलिलु करग्गह आप्फालंतइ। मुरय-वज्ज-धायव दरिसंतह॥
खलियहि वलियहि अहिणव-गेयहि। बद्धइ मुयक्रखित्तिय तेयहिं॥
छंदेहि तालिहिं वहुलय-भंगेहि। करुणुच्छेत्तिहि णाणा भंगेहि॥

चोक्खु स-रागउ, सिंगार-हार-दरिसावणु ।
पुप्फ-रज्जु-ज्झुवंत, जलकीडणउ सलक्खणु ।।

—स्वयंभूरामायण, २६.१४–१६.

हिन्दी प्रेमाख्यानकों में भी जलक्रीड़ा के प्रसंग प्रायः ही आये हैं। कुतुवनकृत मृगावती में जलक्रीड़ा का स्वाभाविक वर्णन इस प्रकार है :

अभरन चीर उतार धरि, पैठी सबै अन्हाइ ।
ससिर नखन लै तारे, सरवर खेलै आइ ।।

चंचल चपल सुजान सुनारी । मिलि सहेलिन्हि खेलि धमारी ।।
कोड़ करहिं कुमुदिनि सब तोरहि । बिहंसहि हंसहि कंवलघट तोरहिं ।।

—पृ० १५५.

जायसी ने मानसरोदक खंड में पद्मिनी बालाओं के सरोवर-स्नान का चित्रण इस प्रकार किया है :

धरीं तीर सब छीपक सारीं । सरवर मंह पैठीं सब बारी ।।
पाएं नीर जानु सब बेलीं । हुलसी करहिं काम कै केलीं ।।

—पृ० ६२.

लागीं केलि करै मंझ नीरा । हंस लजाइ बैठ होइ तीरा ।।
पदुमावति कौतुक करि राखी । तुम्ह ससि होहु तराइन साखी ।।
बादि मेलि कै खेल पसारा । हारु देइ जौं खेलत हारा ।।
सँवरहि सांवरि गोरिहिं गोरी । आपनि आपनि लीन्हि सो जोरी ।।

—पृ० ६०.

उसमानकृत चित्रावली का चित्रण भी लगभग इसी परम्परा में देखिए :

तीर धरिन सब चीर उतारी, धाइ धंसी सब नीर मंझारी ।
कनकलता फैलीं सब बारी, पुरइनि तीर जानु जल डारी ।
मानहुँ ससि संग सरग तराईं, केलि करत अति लाग सोहाईं ।
हंस देखि जलहर तजि गए, पदुम सबै दिन कुमुदिनी भए ।

आइ चकोर देखि मुख रहा, सरवर नाँहि गगन सब कहा।
भूले गगन अचक रहे तहां, अब निसि नषत कहहि दिन कहां॥

—चित्रावली, पृ० ४७.

इन सब उद्धरणों को देखने से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश काव्यों तथा हिन्दी प्रेमाख्यानकों में पर्याप्त साम्य है। वस्त्र उतारकर तट पर रखने वाली बात एवं जल में स्नान करती हुई सुन्दरियों की रूपगत विशेषता का उल्लेख इन सभी काव्यों में समान रूप से किया गया है।

बाग-वन-वर्णन

अपभ्रंश काव्यों में वन, उपवन, बाग-बगीचों का विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रायः कवियों ने विविध वृक्षों, लताओं आदि के नाम गिना दिए हैं। परन्तु पुष्पदन्त प्रभृति विद्वानों ने जो बाग-उपवनादि के वर्णन किए हैं उनमें मात्र वृक्षों के नाम ही नहीं गिनाए गए हैं अपितु संस्कृत साहित्य के वर्णनों को भी मात कर दिया है। स्वयंभूकृत रिट्ठणेमिचरिउ में एक वन का वर्णन किया गया है जिसमें वृक्षों की नामावलि ही रख दी गई है :

हरिवंसुभावेण हरि विक्कम सारवलेण रण्णयं।
दीसइ देव दारु तल ताली तरल तमाल छण्णयं।
लवलि लवंग लउय जंबु वर अंब कवित्थ रिट्ठयं।
सम्मलि सरल साल सिणि सल्लइ सीस वस मिस मिट्ठयं।
चंपय चूय चार रवि चंदण वंदण वंद सुन्दरं।
पत्तल वहल सीयल छाय लया हर मय मणोहरं।
मंथर मलय मारुयंदोलियं पायव पडिव पुप्फयं।
पुप्फप्फोथ सकल भसलावलि णाविय पहिय गुप्फयं।
केसरि णहर पहर खर दारिय करि सिर लित्त मोत्तियं।
मोत्तिय पंति कंति धवलीकय सयल दिसा वहंतियं॥ २.१॥

कविवर राजसिंहकृत पुरानी हिन्दी के काव्य जिणदत्तचरित में जो उद्यान-वर्णन मिलता है उसमें भी अपभ्रंश काव्यों की तरह फलों अथवा वृक्षों के नाम गिना दिए गए हैं :

नारिंग जंवु छुहारी दाख, पिंडखजूर फोफिली असंख।
जातीफल इलायची लवंग, करणा भरणा कीए नवरंग ॥
काथु कपित्थ वेर पीपली, हरड वहेड खिरी आविली।
सिरीखंड अगर गलींदी धूप, णरहि नारि तहि ठाइ सरूप ॥
जाई जूहि वेल सेवती, दवणो मरुवउ अरु मालती।
चंपउ राइचंपउ मचकुंद, कूजउ वउलसिरी जासउदु ॥
वालउ नेवालउ मंदारु, सिंदुवार सुरही मंदार।
पाडल कठपाडल घणहूल, सरवर कमल बहुतक फूल ॥

—जिणदत्तचरित, पृ० ५८–५९.

छिताईवार्ता में भी यही परिपाटी मिलती है। एक उद्धरण देखिए :

कुसुम कुंद मचकुंद मरुवौ केवरौ केतुकी कल्हार।
गुलाल सेवती मोकरो सुन्दर जाइ।
महंदी पदमाख केवरौ अतिवर्ष चंपग पाइ।
जाति कूजौ जुही अति गनि रही महकाइ।
सघन दाप्यौ दाख कमरख नार्यंग निबुवा नारि।
बादम्म अंम जंभीर खारिक सघन सरवर पारि ॥ ३९९ ॥
कुंद खिरणी जाती फुलवादि गनत ब्रिच्छ को जानै आदि।
लौंग लाइची बेलि अनूप चंदन बन देखे महि भूप ॥ ४०० ॥

रसरतन में कवि पुहुकर ने वृक्षों के नामों को गिनाकर बाग-वर्णन की परम्परा से अपने को जोड़ लिया है :

सुन्यो पुर मित्र बढ्यो अनुराग। बिलोकित नैन मनोहर बाग ॥
रह्यो सुख संपति आनंद झेलि। घनै फुल फुलहिं लसै द्रुमबेलि ॥
सदा फर दाड़िम सोभित अंब। बनै वर पीपर नीम कदंब ॥
महारंग नारंग निब्बू संग। लता जनु अमृत सींचि लवंग ॥
जमीरी गलग्गल श्रीफल सेव। फलै कदली फल चार्षहिं देव ॥
षजूरिनि षारक ताल तमाल। सुधा सम दाख अनूप रसाल ॥
चमेलिय चंपक बेल गुलाब। वंधूप सरूपित सोभित लाल ॥

—चंपा० खंड, १००–१०३, पृ० १४१.

उक्त अपभ्रंश एवं हिन्दी प्रेमाख्यानकों के बाग-बगीचों के वर्णन में अधिकतम साम्य है। अतः यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिये कि यह अपभ्रंश कथाकाव्यों के शिल्प का ही प्रभाव है। इसी संदर्भ में पृथ्वीराजरासो के एक राजोद्यान का उद्धरण भी देखा जा सकता है :

श्री खंड झंड वासयं। गुलाब फूल रासयं।
जु चंपकं कदंवयं। षजूरि भूरि अंवयं॥
सु अन्ननास जोरयं। सतूतयं जमीरयं॥
अषोट सेव दामयं। अवाल वेलि सामयं॥
जु श्रीफलं नरंगयं। सवह्न स्वाद होतयं॥
चवंत मोर वायकं। मनो सगोत गायकं॥

चित्रशाला-वर्णन

चित्रशाला का वर्णन हिन्दी प्रेमाख्यानकों में अपने पूर्ववर्ती साहित्य के अनुरूप ही हुआ है। जिनसेनकृत आदिपुराण में वर्णित चित्रशाला की विशेषताओं का डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने इस प्रकार उल्लेख किया है :

१. चित्रशाला बहुत ही मनोज्ञ, स्वच्छ और सुन्दर होती थी।

२. चित्रशाला की भित्तियां भी चित्रित रहती थीं।

३. चित्रशाला में धर्मनायकों, पुराणपुरुषों, ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं शलाका पुरुषों के चित्र टंगे रहते थे।

४. चित्रशाला में दर्शकों को आने-जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती थी।

५. चित्रशाला में विनोदार्थ चित्रों का अंकन भी होता था।

६. प्रतीक चित्रों और व्यक्ति चित्रों का भी आलेखन किया जाता था।

७. चित्रशाला में चित्रपट, काष्ठचित्र, पाषाणचित्र आदि रसमय चित्रों के साथ धूलिचित्र भी उपलब्ध होते थे।[1]

---

१. डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ३१२.

उस समय के प्रासादों में चित्रशाला, प्रमदवन, पुष्पवाटिका, कृत्रिम-नदी, क्रीड़ाशैल, धारागृह, यंत्रव्यजन, श्रृंगार-संकेत, माधवी-मंडप, विश्रामचौरा आदि होते थे। कीर्तिलता में उसका उल्लेख इस प्रकार है :

प्रमदवन, पुष्पवाटिका, कृत्रिमनदी, क्रीड़ाशैल, धारागृह, यन्त्रव्यजन, श्रृंगारसंकेत, माधवीमंडप ॥ २.२४४.

विश्रामचौरा, चित्रशाली, खट्वा-हिंडोल, कुसुमशय्या, प्रदीप-माणिक्य, चन्द्रकान्तशिला। चतुस्सम पल्लवकरो परमार्थं....॥

—२.२४४–४६.

रसरतन में सूरसेन की चित्रसारी का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

सखि रहइ भूमि मृग पहुंमिपाल।
अति रुचिर रुचितवर चित्रसाल ॥

राखिय सुगंध भरि करि वनाइ।
अंगनह मध्यि सरवर सुभाइ ॥

गुंजरत भृंग रसवास लीन।
मृगवाल नाद स्वादहिं अधीन ॥

परजंक मंड तहं चित्त चारि।
परवार हेतु जनु अमर नारि ॥

—चंपा० खंड, २२३–२५.

चित्रसाल चित्रित बहुरंगा। उपजतु निरषि सुषद सुष अंगा ॥
विविध चित्र अनवन विधि साजे। जल थल जीव जंतु सब राजे ॥
लिखी बहुत लीला करतारा। चित्र चारु दसउं अवतारा ॥
ब्रज विनोद बहु भांतन चीन्हा। राम चरित्र चारु सब कीन्हा ॥
सोरह सहस अष्ट पटरानी। चित्री इंद्र धरनि इंद्रानी ॥
नायक नाथ लिषे सुर ग्यानी। रुकमिन आदि आठ पटरानी ॥
रति रतिनाथ चित्र पुनि कीन्हा। ऊषा हित अनुरुध मनु लीन्हा ॥
चित्रित सकल प्रेम रस प्रीति। माधो कामकन्दला रीती ॥
अग्निमित्र यौरावत धाता। भरथरि प्रेम पिंगला राता ॥

—स्वयंवर खंड, २३०--२३४ आदि.

हाट-वर्णन

हाटों का वर्णन विद्यापति की कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर, पृथ्वीचन्द्रचरित, मानसोल्लास और कादम्बरी आदि में जिस तरह हुआ है उसी को हिन्दी प्रेमाख्यानकों ने स्वीकार किया है। पृथ्वीचन्द्रचरित में चौरासी हाटों का उल्लेख इस प्रकार है :

सोनी हटी, नाणावर हटी, सौगंधिया हटी, फोफलिया, सूत्रिया, सड़सूत्रिया, घोया, तेलहरा, दन्तरा, वलीयरा, मणीयार हटी, दोसी, नेस्ती, गंधी, कपासी, फडीया, फडीहटी, एरंडिया, रसणीया, प्रवालीया, बांबहटा, सांषहटा, पोतलगरा, सोनार, सीसाहडा, मोतीप्रोया, सालवी, मोगारा, कुंआरा, चूनारा, तूनारा, कूटारा, गुलीग्राल, परीयटा, घांची, मोची, सुई, लोहटिया, लोढारा, चित्रहारा, सूतहारा, कागलीया, मद्यप हटी, वेश्या, पणगोला, गांछा, भाडभुंजा, वोवाहडा, त्राम्बडीया, भइंसायत, मलिननापित, चोषानापित, पाटीवणा, त्रांगडोया, वाहीत्रा, काठवीठीया, चोषावीठीया, सूषडीया, साथरीया, तेरमा, वेगडीया, वसाह, सान्थूआ, पेरुआ, आटीआ, आलीआ, दउढीआ, मुंजकूटा, सरगस, भरथारा, पीतलहडा, कंसारा, पत्तसागीआ, षासरीआ, मंजीठीया, साकरीया, सावूगर, लोहार, सूत्रहार, वणकर, तम्बोली, कन्दोई, बुद्धि हटी और कुत्रिकापण हटी।[1]

इन हाटों में वेश्या-हाट (बाजार) का चित्रण अपभ्रंश काव्य णायकुमारचरिउ में स्वाभाविक ढंग से किया गया है :

वेसावाडइं झत्ति पइट्ठउ। मयरकेउ पुरवेसहिं दिट्ठउ।
का वि वेस चिंतइ किं वड्ढिय। णीलालय ए एण ण कड्ढिय।
का वि वेस चिंतइ किं हारें। कंठु ण छिण्णउ एण कुमारें।
का वि वेस अहरग्गु समप्पइ। झिज्जइ खिज्जइ तप्पइ कंपइ।
का वि वेस रइसलिलें सिंचिय। वेवइ वलइ घुलइ रोमंचिय।

घत्ता—ता वीणाकलरवभासिणिए देवदत्तए रायविलासिणिए।
हियउल्लए कामदेउ ठविउ कयपंजलिहत्थें विण्णविउ ॥

1. प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह—पृथ्वीचन्द्रचरित, पृ० ९५.

कामें कामिणि भणिय हसेप्पिणु—आदि।

—णायकुमारचरिउ, पृ० ४८-४९.

हिन्दी प्रेमाख्यानकों में कई स्थानों पर चौरासी हाटों का उल्लेख अथवा संकेत मिलता है। प्रद्युम्नचरित (१४११ वि० सं०), सधार अग्रवालकृत में इस प्रकार लिखा है :

इक सौं वने धवल आवास। मठ मंदिर देवल चउपास।
चौरासी चौहट्ट अपार। बहुत भांति दीसइ सुविचार ॥१७॥

कविवर पुहकर ने रसरतन में जो हाटों का वर्णन किया है उसकी तुलना पूर्ववर्ती साहित्य के हाट-वर्णनों से की जा सकती है :

पठंबर मंडित सोभित हाट। रच्यो जनु देव सुरप्पति बाट ॥
कहूं नग मोतिय बेचत लाल। करैं तहं लच्छिछय मोल दलाल ॥
कहूँ गढ़ै कंचन चारु सुनार। कहूँ नट नाटिक कौतिक हार ॥
कहूँ पट पाट बनैं जरतार। कहूँ हय फेरत हैं असवार ॥
कहूँ गुहैं मालिनि चौसर हार। कहूँ तिसवारत हैं हथियार ॥
कहूँ वरई कर फेरत पान। कहूँ गुनी गाइन साजत गान ॥
कहूँ पढ़ै पंडित वेद पुरान। कहूँ नर तानत बान कमान ॥
कहूँ गनिका गनरूप निधान। कहूँ मुनि ईस करै तप ध्यान ॥
चल्यौं नगरी सब देखत सूर। कहूँ मृगमछ सुगंध कपूर ॥
रहै इक नागरि नैन निहार। चलै इक पाट गवाष उधार ॥

—चंपा० खंड, १४६–१५३.

इसी प्रकार शृङ्गार-हाट और फूलहाट का चित्रण जायसी के पदमावत (३७, ३८, ३९) में देखा जा सकता है। चन्दायन में गोवर नगर के सुगन्धि-बाजार और वहाँ की खरीददारी का वर्णन देखिए :

सुनो फूल हाट सब फूला। जीउ विमोहं गा देखत भूला ॥
अगर चन्दन सब धरा बिकाने। कुंकुं परिमल सुगंधि गंधाने ॥
बेनां और केवर सुहावा। मोल किये (पर) महंक (सुंघावा) ॥
पान नगरखण्ड सुरंग सुपारी। जैफर लौंग बिकारी झारी ॥
दौनां मरवा कुन्द निवारी। गूंदइ हार ते बेचहिं नारी ॥
खांड चिरौंजी दाख खुरहुरी, बैठे लोग बिसाह।
हीर पटोर सों भल कापड़, जित चाहे सब आह ॥

—चन्दायन, २८, पृ० ९२.

अश्व-वर्णन

हिन्दी प्रेमाख्यानकों में घोड़े-हाथियों के जो चित्रण किये गये हैं वे भी अपनी पूर्व परम्परा से शृंखलाबद्ध हैं। वर्णरत्नाकर में अश्वों के निम्न भेद किये गए हैं :

हरिअ, महअ, मांगल, कुही, कुवाल, कओस, उरज, नील, गरुड, पीअर, राओट, दोरो, उवाह, वलिआह, सेवाह, कोंकाह, केयाह, हराह, षोराह, रोरिह........।

माणिक्यचन्द्रसूरि ने अश्वों की जातियों के विषय में एक लम्बी तालिका पृथ्वीचन्द्रचरित में दी है :

तरल तेजी तरवारिया। किस्या ते-- हयाणा, मयाणा, कूंकणा, कास्मीरा, हयठाणा, पइठाणा, सरसईया, सींधउरा, केकाइला, जाइला, उत्तर-पंथा, ताजा, तेजो, तोरक्का, काच्छूला, कांवोजा, भाडेजा, आरट्ट, वाल्हीकज, गांधार, चांपेय, तैत्तिल, त्रैगर्त, आर्जनेय, कादंरेय, दरद, सौवीर. क्षेत्रशुद्ध, प्रमाणशुद्ध, चपलं, सरल, तरल, उंचासणा, परीक्षणा, जोयडं सहइं, बांकी द्रेठी, समरपूठि, छोटे काने, सघइ बानि, सइरनी ललवलाई, नोघटनी कलाई, पूछतणी आयताई, पलाणतणी सामंत्राई, बांकी तुंडवालि, बहुली पेटवालि, मुहिरुधा, आसणि सूधा, हसमंत, हय-हेवारवि, अंबर वधिर करंता।

विद्यापति ने कीर्तिलता में कीर्तिसिंह की सेना के घोड़ों की जाति और उनकी चालों तथा शरीर-गठन के विषय में इस प्रकार लिखा है :

अनेक वाजि तेजि ताजि साजि साजि आनिआ॥
परक्कमेहि जासु नाम दीप दीपे जानिआ॥
विसाल कन्ध चारु वन्ध सत्ति अरू सोहणा॥
तलप्प हाथि लांघि जाथि सत्तु सेण खोहणा॥
सुजाति शुद्ध कोहे कुद्ध तोरि धाव कन्धरा॥
विमुद्ध दापे मार टापे चूरि जा वसुन्धरा॥ ४.२९-३६.

इसी संदर्भ में तुलनात्मक दृष्टि से रसरतन के अश्वों का वर्णन देखिए :

पलानैं तहां तेज-ताजी तुरंगा। परैं उच्च उच्छाल मानौ कुरंगा ॥
कथाहे सुलासं डुरंगा सुरंगा। खरैं स्वेत पीतं तथा सावरंगा ॥
इराकी अरव्वी तुरक्की दवच्छी। ममोला अमोला लिये मोल लच्छी ॥
वजै धाव धावैं लसें पूंछ अच्छी। मनो उड्डहीं वाहं बैठे सुपच्छी ॥
उभै कर्न ऊंचे मह उच्च ग्रीवा। मनौ उच्च उच्चैश्रवा सोभ सीवां ॥
चढ़ै सूरवंसी महासूर वीरं। उलंघै मनौ चांपि वाराधि नीरं ॥
सवै षड्गधारी चित्तै चित्त मोहै। मनौ चित्त औरेषि पेषंत सोहै ॥

—२०३-२०८, पृ० १०३.

चन्दायन पृ० १३३ एवं १४१ पर रावमहर के अश्वों का वर्णन देखा जा सकता है।

युद्ध-वर्णन

अपभ्रंश काव्यों में युद्धों का चित्रण विस्तृत और दृश्य उपस्थित कर देने वाला किया गया है। धवल कवि ने हरिवंशपुराण में जो युद्ध का दृश्य उपस्थित किया है वह साक्षात् एक चित्र उभार देता है :

रहवउ रहहु गयहुगउ धाविउ, धाणुक्कहु धाणुक्क परायउ।
तुरउ तुरंग कुरवग्ग विहत्थउ, असिवक्खरहु लग्गु भय चत्तउ।
वज्जहिं गहिर तूर हय हिंसहिं, गुलु गुलंत गयवर वहु दीसहिं ॥
विंधहिं तडातडा, मुच्छिहिं मडा मडा।
कुंत धाय दारिया, खग्गहिं वियारिया।
जीव आस मेल्लिया, कायरा विचल्लिया ॥ ८९.१०.

अर्थात् रथ वाला रथ की ओर, गज गज की ओर दौड़ा, धानुष्क धानुष्क की ओर भागा, घोड़े घोड़े से, बिना खड्ग वाले निहत्थों से और असि भय छोड़कर कवच से भिड़ गई। वाद्य जोर-जोर से बज रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं और हाथी चिंघाड़ते हुए दिखाई दे रहे हैं।....योद्धा विद्ध हो रहे हैं, भट मूर्छित हो रहे हैं, कोई भालों के प्रहार से विदीर्ण हो रहे हैं, कोई खड्ग से छिन्न-भिन्न हो रहे हैं, जीवन की आशा छोड़ कर कायर भाग रहे हैं....।

इसी प्रकार का युद्ध-वर्णन कविवर स्वयंभू ने किया है।

सुभट सुभट से, कवंध कवंध से, धनुषबाण धनुषबाण से, चक्र चक्र से, त्रिशूल त्रिशूल से भिड़ गये—आदि :

सुहडें सुहडु कवंध कवंधे। छत्तें छत्तु चिंधुहउ चिंधे।
वाणें वाणु चाव वर–चावें। खग्गें खग्गु अणिट्ठिय-गव्वे।
चक्कइं चक्कु तिसूल तिसूलें। मोग्गर मोग्गरेण हुलिहूलें।
कणएंण कणउ मुसलु वर-मुसले। कोंते कोंतु रणंगणे कुसले।
सेल्ले सेल्लु खुरप्पु खुरुप्पे। फलिहि फलिहु गयावि गय-रुप्पे॥

—स्वयंभूरामायण, ५३.७.

जायसी के पदमावत में राजा और बादशाह का जो युद्ध दिखाया है उसमें और उक्त युद्ध-वर्णन में तुलना करने से पर्याप्त साम्य दिखाई पड़ता है। दोनों ओर से योद्धा कोप सहित मिले और हाथी हाथियों पर पिल गये। अंकुश बिजली के समान चमक रहे थे। हाथी मेघ के समान गरज रहे थे। पृथ्वी से आकाश तक दोनों दल भर गये, झुंड के ऊपर झुंड टूट रहे थे। कोई भी एक-दूसरे के दबाव से हटता नहीं था। दोनों ही ठोस वज्र की तरह थे :

कोपि जुझार दुहुँ दिसि मेले। औ हस्ती हस्तिन्ह कहं पेले।
आंकुस चमकि बीज अस जाहीं। गरजहिं हस्ति मेघ घहराहीं।

धरती सरग दुऔ दर जूहहिं ऊपर जूह।
कोऊ टरै न टारे दुऔ बज्र समूह॥—पृ० ५४९.

हस्तिन्ह सौं हस्ती हठि गार्जहि। जनु परबत परबत सौं बार्जहि॥
गरुअ गयंद न टारे टरहीं। टूटहिं दंत सुंड भुइं परहीं।
परबत आइ जो परहिं तराहीं। दर महं चांपि खेह मिलि जाहीं।
कोई हस्ती असवारन्ह लेहीं। सुंड समेटि पाय तर देहीं॥

—पृ० ५५०.

देवसेनगणि के सुलोचनाचरिउ में जय और अर्ककीर्ति के युद्ध के वर्णन में कवि ने योद्धाओं की गति का चित्रण किया है :

भडो को वि खग्गेण खग्गं खलंतो,
रणे मम्मुहे सम्मुहो आहणंतो।

भडो को वि वाणेण वाणो दलंतो,
समद्धाइउ दुद्धरो णं कयन्तो।
भडो को वि कोंतेण कोंतं सरंतो।
करे गीढ चक्को अरी संपहुत्तो।
भडो को वि खंडेहि खंडी कयंगो।
भडन्तं ण मुक्को सगावो अभंगो ॥ ६.१२.

कीर्तिलता में विद्यापति ने युद्ध के दृश्यों में रूढ़िगत प्रतीक और दृश्यों को ही रखा है :

दुहु दिस पाखर उट्ठ मांझ संगाम भेट हो ॥
खग्गे खग्गे संघलिय फुलुग उपफलइ अग्नि को ॥
अस्सवार असिधार तुरअ राउत सो टुट्टइ ॥
वेलक वज्ज निघात काअ कवचहु सो फुट्टइ ॥
अरि कुंजर पंजर सल्लि रह रुहिर चीकि गए गगन भर ॥
रा कित्तिसिंह को कज्ज रसे वीरसिंह संगाम कर ॥
—४.१८२–१८७.

विद्यापति की कीर्तिलता में युद्ध-स्थल पर हुँकार करके वीर गरज रहे थे। दौड़ते हुए घोड़ों की पंक्तियाँ टूट जाती थीं। बाण से कवच फट जाते थे। राजपुत्र रोष से तलवारों से जूझ रहे थे। आरुष्ट वीर आ रहे थे और इधर-उधर दौड़ रहे थे। एक-एक से लड़ रहे थे, शत्रु की लक्ष्मी का नाश कर रहे थे""खंड से खंड टकरा रहे थे। अग्नि के स्फुलिंग फूट पड़ते थे। घुड़सवारों की तलवार की धार से राउत घोड़े के साथ कट जाता था :

हुंकारे वीरा गज्जन्ता पाइक्का चक्का भज्जन्ता ॥
धावन्ते धारा टुट्टन्ता सन्नाहा वाणे फुट्टन्ता ॥
राउत्ता रोसे लग्गीआ खग्गही खग्गा भग्गीआ ॥
आरुट्ठा सूरा आवन्ता उंमग्गे मग्गे धावन्ता ॥
एक्क्के रंगे मेट्टन्ता परारी लच्छी मेट्टन्ता ॥
""खग्गे खग्गे संघलिअ फुलुग उपफलइ अग्गि को ॥
अस्सवार असिधार तुरअ राउत सञो टुट्टइ ॥
—४.१७५–१८१.

पुहुकर ने सेनाप्रयाण के अवसर पर इसी प्रकार की शब्दावलि का प्रयोग किया है :

सुनै सोर इंदौर तैं इंद्र लज्यौ। जहां सैंन चतुरंग गंभीर सज्यौ ॥
चले मत्त मैमंत घूमंत मंता। मनो बद्दला स्याम माथे चलंता ॥
चलंते बंधी पाइ वैरी षरक्कैं। बजै घूंघरू घोर घंटा ठनक्कैं ॥
बनी किंकिनी लंक लागी धनक्कै। मनो पावसी रैन झिल्ली झनक्कै ॥
पलानै तहां तेज ताजी तुरंगा। परै उच्च उच्छाल मानौ कुरंगा ॥

—विजय० १९८–२०३.

पुहकर कवि ने सेनाप्रयाण का वर्णन अपनी पूर्व परंपरानुसार ही किया है। स्वयंभू कविकृत पउमचरिउ के रण-यात्रा का विवरण इस प्रसंग में उद्धृत किया जा सकता है :

पेक्खु पेक्खु आवन्तउ साहणु। गलगज्जन्त महागय-वाहणु ॥
पेक्खु पेक्खु हिंसन्ति तुरङ्गम। णहयलें विउलें भमन्ति विहङ्गम ॥
पेक्खु पेक्खु चिन्धइ धुव्वन्तइं। रह-चक्कइं महियलें खुप्पन्तइं ॥
पेक्खु पेक्खु वज्जन्तइं तूरइं। णाणाविह णिणाय-गंभीरइं ॥

—पउमचरिउ, २५.४.

इन्द्रावती में कवि नूरमुहम्मद ने घनघोर युद्ध का वर्णन किया है। योद्धाओं की ढालें इतनी अधिक हैं कि चारों ओर काली घटा छाई हुई लगती है। खड्गों से बिजली जैसी चमक होती है :

भयउ घटा ढालन सो कारी, खरगत भये बीज चमकारी।
माला खरग हनै सब कोई, वोडन खरग ठनाठन होई।
गगन खरग घटा सों ठन गयऊ, हिन-हिन औ धुन हन हन भयऊ।
ओनई घटा धूर सों, दिन मनि रहा छिपाय।
वहां महाभारत्य मा, सवद परेउ हू हाय॥ —पृ० ९८.

स्वयंभू के पउमचरिउ में धनुष की टंकार और खड्गों की खन-खनाहट के लिए जिस शब्दावलि का प्रयोग किया गया है वह इससे बहुत साम्य रखती है :

हण-हण-हणकारु महारउद्दु। छण-छण-छणन्तु गुण-सिन्थ-सद्दु ॥
कर-कर-यरन्त कोदण्ड पयरु। थर-थर हरन्त णाराय-णियरु ॥

खण-खण-खणन्त तिक्खग्ग खग्गु। ह्लिलि-ह्लिलि-ह्लिलन्त हय चञ्चुलग्गु ॥
गुल-गुल-गुलन्त गयवर विसालु। हणु-हणु भणन्त णरवर वमालु ॥
—पउमचरिउ, ६३.३

अब तक युद्ध की विभीषिका का वर्णन देखा। अब युद्ध के बाद युद्ध-स्थल की वीभत्सता का भी दृश्य देखिए—सियारिनें चिल्लाती, फेंकरती और शोर मचाती हैं, अनेक भूतनियां भूख से डकारें लेती हैं। लाशों को चीरता-फाड़ता वैतालों का झुंड शोर करता, कबन्धों को उलटतत पलटता और ठेल देता।....रक्त रंगे सिर को सियारो धड़ से अलग करके फोड़-फोड़ करके खाने लगती है।....रुधिर की नदी के किनारे भूतगण 'झिझरी' का खेल खेलते हैं, आदि।

सिआ सार फेक्कार रोलं करन्तो।
बुहुक्खा बहू डाकिनी उक्करन्तो।
बहुप्फाल वेआल रोलं करन्तो।
उलट्टो पलट्टो कबन्धो पलन्तो।....
रकत क रांगल माथ उफरि फेरवी फोरि षा।....
रुहिर तरंगिणि तीर भूत गण जरहरि खेल्लइ[1] ॥ २०१-२१२.

जायसीकृत पदमावत में युद्धोपरान्त युद्ध-स्थल की वीभत्सता का वर्णन इस प्रकार किया है :

कंध कबंध पूरि भुइं परे। रुहिर सलिल होइ सायर भरे ॥
अनंद बियाह करहिं मंसुखाए। अब भख जरम जरम कहं पाए ॥
चौसंठि जोगिन खप्पर पूरा। बिग जंमुकन्ह घर बाजहिं तूरा ॥
गीध चील्ह सब मांडौ छावहिं। काग कलोल करहिं और गावहिं ॥
आजु साहि हठि अनी बियाही। पाई भुगुति जैस जियं चाही ॥
जेन्ह जस मांसू मखा परावा। तस तेन्ह कर लै औरन्ह खावा ॥
—पदमावत, पृ० ५५२.

इसी प्रकार रसरतन (युद्ध खंड, ६८–६९) एवं चन्दायन (१४३, पृ० १५९) में युद्धस्थल पर वीभत्सता के दृश्य देखे जा सकते हैं।

---

१. डा० शिवप्रसाद सिंह, कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृ० ३३–३८.

युद्ध-वाद्य-वर्णन

जब सेना युद्ध करने के लिए प्रस्थान करती थी, नगारा, भेरी, तूर्य, नौसान, ढोल आदि वाद्यों का वादन होता था। युद्ध-वाद्यों के विभिन्न नाम अपभ्रंश काव्यों में तथा उसी की परम्परा में हिन्दी प्रेमाख्यानों में भी उल्लिखित मिलते हैं। आचार्य सोमदेव (१०वीं शती) के यशस्तिलक में विभिन्न प्रसंगों में तेईस प्रकार के वादितों का उल्लेख है :

शंख, काहला, दुंदुभी, पुष्कर, ढक्का, आनक, भम्भा, ताल, करटा, त्रिविला, डमरुक, रुंजा, घंटा, वेणु, वीणा, झल्लरी, वल्लकी, पणव, मृदंग, भेरी, तूर, पटह और डिण्डिय।[1]

पृथ्वीचंद्रचरित में निम्नोक्त वाद्ययन्त्रों का उल्लेख है :

वीणा, विपंची, बल्लकी, नकुलोष्ठी, जया, विचित्रिका, हस्तिका, करवादिन, कुब्जिका, घोषवती, सारंगी, उदंबरी, त्रिसरी, झंषरी, आलविणि, छकना, रावणाहत्था, ताल, कंसाल, घंट, जयघंट, झालरि, उंगरि, कुरकचि, कयरउ, घाघरी, द्राक, डाक, ढाक, धूंस, नीसाण, तावंकी, कडुआलि, सेल्लक, कांसी, पाठी, पाऊ, सांष, सींगी, मदन, काहल, भेरी, धुंकार और तरवार, मृदंग, पट्टु, पडह प्रमुख वादित्र वाज्यां। ये हैं इगुणपंचास भेद वाजित्रों के नाम।

स्वयंभू ने सैनिक बाजों का वर्णन इस प्रकार किया है :

पडु-पडह-सङ्ख-भेरी-रवेण। कंसाल-ताल-दडि-रउरवेण ॥
कोलाहल-काहल-णीसणेण। पच्चविय-मुउन्दा-मीसणेण ॥
धम्मुक्क-करड-टिविला-धरेण। झल्लरि-रुञ्जा-डमरुअ-करेण ॥
पडिढक्क-हुडुक्का-वज्जिरेण। घुम्मन्त-मत्त-गय-गज्जिरेण ॥
तण्डविय-क्रणण-विहुणिय-सिरेण। गुमु-गुमु-गुमन्त-इन्दिन्दिरेण ॥
पक्खरिय - तुरय - पवणुब्मडेण। धूवंत-धवल-धुअ-धयवडेण ॥
मण-गमणामेल्लिय-सन्दणेण। जम-वरुण-कुवेर-विमद्दणेण ॥
वन्दिण-जयकारुग्घोसिरेण। सुर-वहुअ-सत्थ-परिओसिरेण ॥
घत्ता—सहुं सेण्णेंण सहइ दसाणणु णीसरिउ।
छण-चन्दु व तारा-णियरें परियरिउ ॥

—पउमचरिउ, ६३.१.

---

१. डा० गोकुलचन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २३५.

पुहकर कवि के रसरतन में सेनाप्रयाण के समय निम्न प्रकार के बाजों का उपयोग होता था :

तहां सूर पयान निस्सान बाजै। मनो मेघ भादो महा नाद नाजै।
बजे दुंदुभी ढोल भेरी मृदंगा। सुनै सोर पाताल मध्ये भुजंगा॥ १९६॥
बजै बांसुरी संष सहनाइ तूरं। भये सब्द दिग्पाल के कर्म पूरं।
भई पंच हज्जार दुंदुभी धुकारं। ऊठे नीर पाताल चलि वारपारं॥ १९७॥

—विजय० खंड, पृ० १०२-३.

जायसी ने पदमावत में लिखा है कि युद्ध का ऐसा दृश्य होने पर भी राजा के हृदय में हार न थी! उसकी आज्ञा से राजद्वार के ऊपरी भाग में अखाड़ा सजाया गया। सामने ही जहां शाह उतरा हुआ था, उसके ऊपर नाच का अखाड़ा जुड़ा था। जन्त्रों में पखावज और आउज आदि बाजे बज रहे थे। वे वाद्य इस प्रकार थे :

जंत्र पखाउझ आउझ बाजा। सुरमंडल रबाब भल साजा॥
बीन पिनाक कुमाइच्च कही। बाजि अंबिरती अति गहगही॥
चंग उपंग नागसुर तूरा। महुवरि बाज बांसि भल पूरा॥
हुरुक बाज डफ बाज गंभीरा। औ तेहि गोहन झांझ मंजीरा॥
तंत बितंत सुभर घनतारा। बाजहिं सबद होइ झनकारा॥
जस सिंगार मन मोहन पातर नांचहिं पांच।
पातसाहि गढ़ छेंका राजा भला नांच॥

—पदमावत, पृ० ५६२.

रणवाद्यों अथवा वाद्यों का विवरण हिन्दी प्रेमाख्यानक छिताईवार्ता (पृ० ११९), रसरतन (पृ० ३८६) आदि में भी देखा जा सकता है। अपभ्रंश कथाकाव्यों एवं हिन्दी प्रेमाख्यानकों के संक्षिप्त वस्तुवर्णन की तुलनात्मक स्थिति से यह स्वीकार करना पड़ता है कि हिन्दी प्रेमाख्यान अपने पूर्ववर्ती साहित्य से पूर्णरूपेण अनुप्राणित ही नहीं हुए अपितु उन्हीं के विकसित रूप हैं।

मोटिफ—अभिप्राय

मोटिफ (अभिप्राय), कथा-अभिप्राय या कथानक-रूढ़ि की परिभाषा आदि का प्रश्न प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में हल किया जा चुका है।

विवेचित हिन्दी प्रेमाख्यानकों की कथानक-रूढ़ियों का भी अध्ययन उसी अध्याय में किया गया है। यहाँ प्रश्न अपभ्रंश कथा-काव्यों में प्रयुक्त कथानक-रूढ़ियों का एवं उनके प्रभावक्षेत्र दिखलाने का है। लगभग वे सारी-की-सारी कथानक-रूढ़ियाँ जिनका विवरण हम तृतीय अध्याय में दे चुके हैं—अपभ्रंश काव्यों में विद्यमान हैं। लोकक्षेत्र अथवा लोक-कथाओं के प्रभाव से कतिपय रूढ़ियाँ भिन्न भी हो सकती हैं। जिन अपभ्रंश काव्यों के कथानक हम पीछे लिख चुके हैं, क्रमशः उन्हीं की कथानक-रूढ़ियाँ यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

लीलावईकहा की कथानक-रूढ़ियाँ :

१. मंगलाचरणादि।
२. कथा का नायक राजा है।
३. एक अन्य राजा विपुलाशय की पुत्री का गंधर्वकुमार से प्रेम और गन्धर्व विवाह।
४. पिता ने गन्धर्वकुमार को राक्षस होने का शाप दिया।
५. कुवलयावली का आत्महत्या का असफल प्रयास।
६. सखी सिद्धकुमार का पता लगाने मलय पर्वत पर गई।
७. माधवानिल को उसका शत्रु पाताल लोक ले गया।
८. दोनों सखियों ने इष्टसिद्धि के लिए भवानी-पूजन का निश्चय किया।
९. कथा की नायिका लीलावती सिंहल द्वीप की राजकुमारी।
१०. लीलावती सातवाहन के चित्र को देखकर मोहित हुई—चित्रदर्शन।
११. सातवाहन को साम्राज्य-विस्तार की इच्छा और सिंहल को प्रस्थान।
१२. विजयानन्द दूत को सिंहल भेजा—नौका मार्ग में टूट गई।
१३. तट पर उसे नग्न पाशुपत के दर्शन।
१४. लीलावती की विवाह करने की शर्त कि उसकी सखो के प्रिय के मिल जाने पर वह विवाह करेगी।
१५. शर्त का पूरा होना और विवाह का सम्पन्न होना।

पउमसिरिचरिउ की कथानक-रूढ़ियाँ :

१. मंगलाचरण—सरस्वती-वंदना।
२. कथा के नायक समुद्रदत्त की पूर्व भव की कथा।
३. कथानायिका पद्मश्री का अपूर्वश्री नामक उद्यान में समुद्रदत्त का दर्शन और दोनों एक-दूसरे पर मुग्ध।
४. विवाहोपरान्त पद्मश्री के साथ जीवन बिताना।
५. माता का पत्र बुलाने के लिए।
६. समुद्रदत्त और उसकी पत्नी के बीच केलिपिशाच ने अन्तर डाल दिया।
७. पत्नी का विलाप और समुद्रदत्त का छोड़कर जाना।
८. समुद्रदत्त का दूसरा विवाह।
९. पद्मश्री को एक साध्वी का उपदेश।
१०. सदाचरण करने पर भी पद्मश्री पर चोरी का कलंक लगा।
११. अंत में तपस्या द्वारा मोक्षलाभ।

भविसयत्तकहा की कथानक-रूढ़ियाँ :

१. मंगलाचरण—सज्जन-दुर्जन-प्रशंसा।
२. धनपाल सेठ और उसकी पत्नी पुत्राभाव से चिन्तित।
३. मुनि के आशीर्वाद से समय पर पुत्ररत्न की प्राप्ति।
४. धनपाल का दूसरी शादी करना।
५. पहली पत्नी और भविष्यदत्त की उपेक्षा।
६. दूसरी पत्नी से बंधुदत्त उत्पन्न हुआ।
७. दोनों पुत्रों का ५०० व्यापारियों के साथ देशान्तर-भ्रमण पर जाना।
८. समुद्र में तूफान का आना और बंधुदत्त का भविष्यंदत्त को धोखा देकर तिलक द्वीप पर छोड़ जाना।
९. भविष्यदत्त का जनशून्य नगरी में पहुँचना।
१०. वहाँ अतीव सुन्दरी कन्या के दर्शन।
११. एक राक्षस द्वारा दोनों का विवाह और १२ वर्ष तक साथ-साथ रहना।

१२. समुद्र के किनारे किसी जहाज की खोज में जाना, वहाँ असफल लौटते हुए बंधुदत्त से भेंट।

१३. बंधुदत्त की क्षमायाचना और भविष्यदत्त की सारी सम्पत्ति जहाज पर लादना, उसकी पत्नी को उसी पर बैठाना।

१४. भविष्यदत्त का जहाज चलने से पूर्व जिनमंदिर में दर्शन करने जाना और बंधुदत्त का उसे छोड़कर पत्नो एवं सम्पत्ति लेकर भाग जाना।

१५. देव की सहायता से भविष्यदत्त का घर पहुँचना।

१६. राजा से शिकायत और न्याय प्राप्त करना।

१७. राजा ने भविष्यदत्त को अपना उत्तराधिकारी बनाया और अपनी कन्या से विवाह किया।

१८. प्रथम पत्नी को मातृभूमि जाने की इच्छा, मैनाक द्वीप की यात्रा और जैन मुनि के दर्शन।

१९. कुछ दिन बाद मुनि का भविष्यदत्त के पूर्वभव का वर्णन और भविष्यदत्त का वैराग्य।

२०. श्रुतपंचमी का माहात्म्य।

जसहरचरिउ की कथानक-रूढ़ियाँ :

१. मंगलाचरण।

२. कथा का नायक राजा।

३. एक कापालिकाचार्य का नगर में आगमन और अपूर्व गुणों से सम्पन्न होने की घोषणा।

४. राजा का वायुगमन की शक्ति प्राप्त करने का अनुरोध।

५. मनुष्य सहित सभी प्राणियों के जोड़ों की बलि देवी को चढ़ाने का विधान।

६. अधिकारियों ने सभी जोड़ों का प्रबन्ध किया परन्तु मनुष्य के जोड़े का अभाव।

७. जैन साधु-साध्वी का नगर में भिक्षा के लिए आना और कर्मचारियों द्वारा पकड़े जाना।

८. साधु का राजा को आशीर्वाद और राजा का आकर्षित होना।

९. साधु बालक का पूर्व भव को कथा बताना।

१०. पूर्व भव की कथा में रानी अमृतमती एक कुरूप व्यक्ति से प्रेम करती थी।
११. रानी ने राजा तथा उसकी माँ को विष दिया।
१२. मुनि द्वारा विभिन्न जन्मों की कथा का बताना।
१३. अन्त में मारिदत्त और भैरवानन्द कापालिक भी जैन धर्म में दीक्षित हुए।

णायकुमारचरिउ की कथानक-रूढ़ियाँ :

१. सरस्वती-वंदना से कथारम्भ।
२. कथा का श्रीपंचमी व्रत के माहात्म्य-प्रदर्शन के लिए निर्माण।
३. कथा का नायक जयन्धर।
४. वासव नाम का व्यापारी व्यापार-यात्रा से लौटा और अन्य उपहारों के साथ राजा को एक सुन्दरी का चित्र भेंट किया।
५. राजा चित्र पर मुग्ध हो गया।
६. राजा का मंत्रियों को भेजना और उस कन्या से व्याह करना।
७. रानियों के साथ आनन्दोद्यान में जाना।
८. प्रथम रानी को दूसरी रानी से ईर्ष्या और जिनमंदिर चले जाना।
९. वहां मुनि से पुत्र-प्राप्ति का आशीर्वाद।
१०. पुत्र के विषय में मुनि की अन्य भविष्यवाणियां।
११. बच्चे का कुएं में गिरना और नाग द्वारा रक्षा।
१२. बच्चे का पैर लगते ही मंदिर के द्वार खुल गए।
१३. पंचसुगन्धिनी का महल में दिव्य बाँसुरीवादक की खोज में पहुँचना और नागकुमार को श्रेष्ठ पाकर अपनी दोनों कन्याओं का विवाह करना।
१४. द्यूतक्रीड़ा।
१५. राजकुमार का उद्धत घोड़े को ठीक करना।
१६. सौतेले भाई की ईर्ष्या और नागकुमार को मरवाने का प्रयत्न।
१७. मल्लयुद्ध में नागकुमार द्वारा हाथी को उठा लेना।
१८. घमासान युद्ध।
१९. नागकुमार ने बहुविवाह किए।

२०. भीमासुर का नागकुमार की पत्नी को पाताल में ले जाना।
२१. नागकुमार द्वारा पाताल जाना और उद्धार।
२२. अन्तर्कथाओं का समावेश।
२३. नागकुमार बहुत काल तक राज्य करते हैं और अन्त में मुनि-दीक्षा ले लेते हैं।

जम्बूसामिचरिउ की कथानक-रूढ़ियाँ :

१. मंगलाचरण।
२. जम्बूस्वामी की माता के पांच स्वप्न और मुनि द्वारा उनका फलकथन।
३. श्रेणिक राजा के विवाह की भविष्यवाणी कि उनका विवाह मृगांकपुत्री से होगा।
४. विद्युच्चर ने चोरी करने के लिए पहरेदारों को औषधि से वेहोश कर दिया।
५. सागरदत्त मुनि के दर्शन से शिवकुमार को वैराग्य उत्पन्न होना।
६. भवदेव का विवाह होते समय मुनिसंघ का आगमन। भवदेव का मुनि भवदत्त को पहुँचाने जाना और अनिच्छापूर्वक दीक्षा लेना।
७. दीक्षा के बाद में नगर में आना और मार्ग में पत्नी के मिल जाने पर विचलित होना परन्तु पत्नी के सदुपदेश से प्रायश्चित्त करना।
८. तीसरे भव में मुनि सागरदत्त के द्वारा, पांचवें भव में सुधर्मा और जम्बूस्वामी द्वारा अपने पूर्वभव की कथा कही जाती है।
९. जम्बूस्वामी सुधर्मा से सम्यक्त्वोपलब्धि का कारण पूछते हैं।
१०. सागरदत्त, शिवकुमार मुनि और जंबूस्वामी को एक-दूसरे के निमित्त से वैराग्य होता है।
११. अन्य जल-उपवन-उद्यानक्रीड़ा आदि सम्बन्धी रूढ़ियों का भी निर्वाह हुआ है।
१२. युद्ध के अन्तर्गत आकाशयुद्ध आदि का वर्णन।

१३. अन्तर्कहानियों का उल्लेख।
१४. अन्त में जम्बूस्वामी केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष गए।

करकंडुचरिउ की कथानक-रूढ़ियाँ :

१. मंगलाचरण।
२. राजकुमारी पद्मावती का अशुभ लग्न में उत्पन्न होना और एक उद्यान में छोड़ा जाना।
३. करकंडु ने विवाह किया।
४. रानी को दोहद हुआ कि वह पुरुष वेश में राजा के साथ भ्रमण करे।
५. नगर-भ्रमण के समय हाथी भाग खड़ा हुआ। रानी की प्रार्थना पर राजा एक वृक्ष की शाखा से लटक कर अलग हो गया। रानी एक वन में पहुँच गई।
६. रानी के पहुंचते ही सूखा वन हरा हो गया।
७. रानी को श्मशान में पुत्र उत्पन्न हुआ जिसे एक चांडाल ले गया।
८. एक अन्य राजा की मृत्यु पर करकंडु को राजा बनाया गया।
९. नायक और उसके पिता में युद्ध तथा मां ने दोनों को मिलाया।
१०. नायक करकंडु की पत्नी को एक विद्याधर हाथी के रूप में आकर हरण कर ले गया।
११. करकंडु का सिंहल में जाकर राजकुमारी से विवाह।
१२. सिंहल की राजकुमारी के पेट से सर्प का निकलना और करकंडु द्वारा उसका मारना।
१३. सिंहल से लौटते समय नौका पर मच्छ का आक्रमण।
१४. करकंडु ने मच्छ को मार डाला पर उसका एक विद्याधरी द्वारा हरण कर लिया गया और वह नौका पर न लौट सका।
१५. रानी एक अन्य द्वीप पर पहुँच गई और पति की प्राप्ति हेतु पूजा की। पद्मावती ने प्रकट हो पति-मिलन का आश्वासन दिया।

१६. विद्याधरी ने करकंडु से विवाह किया और वियुक्त रानी से मिलाया।

१७. शीलगुप्त नामक मुनिराज का शुभागमन, करकंडु के उनसे तीन प्रश्नों का समाधान।

१८. करकंडु का वैराग्य, केवलज्ञान और मोक्षप्राप्ति।

उपर्युक्त अपभ्रंश कथाकाव्यों की कथानक-रूढ़ियों को देखने से इतना अनुमान अवश्य हो जाता है कि यह एक परिपाटी ही थी जिसका पालन कवि के जाने अथवा अनजाने ही होता रहा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी प्रेमाख्यानकों की कथानक-रूढ़ियों (जिनका विवरण प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में किया गया है) और अपभ्रंश काव्यों की रूढ़ियों में नायक का योगी होना, किसी चमत्कारी घटना का सहायक होना, सिंहल द्वीप की यात्रा और वहाँ की राजकुमारी से विवाह, प्राकृतिक दृश्य-वर्णन, रानी को दोहद होना आदि कथानक-रूढ़ियाँ सामान्य रूप से दोनों में पाई जाती हैं। अनेक कथानक-रूढ़ियाँ संस्कृत साहित्य से ज्यों-की-त्यों अपभ्रंश और हिन्दी में आ गई। अनेक तत्कालीन लोकमानस की उपज हैं।

दोहद

प्रो० ब्लूमफील्ड ने दोहद 'मोटिफ' को निम्न छः भागों में विभक्त किया है :

१. दोहद की अपूर्ति गर्भस्थ पुत्र को विकृत करती है अथवा उसके किसी अंग विशेष को आघात पहुँचाती है अथवा प्रजनन में कष्ट पैदा होता है।

२. दोहद पति को शीघ्र ही वीरता के कार्य, उच्चतम ज्ञान, बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य करने की प्रेरणा करता है।

३. दोहद दैवी कर्मों का रूप धारण करता है अथवा दैवी इच्छा का रूप लेता है।

४. दोहद घटना को आलंकारिक या रोचक बनाने के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है, जो कहानी की मुख्य घटनाओं को प्रभावित नहीं करता।

५. दोहद स्त्री के द्वारा प्रस्तुत एक विश्वास है कि वह कुछ इच्छाओं की संतुष्टि कर सके।

६. दोहद एक बनावटी आवश्यकता है जो कि इस विश्वास में स्त्रियों की एक चाल (ट्रिक) है कि उनकी इच्छा-पूर्ति होनी चाहिए।

दोहद के उक्त छः रूपों में से अन्तिम रूप का प्रयोग अपभ्रंश अथवा हिन्दी प्रेमाख्यानकों में देखने को नहीं मिला। भारतीय मान्यता से दोहद गर्भिणी की इच्छापूर्ति का उपक्रम है। याज्ञवल्क्यस्मृति में स्पष्ट लिखा है कि गर्भिणी की विचित्र इच्छाएँ गर्भ का स्वाभाविक और सहज परिणाम है अतः उनकी पूर्ति अवश्य होनी चाहिए। संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी के प्रेमाख्यानों में इस परिपाटी को काल्पनिक कलेवर देकर चित्र-विचित्र बनाने का खूब प्रयत्न हुआ। दोहद के तीन भेद किये जा सकते हैं: सामान्य दोहद अर्थात् गर्भिणी की इच्छापूर्ति और वृक्ष-दोहद तथा तिथि-दोहद। वृक्ष-दोहद एक प्रकार की काव्यरूढ़ि हो गई थी। वृक्ष के साथ दोहद का अर्थ पुष्पोद्गम है। मेघदूत, रघुवंश, नैषध आदि में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। तिथि-दोहद के अन्तर्गत यात्रा के समय तिथि, वार या दिशा से उत्पन्न दोषों की शान्ति के उपक्रमों को परिगणित किया जा सकता है। मुहूर्तचिन्तामणि आदि ग्रन्थों में इस पर विस्तार से विचार है। रास्ते में होने वाले शकुन-अपशकुनों को भी इसी में सम्मिलित कर लेना चाहिए। अपभ्रंश और हिन्दी कथाकाव्यों में तीनों प्रकार के दोहदों से सम्बद्ध सामग्री प्राप्त होती है।

यह रूढ़ि संस्कृत साहित्य से ही चली आ रही है। भवभूति ने उत्तररामचरित में सीता के मुख से दोहदपूर्ति का आग्रह कराया है। राम, लक्ष्मण और सीता जब वनवासादि के समय के भित्तिचित्रों को देखकर पूर्वानुभूतियों का स्मरण कर रहे थे तो इसी बीच अर्जुन के फूलों से सुगन्धित माल्यवान् पहाड़ के चित्र का चित्रण लक्ष्मण द्वारा किये जाने पर राम ने उन्हें रोका। राम से सीता कहती हैं—'आर्यपुत्र, एतेन चित्रदर्शनेन प्रत्युत्पन्नदोहदाया मम विज्ञापनीयमस्ति।' सीताजी को गर्भिणी की इच्छा के रूप में भागीरथी में स्नान करने की इच्छा हुई। वे कहती हैं—'जाने पुनरपि प्रसन्नगम्भीरासु वनराजिषु विहृत्य पवित्रनिर्मलशिशिरसलिलां

भगवतीं भागीरथीमवगाहिष्य इति' (पृ० ५८-५९)। ठीक इसी प्रकार अपभ्रंश कथाकाव्य करकंडुचरिउ में रानी को राजा के साथ हाथी पर बैठकर घूमने का 'दोहद' हुआ। ऐसे सामान्य दोहदों के अनेक उदाहरण हैं।

वृक्षदोहद के विषय में, जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, नैषध, मेघदूत, रघुवंशादि में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। साहित्यदर्पण में 'कविसमयप्रसिद्धि' के अन्तर्गत वृक्ष-दोहद के संदर्भ में लिखा है कि प्रियंगु स्त्रियों के स्पर्श से विकसित होता है, बकुल नायिकाओं द्वारा मदिरा के कुल्ले किये जाने पर, अशोक उनके पादाघात से, मन्दार मधुर वचनों से, चम्पक मधुर हास से, आम्र वक्त्रवात से, नमेरु संगीत से और कर्णिकार उनके नृत्य से पुष्पित होते हैं :

स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियंगुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्।
मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाता-
च्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः ॥

—साहित्यदर्पण, पृ० ५६२.

एक श्लोक और भी आया है :

पादाघातादशोको विकसति बकुलो योषितामास्यमद्यै-
र्यूनामङ्गेषु हाराः, स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः।
मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो-
र्भिन्नं स्यादस्य बाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ॥

—वही, पृ० ५६१.

अशोक वृक्ष के दोहद के सन्दर्भ में कुमारसंभव की मल्लिनाथटीका के उद्धरण भी द्रष्टव्य हैं :

सनूपुररवेण स्त्रीचरणेनाभिताडनम्।
दोहदं यदशोकस्य ततः पुष्पोद्‌गमो भवेत् ॥

अन्य—

पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः
शोकं जहाति बकुलो मुखसीधुसिक्तः।

आलोकितः कुरबकः कुरुते विकाश-
मालोडितस्तिलक उत्कलिको विभाति ॥
—कुमारसंभव, ३.२६ की टीका.

वृक्ष-दोहद पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका (पृ० २३० आदि) में विस्तृत विवेचन किया है।

तिथि-दोहद के उदाहरण हमें हिन्दी कथाकाव्य माधवानल-कामकंदला, रसरतन आदि ग्रन्थों में बहुतायत से मिल जाते हैं। जैसे गणपति-कृत माधवानल-कामकंदला में तिथि-विधि-निषेध शीर्षक से तिथि-दोहद की बात पुष्ट होती है :

आजा पडवा प्रेतबीज, अखात्रीज युग आदि।
वरजी चुथि गणेसनी, रिसिपंचमी प्रसादि ॥ ५९ ॥
चंपाछठि नइं अंचला, सत्तमि सीतल सुजाण।
आठमि दुर्वा गोकुला, नवमी राम रमाण ॥ ६० ॥
कलियुग आदि त्रयोदशी, चौदशि ईश अनंत।
आमा नइ पुनिम प्रगट, नारि न देखइ कंत ॥ ६२ ॥
आदित्यवार अनइं वली, मूल मघा रेवत्ति।
पौढी पुष्य पुनर्वसु, सोचि चढइ नहीं सत्य ॥ ६३ ॥
चैत्र आसोई नुरतां, अपर पक्षना दीह।
परवशि पिंड करी रहइ, अेतां आडी लीह ॥ ६७ ॥

रसरतन में पुहुपावती के जन्मोपरान्त ज्योतिषी भविष्यवाणी करते हैं :

इह विधि पंडित करहिं बखाना। विद्यावान भविष्य निदाना ॥ १८३ ॥

दस अतीत एकादशी होंहि अवर्ष समान।
तन पीड़ा मन मूढता रहहिं जतन कर प्रान ॥ १८४ ॥
जबहिं चतुर्दस बरष, वर वाला करहि प्रवेस।
तब कुटुम्ब चिंता मिटहि, निश्चित होहिं नरेस ॥ १८५ ॥

सूरसेन और राजकुमारी का सरोवर के तीर पर संयोग हुआ उसमें तिथिवार दिया है :

जेठ मास सित पश्छिमी, तिथि दसमी दस जोग।
सूर सरोवर तीर पर, भयौ उभै संजोग ॥ २३३ ॥

एक मास मारग चले, सह्यो सीत अरु घाम।
सरवर सोहनु पैषि कै, भयौ मनहिं विश्राम ॥ २३४ ॥

—रसरतन, पृ० १०६.

वस्तुवर्णन, मोटिफ, निजंधर तत्त्व आदि के तुलनात्मक अध्ययन के बाद हम मंगलाचरण, सज्जन-दुर्जनप्रशंसा-निन्दा आदि का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

मंगलाचरण

मंगलाचरण समस्त भारतीय ग्रन्थों में मिलता है। संस्कृत आचार्यों ने तीन प्रकार से मंगलाचरण करने का विधान बताया है। ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में मंगलाचरण करने का निर्देश किया गया है। इसका उद्देश्य यह है कि कार्य का प्रारम्भ, उत्थान और अन्त निर्विघ्न हो सके। यह एक आस्था—विश्वास और संस्कृति की देन है। अपभ्रंश काव्य हों अथवा हिन्दी प्रेमाख्यानक सभी में कवियों ने अपने-अपने इष्ट-देवों का स्मरण किया है। कहीं-कहीं वाग्देवी सरस्वती के स्मरण से ही काव्य का आरम्भ किया गया है—जैसे णायकुमारचरिउ। नयनंदी ने सकलविधिनिधान काव्य में सरस्वती की स्तुति इस प्रकार की है :

छद्दंसण छच्चरण छंदालंकार फुरिय पक्खउडा।
णवरस कुसुमासत्ता, भिंगिव्व गिरा जए जयउ ॥ १ ॥
विलसिय सविलास पया वाएसी परमहंस तल्लीण।
मुणिगण हर पमुह मुहारविंद ठिय जयउहं सिव्व ॥ २ ॥

रसरतनकार ने सरस्वती देवी को विभिन्न विशेषणों से युक्त स्मरण किया है :

जा गंगा तारंगीवानी। साम्या पातायों ब्रह्मानी।
जा ब्रह्मा ईसो गोविंदं। जा सूरो देवानं इंदं ॥ ७ ॥
जा बानी वोगेसं ईसं। जा वानी आदेषं दीसं।
जा वीना वानोदा दंडी। सा वानी पादोयं चंडी ॥ ८ ॥
सुमृत वेद अरु व्याकरन सेव सो आहि।
ब्रह्म सुता नाराइनी देत बुद्धि बल ताहि ॥ १० ॥

—आदि खण्ड, पृ० ४–५.

अपभ्रंश-स्तुति में सरस्वती को षड्दर्शन, छंदालंकार, रस आदि से युक्त बताया गया है। उसी प्रकार स्मृति-वेद-व्याकरण आदि सरस्वती की सेवा करने से मिलते हैं, यह बताया गया है।

पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण

अपभ्रंश काव्यों के रचनाकारों में अपने पूर्ववर्ती कवियों को स्मरण करने की भी परम्परा थी। सकलविधिनिधान काव्य के रचयिता ने अन्य कवियों का स्मरण इस प्रकार किया है :

मणु जण्ण वक्कु वम्मीउ वासु, वररुइ वामणु कवि कालियासु।
कोऊहल वाणु मऊरु सूरु, जिणसेण जिणागम कमल सुरु।
वारायणवरणाउ विवियदडु, सिरि हरिसु राय सेहरु गुणदडु।
जसइंधु जए जयराय णाभु, जय देउ जणमणाणंद कामु।
पालित्तउ पाणिनि पवरसेणु, पायंजलि पिंगलु वीरसेणु।
सिरि सिंहणंदि गुणसिंह मद्दु, गुणभट्टु गुणिल्लु समंस भद्दु।
अकलंकु विखम वाईय विहंडि, कामदडु रुदडु गोविंदु दंडि।
भम्मुई भारहि भरहुवि महंतु, चहुमुह सयंमु कइ पुप्फयंतु।
घत्ता—सिरि चंदु पहांचंदु वि विवुह, गुण गण णंदि मणोहरु।
कइ सिरि कुमार सरसइ कुमरु, कित्ति विलासिणि सेहरु॥ १.५.

इसी प्रकार मुनि कनकामर ने करकंडुचरिउ में सिद्धसेन, समंतभद्र, अकलंकदेव, जयदेव, स्वयंभू और पुष्पदन्त का उल्लेख किया है :

तो सिद्धसेण सुसमंतभद्द अकलंकदेव सुअजलसमुद्द।
जयएव सयंभु विसाऊचित्तु वाएसरिघरु सिरिपुप्फयंतु॥
—१. २. ८-९.

यह परम्परा अथवा रूढ़ि हिन्दी-प्रेमाख्यानकों में ज्यों-की-त्यों चली आई। पुहकर ने निम्नलिखित कवियों का उल्लेख किया है :

प्रथम सेष अरु व्यासुदेव सुषदेवहं पायौ।
बालमीक श्रीहर्ष कालिदासहं गुन गायौ।
माघ-माघ दिन जेमि वांन जयदेव सुदंडिय।
भानदत्त उदयेन चंद वरदाइक चंडिय॥

ये काव्य सरस विद्या निपुन वाकवानि कंठह् धरन।
कविराज सकल गुन गन तिलक सुकवि पौहकर वंदत चरन ॥

—रसरतन, पृ० ५.

सज्जन-दुर्जन-उल्लेख

अन्य कई कवियों ने भी इस प्रकार की परम्परा का निर्वाह किया है। इसके अतिरिक्त रचयिता सज्जन-दुर्जनों का भी स्मरण करते थे। भविष्यदत्तकथा में इस प्रकार का स्मरण किया गया है :

इहु सज्जणलोयहो विणउ सिट्ठु।
जो सुहि मज्झत्थुं विसिट्ठु इट्ठु ॥
जो पुणु खलु खुड्डु अइट्ठु संगु।
सो किं अब्भत्थिउ देइ अंगु ॥
परिच्छिद्दसएहिं-वावारु जासु।
गुणवन्तु कहिंमि किं कोवि तासु ॥
णउ सक्कइ देखिवि परहो रिद्धि।
णउ सहइ सउरिसहं गुणपसिद्धि ॥ १.३.

रामचरितमानस में तुलसीदास ने भी खल-वन्दना की है :

बहुरि बन्दि खलगन सतिभाए। जे बिनु काज दाहिनेहु बाएं।
परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष विषाद बसेरे ॥

इन कवियों में अनभिज्ञता-प्रकाशन की भी प्रणाली थी अथवा यों कहें कि इनकी प्रकृति अत्यधिक सरल थी। तुलसी और स्वयंभू दोनों ने अपने को अविवेकी तक कह डाला है :

बुहयण सयम्भु पइं विण्णवइ।
भइं सरिसउ अण्णु णहिं कुकइ ॥
वायरणु कयावि ण जाणियउ।
णउ वित्ति-सुत्तु वक्खाणियउ ॥
णउ बुज्झिउ पिङ्गल-पत्थारु।
णउ भम्मह-दंडि-अलङ्कारु ॥ पउमचरिउ, १.३.

तुलसीदास कहते हैं :

कवित विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे ।।
कवि न होउं नहि चतुर प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू ।।

इसी प्रकार के अनेक उद्धरण मिलते हैं जिनका तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

ऋतु-वर्णन

ऋतु-वर्णन के प्रसंग में अपभ्रंश से लेकर हिन्दी प्रेमाख्यानकों तक ऐसा कोई प्रेमकाव्य नहीं मिलेगा जिसमें ऋतुओं का वर्णन षड्ऋतु अथवा बारहमासा या चौमासा के रूप में न मिलता हो। प्रेमकाव्य में विरहिणी अथवा विरही की स्थिति का सही चित्रण करने लिए ऋतु-वर्णन आवश्यक भी होता है। संस्कृत में तो ऋतुसंहारादि काव्य ही रच दिए गये।

षड्ऋतुवर्णन और बारहमासे का वर्णन कवियों ने संयोग-वियोग के निश्चित पक्षों के आधार पर किया है। मूलतः षड्ऋतुवर्णन की परिपाटी संयोगश्रृंगार के लिए और बारहमासे की विप्रलंभ के लिए चली आई है। षड्ऋतु और बारहमासे के सम्बन्ध में डा० शिवप्रसाद सिंह ने निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है[1] :

१. दोनों हो उद्दीपन के निमित्त व्यवहृत काव्य-प्रकार हैं किन्तु सामान्यतः षड्ऋतु का वर्णन संयोगश्रृंगार में, बारहमासे का विरह में होता है। इन नियमों का पालन बड़े शिथिल ढंग से होता है, अतः अपवाद भी मिलते हैं।

२. षड्ऋतुवर्णन ग्रीष्मऋतु से आरम्भ होता है, बारहमासे की पद्धति के प्रभाव के कारण कई स्थानों पर वर्षा से भी आरम्भ किया गया है। बारहमासा प्रायः आसाढ़ महीने से आरम्भ होता है।

---

१. डा० शिवप्रसाद सिंह, सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० ३३७.

३. इन काव्यों की पद्धति बहुत रूढ़ हो गई है, कवि-प्रथा का पालन बहुत कड़ाई से होता है, इसलिए मौलिक उद्‌भावना की कमी दिखाई पड़ती है।

हरिवंशपुराण में मधुमास का वर्णन करते हुए कवि लिखता है कि फाल्गुन मास बीत गया और मधुमास आ गया। मदन उद्दीप्त होने लगा। लोक अनुरक्त हो गया। वन भाँति-भाँति के पुष्पों से सुन्दर और मनोहर हो गया। मकरन्द-पान से मत्त भ्रमर गुंजार करते हुए सुन्दर लग रहे हैं। गृहों में नारियां सज रही हैं, झूला झूलती हैं, विहार करती हैं। वन में कोयल मधुर आलाप करती है। सुन्दर मयूर नृत्य कर रहे हैं :

फग्गुण गउ महुमासु परायउ, मयणुद्दलिउ लोउ अणुरायउ।
वण सय कुसुमिय चारु मणोहर, वहु मयरंद मत्त वहु महुयर।
गुमगुमंत खणमणइं सुहावहिं, अहपणट्ठ पेम्मुउक्कोवहिं।
केसु व वणहिं घणारुण फुल्लिय, ण विरहग्गे जाल पमिल्लिय।
घरि घरि णारिउ णिय तणु मंडिहिं, हिंदोलहिं हिंडहि उग्गायहिं।
वणि परपुट्ठ महुर उल्लावहिं, सिहिउल सिहि सिहरेहिं घहावइ॥

—१७.३.

ऊपर वसंत ऋतु का एक चित्रण प्रस्तुत किया गया। वस्तुतः ऋतु-वर्णन के प्रसंग में यह नहीं कहा जा सकता कि वर्णन की परिपाटी या मान्यता क्या थी अर्थात् उनका क्रम क्या था। किसी ने वसन्त को पहले रखा है तो किसी ने ग्रीष्म को। सामान्यतः षड्‌ऋतुओं का वर्णन करने वालों ने वसन्त ऋतु से ही ऋतुओं का प्रारम्भ माना है। षड्‌ऋतु और बारहमासा सम्बन्धी रचनाएँ भारतीय प्रदेशों की कई भाषाओं में उपलब्ध होती हैं। प्रायः षड्‌ऋतुवर्णन संयोगशृंगार को लेकर हुआ है, संदेशरासक इसका अपवाद है। बारहमासों में प्रकृतिचित्रण आसाढ़ मास से किया जाता रहा है। पूर्व में ऋतुवर्णक कतिपय रचनाओं का नामोल्लेख किया जा चुका है। संदेशरासक और पृथ्वीराजरासो के षड्‌ऋतुवर्णन भी उल्लेखनीय हैं। इन विभिन्न काव्यों में ये वर्णन विभिन्न उद्‌देश्यों की पूर्ति के लिए किए गए ही प्रतीत होते हैं। यों प्राचीनतम प्रणाली में ऋतुवर्णनों का महत्त्व मात्र प्रकृति के सौन्दर्यनिरू-

पण की दृष्टि से ग्राह्य था। रासो के ऋतुवर्णन की विशेषताओं पर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विशद प्रकाश डाला है[1]। कुछ ऋतुवर्णन सम्बन्धी पद विभिन्न काव्य-संग्रहों में भी मिलते हैं। वसन्त ऋतु का एक आकर्षक चित्र प्रस्तुत करने वाला उदाहरण देखिए :

फुल्लिअ केसु चन्द तह पअलिअ मंजरि तेज्जइ चूआ।
दक्खिण वाउ सीअ भइ पवहइ कम्प विओइणि हीआ॥
केअइ धूलि सव्व दिस पसरइ पीअर सव्वउ भासे।
आउ वसन्त काइ सहि करिअइ कन्त ण थक्कइ पासे॥

—प्राकृतपैंगलम्, २१३.

वसंत ऋतु की आम्र-मंजरियां, चाँदनी, दक्षिणी शीतल पवन आदि विरहिणी के हृदय को पीड़ा देती हैं। वसन्तागमन से केशर की धूलि चारों ओर फैल गई है जिससे सभी ओर पीला-पीला ही दिखाई पड़ता है। नायिका अपनी सखी से पूछती है कि प्रिय पास नहीं हैं और वसन्त आ गया, मैं क्या करूं ? मधुमास की इस पीड़ा को मंझन ने मधुमालती में व्यक्त किया है :

चैत करह निसरे बन बारी। बनसपती पहिरी नव सारी।
चहुं दिसि भा मधुकर गुंजारा। पांखुरि फूल डारिन्ह अनुसारा।
कुसुम सीस डारिन्ह सेउं काढ़े। तरिवर नौ साखा भे बाढ़े।
फागुन हुते जे तरु पतझारे। ते सभ भए चैत हरियारे।
मोहि पतझार जो भा बिनु साईं। सो न सखी मौला अब ताईं।
दुखु दै प्रीतम छाड़ि गा जननि दीन्ह बनवास।
औ रबि आठौं मै तपा कै मोहि सिर परगास॥ ४१०॥

—मधुमालती, पृ० ३५८.

वसन्तागम के समय विरही लोग पुष्पों की गन्ध, मन्द पवन के झोंकों, भौरों की गुंजार और कोयल-रव से कष्टानुभव करते हैं तथा पूर्वसंयोगावस्था का स्मरण करते हैं :

जं फुल्लु कमलवण बहइ लहु पवण
भमइ भमरकुल दिसि विदिसं

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ८२--८३.

झंकार पलइ वण रवइ कुहिल गण
विरहिअ हिअ हुअ दर विरसं ॥

—प्राकृतपैंगलम्, २१३.

रसरतनकार ने षड्ऋतु—बारहमासे का अत्यधिक मनमोहक चित्र उपस्थित किया है। वसंत ऋतु का रसरतन में इस प्रकार वर्णन किया गया है :

मधु मास चैत सोभित वसंत। संयोग संग दंपति लसंत।
रितु पाइ राज रति राज साज। दल सज्ज कीन विरहिनी काज ॥ ७९ ॥
अंकुरित पत्र तरु हरित नील। हलि चलित मनौ दल मदन पील।
रंग अरुन फूलि किंसुकि विधान। जनु कटक मांझ सोभित वितान ॥८०॥
सोभित सरस छवि अम्ब मौर। सिर ढरहिं मनौ मनमथ्थ चौर।
केवरो मलति मालती जाइ। जनु मैन वान राषिय वनाइ ॥ ८१ ॥
गुंजरत भ्रमर कोकिल सुकीर। जसु भनत बंदिजन विप्र धीर।
लपटाइ लता लागी तमाल। जनु करति त्रिया कर अंकमाल ॥ ८२ ॥
सुनु सुक जु चित्त मुहिं नहिन चैत। भये मदन सूर मिलि मदन कैत।
हिय सून प्रान घरनी निकंत। किहि अंग संग मानौ वसंत ॥ ८३ ॥

—युद्धखंड, पृ० २१२.

बारह मासों के वर्णन के लिए नेमिनाथचउपई का नाम उल्लेखनीय है। नेमिनाथचउपई में जैनों के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ और राजमती के प्रेम का रोमांचकारी एवं स्वाभाविक चित्रण है। ज्येष्ठ मास में जिस प्रकार सूर्य तप्त होता है, नदियां सूख जाती हैं, ऐसी अवस्था में पति के न आने से चंपा-लता को पुष्पित देखकर नेह-पगी राजुल मूर्च्छित हो जाती है :

जिट्ठ विरह जिमि तप्पइ सूर, छण वियोग सूखिउ नइ पूर।
पिक्खिउ फुल्लिउ चंपइ विल्लि, राजल मूर्छो नेह गहिल्लि ॥

इस वर्णन का जायसी के पदमावत में किए गए ज्येष्ठ मास के वर्णन से साम्य देखा जा सकता है :

जेठ जरै जग बहै लुवारा। उठै बवंडर धिकै पहारा ॥
बिरह गाजि हनिवंत होइ जागा। लंका डाह करै तन लागा ॥
चारिहुँ पवन झँकोरै आगी। लंका डाहि पलंका लागी ॥
दहि भइ स्याम नदी कालिंदी। बिरह कि आगि कठिन असि मंदी ॥
परबत समुंद मेघ ससि दिनअर सहि न सकहिं यह आगि।
मुहमद सती सराहिऐ जरै जो अस पिय लागि ॥ ३५५ ॥

—पदमावत, पृ० ३५४.

पृथ्वीराजरासो में पृथ्वीराज भिन्न-भिन्न ऋतुओं में काम से प्रताड़ित होता है। चन्द ने ऐसे अवसरों पर ऋतुओं का अद्वितीय वर्णन किया है :

मोर सोर च्रहुँ ओर घटा आसाढ़ बंधि नभ।
वच्च दादुर झिंगुरन रटत चातिग रंजत सुभ ॥
नील बरन वसुमतिय पहिर आभ्रंन अलंकिय।
चंद वधू सिव्यंद धरे वसुमत्तिसु रज्जिय ॥
बरषत बूंद धन मेघसर तब सुभोग जद्दव कंअरि।
नन हंस धीर धीरज सुतन इष फुहे मन मत्थ करि ॥२५-६५॥
घन घटा बंधि तम मेघ छाय।
दामिनिय दमकि जामिनिय जाय ॥
बोलंत मोर गिरवर सुहाय।
चातिग्ग रटत चिहुँ ओर छाय ॥

कवि अद्दहमाण एक नायिका के माध्यम से वर्षा ऋतु का चित्रण करते हुए लिखते हैं कि कोई विरह-कातरा प्रिया किसी पथिक से अपने प्रिय को संदेशा भेजती है। वह मेघों का समय है। दसों दिशाओं में बादल छाये हुए हैं, रह-रह के घहरा उठते हैं, आकाश में विद्युल्लता चमक रही है, कड़क रही है, दादुरों की ध्वनि चारों ओर व्याप्त हो रही है—धारासार वर्षा एक क्षण के लिए भी नहीं रुकती। हाय पथिक, पहाड़ की चोटियों पर से उसने (प्रिय ने) कैसे सहा होगा ?

झंपवि तम वद्दलिण दसह दिसि छायउ अंबरु,
उन्नवियउ घुरहुरइ घोरु घणु किसणडंबरु।

णहहमग्गि णहवल्लिय तरल तडयडिवि लडक्कइ,
दद्दुररडण रउद्दु सद्दु क्वि सहवि ण सक्कइ।
निवड निरन्तर नीरहर दुद्धर धरधारोह मरु।
किम सहउ पहिय सिहरट्ठियइ दुसहउ कोइल रसह सरु ॥१४८॥

—संदेशरासक.

पृथ्वीराजरासो के वर्षा-वर्णन में कवि लिखता है—बादल गरज रहे हैं, प्रत्येक क्षण पहाड़ के समान बीत रहा है, सजल सरोवरों को देखकर सौभाग्यवतियों के हृदय फटे जा रहे हैं, बादल जल से सींच-सींचकर प्रेमलता को पलुहा रहे हैं, कोकिलों के स्वर के साथ मदन अपना बाण-संधान कर रहे हैं, दादुर, मोर, दामिनी, चातक शत्रु-सम व्यवहार कर रहे हैं आदि :

घन गरजै घरहरै पलक निस रैनि निघहै।
सजल सरोवर पिष्षि हियौ तत्छन घन फहै ॥
जल बद्दल बरषंत पेम पल्लहौ निरन्तर।
कोकिल सुर उच्चरै अंग पहरंत पंचसर ॥
दादुरह मोर दामिनि दसय अरि चवत्थ चातक रटय।
पावस प्रवेस बालम न चलि विरह अगिनि तन तप घटय ॥

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि बाद के ऋतुवर्णनों में प्राकृतिक दृश्यों का ध्यान उतना नहीं रखा जाने लगा जितना वस्तुओं की नाम-परिगणना का। इस पद्धति में जिनपद्मसूरि के थूलिभद्दफागु के वर्षा-वर्णन को देखा जा सकता है :

झिरिझिरि झिरमिर झिरमिर ए मेहा वरसंति।
खलहल खलहल खलहल ए बादला वहंति ॥
झब झब झब झब झब झब ए बीजुलिय झक्कइ।
थर हर थर हर थर हर एक विरहिणि मणु कंपइ ॥ ६ ॥
महुर गंभीर सरेण मेह जिमि जिमि गाजन्ते।
पंच बाण निज कुसुम बाण तिम तिम साजन्ते ॥
जिमि जिमि केतकि महमहंत परिमल विगसावइ।
तिमि तिमि कामिय चरण लग्गि निज रमणि मनावइ ॥ ७ ॥

विषय-विवेचन की दृष्टि से ग्रन्थ या रचना को एकाधिक भागों में विभक्त करना अनिवार्य तत्त्व है। इनको नामकरण की दृष्टि से सर्ग, अध्याय, परिच्छेद, खंड, लम्बक और सन्धि आदि रूपों में देखा जा सकता है। अपभ्रंश कथाकाव्यों में प्रायः 'सन्धि' होती थी और उनमें कहीं-कहीं परिच्छेद भी होते थे। इसकी सूचना प्रत्येक संधि के प्रत्येक परिच्छेद की समाप्ति पर दे दी जाती थी। उदाहरणार्थ :

इह णायकुमारचारुचरिए णण्णणामंकिए महाकविपुप्फयंतविरइए महाकव्वे बालवीरलंभो णाम चउत्थो परिच्छेउ समत्तो। संधि ॥ ४ ॥

हिन्दी में कहीं खंड, कहीं अध्याय और कहीं परिच्छेदादि द्वारा विषय-विभक्त करके विवेचन की परिपाटी रही है। पदमावत, रसरतन आदि में 'खंड' नामकरण किया गया है, जैसे—अप्सरा खंड, युद्ध खंड, सिंहल यात्रा-वर्णन खंड आदि।

छंद

अपभ्रंश एवं हिन्दी प्रेमाख्यानकों की छन्द-योजना पर विचार करने के पूर्व 'छन्द' शब्द के अर्थ से परिचित होना आवश्यक है। 'छन्द' शब्द का कई अर्थों में प्रयोग किया जाता रहा है। श्रीमद्भगवद्गीता में वेदों को 'छन्दस्' कहा गया है :

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १५.१.

अमरकोश में 'छन्द' शब्द का अर्थ अभिप्राय लिखा गया है—'अभिप्रायश्छन्द आशयः'[१]। अन्यत्र अमरकोशकार ने छन्द का अर्थ 'वश'—'अभिप्रायवशौ छन्दाब्दौ जीमूतवत्सरा'[२] किया है। गायत्री प्रमुख छन्द है—'गायत्री प्रमुखं छन्दो'[३]। पद्य द्वारा व्यक्त अभिलाषा छन्द है—'छन्दः पद्येऽभिलाषे च'[४]। हिन्दी शब्दसागर के अनुसार 'छंद' संज्ञा

---

१. अमरकोश, तृतीय काण्ड, संकीर्णवर्ग, श्लोक २०.
२. वही, नानार्थवर्ग, श्लोक ८८.
३. वही, द्वितीय कांड, ब्रह्मवर्ग, श्लोक २२.
४. वही, तृतीय कांड, नानार्थवर्ग, श्लोक २३२.

पुंलिग शब्द है जो संस्कृत 'छंदस्' से निकला है। हिन्दी में इस शब्द का सोलह अर्थों में प्रयोग मिलता है।[1] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने छन्द को आवेग का 'वाहन'[2] तथा 'एक चित्त के अनुभव को अनेक चित्तों में अनायास संचरित करने वाला महान् साधन'[3] माना है। कालिदास ने छन्द का आदि रूप प्रणव को माना है।—'प्रणवश्छन्दसामिव'[4]। पाणिनीयशिक्षा में वेदज्ञान की जिस पुरुषरूप में कल्पना की गई है उस पुरुष के चरण छन्द हैं :[5]

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥ ४१ ॥

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्येव ब्रह्मलोके महीयते ॥ ४२ ॥

ऐसी मान्यता है कि वैदिक युग में छन्द देवताओं को प्रसन्न करने के साधन थे। परन्तु साहित्यिक विधाओं में छन्दों का प्रयोजन 'एक चित्त के अनुभव को अनेक चित्तों में अनायास संचरित करने वाले महान् साधन' से है। डा० पुत्तूलाल शुक्ल के शब्दों में 'छन्द वह वैखरी ध्वनि (मानवोच्चारित ध्वनि) है, जो प्रत्यक्षीकृत निरन्तर तरंगभंगिमा से आह्लाद के साथ भाव और अर्थ की अभिव्यंजना कर सके।'[6] छन्द को भेदों की दृष्टि से पिंगल नागमुनि ने सम, अर्द्धसम और विषम तीन रूपों में विभक्त किया है—सममर्धसमं विषमं च। पिंगलच्छन्दःसूत्रम् के टीकाकार हलायुध भट्ट ने लिखा है कि जिसके चारों पाद एक लक्षणयुक्त हों वह सम वृत्त और जिसके अर्ध पाद (दो चरण) एक समान हों तथा दूसरे दो चरण एक समान हों उसे अर्धसम छन्द

---

१. हिन्दी शब्दसागर (वृहत्).
२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य का मर्म, पृ० ४१.
३. वही, पृ० ४६.
४. रघुवंश, १.११.
५. पाणिनीयशिक्षा, ४१-४२.
६. डा० पुत्तूलाल शुक्ल, आधुनिक हिन्दी-काव्य में छंद-योजना, पृ० २१.

कहते हैं।[1]

उक्त विषय के विस्तार में न जाकर यहाँ हम कतिपय अपभ्रंश कथाकाव्यों में प्रयुक्त छन्दों के अध्ययन के बाद हिन्दी प्रेमाख्यानकों में वर्णित छन्दों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे। अपभ्रंश रचना सुदंसणचरिउ में कवि नयनंदी ने वार्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। इसमें प्रयुक्त छन्दों की तालिका इस प्रकार है :

पादाकुलक, रमणी, मत्तमातंग, कामबाण, दुवई भयण विलासा, भुजंगप्रयात, प्रमाणिका, तोडसाउ, मंदाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, मालिनो, दोधय, समानिका, भयण, त्रिभंगिका (मंजरी, खंडिय और गाथा का मिश्रण), आनंद, द्विभंगिमा (दुवई और गाहा का मिश्रण), आरणाल, तोमर, मंदयारुत्त, अमरपुरसुन्दरी, मदनावतार, मागहणक्कुडिया, शालभंजिका, विलासिनी, उविंदवज्जा, इंदवज्जा अथवा अखीणइ, उवजाइ (उपजाति), वसंतचच्चर, वसंत्थ, उव्वसी, सारीय, चंडवाल, भ्रमरपद, आवली, चन्द्रलेखा, वस्तु, णिसेणी, लताकुसुम, रचिना, कुवलयमालिनी, मणिशेखर, दोहा, गाथा, पद्धडिया, उण्हिया, मोत्तियदाम, तोणउ, पंच-चामर, सग्गिणी, मंदारदाम, माणिणो, पद्धडिया (रयणमाल, चित्तलेह, चंदलेह, पारंदिया, रयडा इत्यादि)।

नयनन्दीकृत सकलविधनिधान काव्य में सुदंसणचरिउ में प्रयुक्त छन्दों के अतिरिक्त ये छन्द प्रयुक्त हुए हैं :

श्रेणिका, उपश्रेणिका, विषमशोर्षक, हेममणिमाल, रासाकुलक, मंदरतार, खंडिका, मंजरी, तुरंगगति (मदन), मंदतारावली (कुसुमकुसुमावलि), सिंधुरगति, चारुपदपंक्ति, मनोरथ, कुसुममंजरी, विश्लोक, मयणमंजरी, कुसुमघर, भुजंगविलास, हेला, उवविछिया, रासावलय, कामललिया, सुन्दरमणिभूषण, हंसलील, रक्ता, हंसिणी, जामिणो, मंदरावली, जयंतिया, मंदोद्धता, कामक्रीड़ा, णागकण्णा, अणंगभूसण, गउंदलील, गुणभूषण, रुचिरंग, स्त्री, जगन्सार, संगीतकगान्धर्व, बाल-

---

१. पिंगल नागमुनि, पिंगलच्छन्दःसूत्रम्, २.५.

भुजंगललित, चंड, शृंगार, पवन, हरिणकुल, अंकणिका, धनराजिका (हेला), अंजनिका, वसन्ततिलक, पृथिवी, प्रियंवदा (अनन्तकोकिला), पुष्फमाल, पंतिया, शालिनो, विद्युन्माला, यथोद्धता, कौस्तुभ (तोणक), अशोकमालिनी इत्यादि।

कवि लक्खण ने जिणदत्तचरिउ में वार्णिक-मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है :

विलासिणो, मदनावतार, चित्तंगया, मोत्तियादाम, पिंगल, विचित्त-मणाहरा, आरणाल, वस्तु, खंडय, जंभेट्टिया, भुजंगप्पयाउ, सोमराजी, सग्गिणी, पमाणिया, पोमणी, चच्चर, पंचचामर, णराच, तिभंगिणिया, रमणोलता, समाणिया, चित्तिया, भमरपय, भोणय, अमरपुरसुन्दरी, लहुमत्तियसिगिणी, ललिता इत्यादि।

पउमचरिउ में गन्दोकधारा, द्विपदी, हेलाद्विपदी, मंजरी, शाल-भांजिका, आरणाल, जंभेदिया, पद्धड़िका, वदनक, पाराणक, मदनावतार, विलासिनो, प्रमाणिका, समानिका, भुजंगप्रयात आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है।

अपभ्रंश के उक्त छन्दों की एक लम्बी तालिका प्रस्तुत करने का मात्र यह उद्देश्य रहा है कि अपभ्रंश काव्यों में प्रयुक्त अधिकांश छन्दों की जानकारी हो सके। इन छन्दों के लक्षण या परिभाषा देने का उद्देश्य नहीं है। यों अपभ्रंश के जिन काव्यों का सम्पादन हो चुका है उनके सम्पादकों ने अपनी भूमिका अथवा प्रस्तावना में सम्पादित काव्य के छन्दों पर भी विचार किया है। उदाहरणार्थ—भविसयत्तकहा (पृ० २८–३६), णायकुमारचरिउ (पृ० ५७–६२), करकंडुचरिउ (पृ० ४९), जम्बूसामिचरिउ (पृ० १०१–१०७), मयणपराजयचरिउ (पृ० ७१–७७) आदि हमारे सामने हैं।

अपभ्रंश काव्य कडवकबद्ध अधिक लिखे गये। अपभ्रंश काव्यों में सर्ग की जगह प्रायः सन्धि का व्यवहार किया जाता है। प्रत्येक संधि में अनेक कडवक होते हैं और एक कडवक आठ यमकों का तथा एक यमक दो पदों का होता है। एक पद में, यदि यह पद्धड़ियाबद्ध

हो तो, सोलह मात्राएँ होती हैं। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार चार पद्धड़ियों यानी आठ पंक्तियों का कडवक होता है। अपभ्रंश काव्यों में चौपाई का प्रयोग प्रारम्भिक अवस्था में पद्धड़ियों की अपेक्षा कम हुआ है। पद्धड़िया छन्दों में श्रेष्ठ और मन को प्रसन्न करने वाला माना जाता था। स्वयंभू कवि ने लिखा है कि रासाबंध में घत्ता छड्डणिआ और पद्धड़िया के प्रयोग से जनमन-अभिराम हो जाता है :

घत्ता छड्डणिआहिं पद्धड़ियाहिं सुअण्ण रूए हिं।
रासाबंधो कव्वे जणमण अहिरामओ होहि॥[1]

पुहकर ने रसरतन में लिखा है कि जिस प्रकार समस्त छन्दों में पद्धरी छन्द शोभित होता है वैसे ही पूर्ण कलाओं से युक्त चन्द्र शोभित हो रहा था :

रतिनाथ देषि तहां धवल धाम।
मनि मुक्ति जटित नैननि विराम॥
नवसत कलानि मिलि लसत चंद।
जिहि छंद समत पद्धरी छंद॥ २४॥—स्वप्न, पृ० ३१.

अपभ्रंश कथाकाव्य भविसयत्तकहा में पद्धरि छंद का बहुतायत से प्रयोग हुआ है। वहाँ इसका प्रयोग कडवक विधान के लिए हुआ है। कड़वक के अन्त में घत्ता प्रायः रखा गया है। पद्धरि के चार पाद और प्रत्येक पाद १६ मात्राओं का होता है। उदाहरण के लिए भविसयत्त-कहा का पद्धरि छंद देखिए :

वित्थारिव लोयणदल विसाल। उल्लवइ हसेविणु कयणमाल॥
आयहो आएं फिर कवणु कज्जु। हुंतउ पडिउत्तरु देमि अज्जु॥

उक्त पद्धरि छंद में चार पाद और प्रत्येक पाद में १६ मात्राएं हैं। भविसयत्तकहा में अलिल्लह छंद का भी प्रयोग हुआ है जो बाद के हिन्दी काव्यों में आकर अरिल्ल छंद के नाम से जाना गया। पुष्पदंत ने

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १००.

णायकुमारचरिउ, कनकामर ने करकंडुचरिउ एवं अन्य अपभ्रंश कवियों ने पद्धरि छंद का प्रयोग कड़वक विधान के लिए किया है। करकंडुचरिउ का एक उदाहरण देखिए :

जहिं सरवरिउग्गयपंकयाइं।
णं धरणि वयणि णयणुल्लयाइं ॥—पृ० ४.

जिस प्रकार अपभ्रंश में ८ यमकों अर्थात् एक कड़वक के बाद घत्ता देने की प्रणाली थी उसी प्रकार हिन्दी के दोहा-चौपाई में लिखे जाने वाले पदमावत, रामचरितमानस आदि ग्रन्थों में ७ चौपाई के बाद एक दोहा देने की प्रणाली चल पड़ी।

अपभ्रंश में जो स्थान पद्धरि का था वही हिन्दी में चौपाई को मिला। चौपाई छंद हिन्दी प्रेमाख्यानक कवियों का प्रिय छंद रहा है। कुतुबन की मृगावती में प्रयुक्त छन्दों को चौपाई और दोहरा कहा गया है। उदाहरण के लिए :

मृगावती सुनि जिअ रहसाई। कामा जनु मधवानल पाई ॥
—सूफी काव्यसंग्रह, पृ० ९८.

जायसी, मंझन, उसमान, जान आदि कवियों ने क्रमशः पदमावत, मधुमालती, चित्रावली और कनकावती में इस छंद का प्रयोग किया है। चौपाई छंद के सम्राट तुलसीदास जी हुए जिन्होंने रामचरितमानस में इस छंद का सर्वाधिक प्रयोग किया। चौपाई और पद्धरि छंद मूलतः कथाकाव्यों में प्रयुक्त होने वाले छंद हैं। दोहा मात्रिक छंद है। इसके प्रथम और तृतीय चरण में १३-१३ मात्राएं एवं द्वितीय और चतुर्थ चरण में ११-११ मात्राएं होती हैं। जायसीकृत पदमावत में सात चौपाइयों के बाद एक दोहे का क्रम रखा है। परन्तु उसमें ऐसे दोहे ही मिलते हैं जिनमें प्रथम-तृतीय चरणों में १३-१३ मात्राएं नहीं मिलतीं। १३ मात्राओं के स्थान पर कहीं १६ मात्राएं भी मिलती हैं। वास्तव में यह अपभ्रंश का ही प्रभाव समझना चाहिये। अपभ्रंश काव्यों में पद्धडिका (१६ मात्राओं का छंद), बदनक (भी १६ मात्राओं का) और पारणक (१५ मात्राओं का) छंदों को कड़वकों में प्रयुक्त किया गया है। छंदों की विभिन्नता की परम्परा अपभ्रंश-कालीन है।

कवि पुहकर ने रसरतन में लगभग पैंतीस छंदों का प्रयोग किया है :

छप्पय, दोहा, सोमकांति, घाटक, सारदूल, चौपही, दंडक, सवैया, तोटक, पद्धरी, प्रयंगम, मोतीदाम, सोरठा, कुंडलिया, कवित्त, प्रवानिक, गीतिका, कंठभूषण, भुजंगप्रयात, सोरठा-दोहा, वथूह, पैड़ी, गुनदीपक, गीतमालती, मोदिका, तोटकी, क़ामिनीमोहन, नाराच, गाथा, भुजंगी, लीलावती, दुर्मिला, त्रिभंगी, शंखधारा, चंद्रजोति।

नयनंदी ने जिन छंदों का प्रयोग किया था उनकी तालिका पीछे दी जा चुकी है। रसरतनकार ने जिन छंदों का प्रयोग किया है उनमें से गाथा, दोहा, पद्धरी, भुजंगप्रयात, त्रिभंगी, चौपही और मोतीदाम आदि अनेक छंदों का नयनंदी आदि पूर्ववर्ती कवियों ने प्रयोग किया है।

प्रयंगम छंद : यह २१ मात्राओं का छंद होता है। ८, १३ पर यति, आदि में गुरु और अन्त में जगण होता है :

उठत उरोज नवीन छीन कटि केहरी।
नूपुर की झनकार जराऊ जेहरी॥
कंज तै कोमल चरन अरुन अति वाम के।
पूरित पंचहु बान तरक्कस काम के॥ ३३९॥

—रसरतन, पृ० १६१.

वथूह छंद : डा० शिवप्रसाद सिंह इसे रोला का ही एक रूप मानते हैं।[1] रोला के संदर्भ में डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी का मत है कि 'प्राचीन छंद ग्रन्थों में कोई रोला नामक छंद ही नहीं मिलता। हां, काव्य, वस्तु, वदनक, वत्थुओ और वत्थुवरण लगभग इसी के अनुरूप है।[2] छंद पयोनिधि भाषा में लिखा है कि उपदोहा के प्रथम दो चरणों के योग के समान चार चरण रखने से उस छंद को (रोला) रोलावत्थू कहते हैं।[3] रोलावत्थू को दोहावत्थू का भेद माना गया है जिसके आनंदवत्थू, मंगलवत्थू, रायवत्थू और मोहनवत्थू ये चार भेद हैं।[4] रस-

१. चंदवरदाई और उनका काव्य, पृ० २३६.
२. हरदेवदास, छंद पयोनिधि भाषा, ३.१९३–१९४.
३. वही, ७.१९२.
४. पउमचरिउ, संपा०—डा० हरिवल्लभ भायाणी, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, पृ० ७८.

रतन के १४ + १० = २४ मात्राओं के इस छंद का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं :

कासी कौसल कारनाट, कनवज्ज कलिंजर।
कामरूप कैकय कलिंग, केदार कंछघर॥

कुछ छन्द संस्कृत से अपभ्रंश में ठीक उसी नाम से ले लिए गए और कुछ का कालभेद से नामपरिवर्तन तो हुआ परन्तु रूपपरिवर्तन नहीं हुआ। अपभ्रंश-हिन्दी छन्दों के विषय में भी उक्त बात लागू होती है। संस्कृत का जो स्रुग्विणी छन्द है वही कामिनीमोहन नाम से सामने आया।

कामिनीमोहन छन्द : इसमें चार रगण होते हैं। अपभ्रंश-कवि यशः-कीर्ति का छन्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत है :

अस्सथामो मुऊ तेहि ता उत्तऊ।
मुच्छिऊ दोण धनु बाण हत्थह चुऊ।
चेयणा या लहिवि कस्सा वि णउं पत्तिउ।
सच्चवाई य तउ धम्म सुउ पुच्छिउ॥

रसरतन में कामिनीमोहन छंद का प्रयोग हुआ है :

देषि सोभा रही रीझि प्यारी प्रिया। मग्ग भूलै चलै चित्त हारै त्रिया।
संग छांड़ै मृगी जेमि भूली फिरै। हार टूटै हियै भूमि मोती गिरै॥१२५॥

एक जानै नहीं छीन है अंचरा। मौन रीति चली सीस मंजै धरा।
एक टक्कै रही अंषिया जोहनं। रूप देषौ जहां कामिनी मोहनं॥१२८॥

—रसरतन, पृ० १४३.

पुहकर ने जिस छन्द में वर्णन किया है उसी में उस छन्द का नामोल्लेख और कहीं-कहीं लक्षण भी दे दिया है। कामिनीमोहन यहाँ दो अर्थों में प्रयुक्त होता है : एक प्रासंगिक अर्थ के लिए, दूसरा छन्द के नामोल्लेख के लिए। इसी प्रकार भुजंगप्रयात 'भुजंगा' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है :

बजै दुंदुभी ढोल भेरी मृदंगा।
सुनै सोर पाताल मध्ये भुजंगा॥ १९६॥

कंठभूषण छंद में भी उपर्युक्त प्रणाली अपनाई गई है :

कंठ अभूषन कै वह नामा।
यों सुमरे सुष प्रीतम स्यामा ।। १७० ।।
भुजा जनु नाग विराजत वाम।
उरस्थल सोभित मोतिय दाम ।। ३४ ।।
वत्तीसौ लच्छिन लच्छि लसै।
तन ज्यों गुन अच्छरि लीलवती ।।

पुहकर ने छंद के नामोल्लेख के साथ ही यहां उसका लक्षण भी बता दिया है कि यह ३२ अक्षर का छंद है। पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य में इस प्रकार के कई उदाहरण मिल सकते हैं। जैसे नयनंदी ने प्रासंगिक विषय के साथ ही छंद के नाम का भी उल्लेख कर दिया है :

वसंततिलक सिंहोद्धता वा णामेदं छन्दः
तुरंगति मदनो वा छन्दः
प्रियंवदा अनन्तकोकिला वा नामेदं छन्दः ।।

प्रेमाख्यानकों में विविध छन्दों का प्रयोग प्रायः विशुद्ध भारतीय प्रेमाख्यानकों में हुआ है। यों छन्दोगत परिवर्तन भी होते रहे। दोहा अपभ्रंश का पर्यायवाची ही बन गया। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'यह (दोहा) नवीं-दसवीं शताब्दी में बहुत लोकप्रिय हो गया था। इस छन्द में नई बात यह है कि इसमें तुक मिलाये जाते हैं। संस्कृत-प्राकृत में तुक मिलाने की प्रथा नहीं थी। दोहा वह पहला छन्द है, जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ और आगे चलकर एक भी ऐसी कविता नहीं लिखी गई जिसमें तुक मिलाने की प्रथा न हो। इस प्रकार अपभ्रंश केवल नवीन छन्द लेकर ही नहीं आई, बिल्कुल नवीन साहित्यिक कारीगरी लेकर भी आविर्भूत हुई।'[1] स्पष्ट है कि कविता में तुकबन्दी का प्रभाव सीधा अपभ्रंश से आया। यह लिखा जा चुका है कि छन्दोगत परिवर्तन प्रारम्भ से ही होते रहे। उनमें कुछ नवीन छन्द भी प्रकाश में आये और कुछ के नाम मात्र बदल गए। अपभ्रंश में विषय के अनुसार छन्द रखने की प्रथा थी। यदि कवि को युद्ध का वर्णन करना है तो वह ऐसे छन्द और शब्दयोजना का गठन करता है जिससे ध्वन्यात्मक रव से

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ९३.

युद्ध-स्थल का चित्र प्रस्तुत हो सके। वही प्रवृत्ति हिन्दी प्रेमाख्यानकों में भी अपनाई गयी। वैसी ही तुकवन्दी और शब्द-योजना।

हिन्दी प्रेमाख्यानकों की वर्णन-परिपाटी अपभ्रंश कथाकाव्यों की नींव पर ही खड़ी हुई। इनकी कथानक-रूढ़ियों में तादात्म्य के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। यह भी वर्णन परिपाटी का अंग था। प्रेम होने-में साक्षात् दर्शन, चित्र-दर्शन अथवा सौन्दर्य की प्रशंसा सुनना दोनों काव्यों में कारण माना जाता रहा है। जिस नारी से नायक का प्रेम-सम्बन्ध हुआ है उसके नख-शिख का वर्णन ये कवि अवश्य करते थे। सुदंसण-चरिउ में मनोरमा का रूप-वर्णन करते समय कवि को उपमाएं ही नहीं मिल रही थीं। वह लिखता है कि जो मनोरमा लक्ष्मी के समान है उसकी तुलना किससे की जा सकती है ? जिसकी चाल से लज्जित होकर समस्त हंस मानस में चले गये। जिसके अतिकोमल अरुण चरणों को देखकर रक्त कमल जल में प्रविष्ट हो गए। जिसके पैरों के नखों की कांति से पराजित हो नक्षत्र आकाश में चले गये....। जिसकी जंघाओं की कदली से तुलना करने पर वह फीका पड़ गया आदि :

जा लच्छि समा तहे काउवमा जाहे गइए सकलत्तइं।
णिरु णिज्जियइं, णं लज्जियउं हंसइं माणसे पत्तइं ॥ ४.१.
जाहे चरण सारूण अइ कोमल, पेछेवि जले पइट्ठ रत्तुप्पल।
जाहे पायणह मणिहि विचित्तइं, णिरसियाइं सहे ठिय णक्खत्तइं।
जाहि लडह जंघहि उहासिउं, रंभउ णीसारउ होएवि थिउ।
जाहे णियंबु बिंवुब अलहंते, परिसेसियउ अंगु रह कंते॥

इस प्रकार के नखशिख वर्णनों में पदमावत आदि हिन्दी प्रेमाख्यानक भी पीछे नहीं रहे। इनकी भी वही परिपाटी रही आई। इन सब बातों के अतिरिक्त दोनों ही प्रकार के प्रेमाख्यानकों में प्रेमोत्पत्ति, प्रेमोत्थान, मिलनस्थल आदि की प्रक्रियाएं समान रूप से चलती हैं। नायक का योगी होकर घूमना, किसी वाद्य विशेष द्वारा प्रेमिका को अपने आने की खबर देने जैसी घटनाएं कहीं-कहीं हूबहू मिल जाती हैं। नायिका की विरहा-वस्था में सखियों द्वारा उपचार किया जाना, समझाया जाना और सहा-यता करना ये सब भी सामान्य रूप से दोनों में आते हैं। रसरतन में नायिका प्रथम मिलने से भयभीत होती है तो सखियां पहले ही समझाती

हैं और पति की सेज तक ले जाकर छोड़ आती हैं। कुछ कथानकों को उदाहरणस्वरूप सामने रखकर विचार करने पर वर्णन-परिपाटी का प्रश्न और भी स्पष्ट हो जायेगा। भविसयत्तकहा में श्रुतपंचमी का महत्त्व बताया गया है। कथा में सज्जन-दुर्जन प्रसंग से लेकर कथावतार, उद्देश्य आदि कथानक-रूढ़ियों तक का पालन किया गया है। इस प्रेमाख्यानक का पूर्वार्ध रोमांचक और साहसिक यात्रा-वर्णनों से परिपूर्ण है। उत्तरार्द्ध में युद्ध तथा पूर्व भवों का वर्णन है। इस प्रकार यह किसी लोकप्रचलित कथानक पर आधारित कथा मालूम होती है। यदि हम भविष्यदत्तकथा और रत्नसेन-पद्मावती की तुलना करें तो दोनों की कथापरिपाटियों में अधिकांशतः साम्य प्रतीत होगा। जिस प्रकार का प्रेम-चित्रण भविष्यदत्तकथा में है, ठीक उसी प्रकार का चित्रण रत्नसेन-पद्मावती की कथा में है। रत्नसेन की रानी पद्मिनी का हरण करने का प्रयत्न अलाउद्दीन द्वारा किया जाता है और इधर भविष्यदत्त की स्त्री का हरण उसके सौतेले भाई बंधुदत्त द्वारा कर लिया जाता है। कालक्रम-घटनाक्रम के अनुसार भविष्यदत्त को उसकी स्त्री वापिस मिल जाती है।

करकंडुचरिउ नामक एक अन्य अपभ्रंश काव्य ऐसा है जिसकी कथा अत्यधिक रोचक है। इसकी कथा का उल्लेख पांचवें अध्याय में किया जा चुका है परन्तु तुलनात्मक अध्ययन को दृष्टिगत रखते हुए यहाँ उसे दुहराना पड़ेगा। अंगदेश की चंपापुरी में धाड़ीवाहन राजा राज्य करते थे। एक बार वे कुसुमपुर गये। वहाँ पद्मावती नाम की एक युवती को देखकर मोहित हो गए। उसके साथ उन्होंने पाणिग्रहण कर लिया। रानी गर्भवती हुई और उसे दोहद उत्पन्न हुआ। इसी बीच वह जंगल में भटक गई और समय पर श्मशान में करकंडु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

कुछ समय बाद करकंडु का विवाह मदनावली से हो गया। न पहचानने के कारण पिता-पुत्र में युद्ध हुआ जिसका वर्णन लव-कुश और राम के युद्ध का स्मरण कराये बिना नहीं रहता। करकंडु का राज्यविस्तार हुआ। वे सिंहलद्वीप पहुँचे और वहां रतिवेगा से विवाह किया। जलमार्ग से लौट रहे थे तब किसी विद्याधरपुत्री द्वारा हरण कर लिए गए। इस प्रकार की मुख्य कथा में नौ अवान्तर कथाएं भी हैं।

उक्त कथानक एवं जायसी के पदमावत के कथानक की तुलना से एक परिपाटी की श्रृंखला जुड़ जाती है। करकंडुचरिउ में नायक सिंहलद्वीप की यात्रा करता है, वहां की राजकुमारी रतिवेगा से विवाह करता है, समुद्र में उससे विछोह तथा रतिवेगा को पद्मावती का आश्वासन आदि घटनाएं जायसी के पदमावत की निम्न घटनाओं से पर्याप्त मेल खाती हैं—सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के रूप-गुणों का बखान सुनकर चित्तौड़ का राजा रतनसेन उसपर मोहित हो जाता है, वह यात्रा करता है, उसका विवाह होता है और समुद्रमार्ग से लौटने पर दोनों का वियोग भी होता है। पुनः मिलन आदि की घटनाएं ऐसी हैं जो ज्यों की त्यों मिल जाती हैं।

रामचरितमानस में राम-कथा की तुलसीदास ने एक सरोवर और सरिता से तुलना की है। सरोवर की तुलना देखिए :

सुठि सुन्दर संवाद वर विरचें बुद्धि विचारि।
तेहि एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥

सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना।
रघुपति महिमा अनुगन अबाधा। बरनब सोइ वर वारि अगाधा॥

राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि विलास मनोरम।
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई॥

छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा।
नरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुवासा॥

सुकृत पुंज मंजुल अलि माला। ग्यान विराग विचार मराला।
धुनि अवरेख कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भांती॥

अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ग्यान विग्यान विचारी।
नवरस जप तप जोग विरागा। ते सब जल चर चारु तड़ागा॥

—बालकांड, ३७.

अब रामकथा की सरिता से तुलना प्रस्तुत है :

श्रोता त्रिविध समाज पुर ग्राम नगर दुहुं कूल।
संत सभा अनुपम अवध सकल सुमंगल मूल॥

रामभगति सुरसरितहि जाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई।
मानुज राम समर जसु पावन। मिलेउ महानदु सोन सुहावन ॥
जुग बिच भगति देवधुनि धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा।
त्रिविध ताप त्रासक तिमुहानी। राम सरूप सिंधु समुहानी ॥
मानस मूल मिली सुरसरिही। सुनत सुजन मन पावन करिही।
बिच-बिच कथा विचित्र विभागा। जनु सरि तीर तीर बन भागा ॥
उमा महेस बिबाह बराती। ते जलचर अगनित बहु भांती।
रघुबर जनम अनंद बधाई। भवंर तरंग मनोहर ताई ॥
बालचरित चहु वंधु के वनज विपुल बहुरंग।
नृप रानी परिजन सुकृत मधुकर वारि विहंग ॥

—बालकांड, ३९-४०.

स्वयंभू ने भी अपने पउमचरिउ में रामकथा की तुलना सरिता से करते हुए लिखा है कि यह रामकथारूपी सरिता क्रम से चली आ रही है। इसमें अक्षरसमूह सुन्दर जलसमूह है, सुन्दर अलंकार और शब्द मत्स्यगृह हैं, दीर्घ समास वक्र प्रवाह है, संस्कृत और प्राकृत अलंकृत पुलिन है, देशी भाषा दोनों उज्ज्वल तट हैं, कवि से प्रयुक्त कठिन और सघन शब्द शिलातल के समान हैं, अर्थबहुलता उठती हुई तरंगे हैं—इस प्रकार यह रामकथा शोभित होती है :

वड्ढमाण मुह कुहर विणिग्गय राम कहाणइ एह कमागय।
अक्खर पास जलोह मणोहर सुअलंकार सद्द मदोहर ॥
दीहसमास पवाहा पंकिय सक्कय पायय पुलिणालंकिय।
देसी भासा उभय जडुज्जल कवि ठुक्कर घण सद्द सिलायल ॥
अत्थ बहल कल्लेलाणिट्ठिय आसासय सम तूह परिट्ठिय।
एह रामकह सरि सोहंती गणहर देविंहि दिट्ठ वहंती ॥

—पउमचरिउ, १.२.

वर्णन को परिपाटी में भी समानता पाई जाती है, इसके लिये उक्त प्रमाण से अच्छा कौन-सा प्रमाण दिया जा सकता है।

अपभ्रंश कथाकाव्यों एवं हिन्दी प्रेमाख्यानकों के मनोरंजन के साधनों, सांस्कृतिक, सामाजिक उपादानों के वर्णनप्रसंगों में भी कदाचित् मूल-

भूत अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। अपभ्रंश कथाकाव्यों में जल-क्रीड़ा, उद्यान-क्रीड़ा, आखेट, गोपियों के रास व चर्चरी नृत्य, वेश्याओं द्वारा गायन व नृत्य, वेश्यागमन और द्यूतक्रीड़ा आदि मनोरंजन के साधनों का उल्लेख हुआ है। वीर कवि (११वीं शती) के जम्बूसामिचरिउ में जिनदास नामक पात्र प्रतिदिन घर से द्रव्य चुराकर वेश्या का उपभोग करता और डिम व डक्का बजते हुए सजी दुकानों में मद्य पीता तथा जुए का एक बड़ा फलक सजाकर कंकरों के स्वर और ज्वारियों की विरस ध्वनियों के साथ जुआ खेलता :

अणुदिणु दविणु घराउ हरेप्पिणु वेसायणु भुंजइ तं देप्पिणु।
बज्जिय डक्क-हुडुक्क समाणए पियइ मज्जु विरइय-आवाणए ॥

—४.२.१.

उक्त काव्य में ही वेश्यागामी का एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है—'सुदृढ़ गांठ से अपने परिधान में शलाका लगाये हुए, पृथुल कटितट पर छुरी लटकाये हुए, सिर पर घना जटा-जूट बांधे हुए, अगरू आदि सुगन्धित द्रव्य से पवन को सुगन्धित करते हुए, श्वेत ताम्बूल पत्र का बोड़ा चबाते हुए, दाहिने हाथ से तलवार घुमाते हुए, कामलता नामक कामिनी को घर छोड़कर प्रतिदिन वेश्याहाट को देखा करता था। जहाँ वेश्याएँ अत्यधिक सुडौल-रूपवान व्यक्ति को भी धन-हीन हो जाने पर कुरूप मानती हैं....' आदि।[1] स्पष्ट है कि उस समय वेश्यागमन खुलेरूप में मनोरंजन का साधन था और शासन का उसपर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। णायकुमारचरिउ (पृ० ४८-४९), कीर्तिलता (पृ० २५८-६०) आदि अपभ्रंश काव्यों में वेश्याहाटों की विस्तृत चर्चा की गई है।

सन्देशरासक में मनोरंजन के साधनों का उल्लेख करते हुए अद्दह-माण ने लिखा है :

कह व ठाइ चउबेइहि वेउ पपासियइ।
कह बहुरुवि णिबद्धउ रासउ भासियइ ॥
कह व ठाइ सुदयवच्छ कत्थ व नलचरिउ।
कत्थ व विविह विणोइह भारहु उच्चरिउ ॥

---

१. जम्बूसामिचरिउ, ९.१२-१३, पृ० १८०–१८४.

कह व ठाइ आसीसिय चाइहि दयवरिहि ।
रामायणु अहिणवियअइ कत्थविकय वरिहि ॥
—संदेशरासक, ४३-४४.

अर्थात् कहीं चारों वेदों को जानने वाले पाठ कर रहे हैं। कहीं विविध रूप धारण करने वाले बहुरूपिये या बहुरूप धारण करने वालों द्वारा रासकपाठ हो रहा है, कहीं सदयवत्स और नल की कथा कही जा रही है। कहीं विविध विनोद के साथ महाभारत की कथा हो रही है और कहीं रामायण की कथा हो रही है।

संगीत-नृत्य आदि भी मनोरंजन के साधन थे। चर्चरी, चांचरि अथवा चाचरि जो कि ताल एवं नृत्य के साथ विशेष उत्सवादि में गाई जाती थी—सामूहिक मनोरंजन का साधन थी। विक्रमोर्वशीय (चतुर्थ अंक), समरादित्यकथा आदि रचनाओं में इसका उल्लेख मिलता है। वीर कवि ने जंबुसामिचरिउ में इसका उल्लेख करते हुए लिखा है कि महाकवि देवदत्त ने सरस चच्चरिया बन्ध में शांतिनाथ का महान् यशोगान किया तथा जिन भगवान् के चरणों की सेविका अम्बादेवी का रास रचा जिसका जिन भगवान् के सेवकों द्वारा नृत्याभिनय भी किया जाता है :

चच्चरियबांधि विरहउ सरसु गाइज्जइ संतिउ तारजसु ।
तच्चिज्जइ जिणपय सेवर्याहि किउ रासउ अंबादेवर्याहि ॥ १.४.

सुदंसणचरिउ में नयनन्दी ने चच्चरि का उल्लेख किया है :

जिण हरेसु आढविय सुच्चरि ।
करहिं तरुणि सवियारी चच्चरि ॥७.५.

उक्त उद्धरणों से इतना स्पष्ट है कि यह मनोरंजन का ही एक साधन था। हिन्दी प्रेमाख्यानक पदमावत, रसरतन आदि में चच्चरि अथवा चांचरि का वही रूप विद्यमान है जो उसके पूर्व था। यहां पदमावत से उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :

पिउ संजोग धनि जोवन वारी। भंवर पुहुप संग करहिं धमारी ॥
होइ फागु भलि चांचरि जोरी। विरह जराइ दीन्ह जसि होरी ॥
—पदमावत, षड्ऋतुवर्णन, ३३५.५-६.

नागमतीवियोग खंड में भी चांचरि का इसी अर्थ में उल्लेख हुआ है :

फागु करहिं सब चांचरि जोरी ॥
मोंहि तन लाइ दीन्हि जस होरी ॥ —वही, ३५२.५.

पुहकर कवि ने मनोरंजन के साधन के रूप में ही चांचरि का उल्लेख किया है :

गीत नाद चांचरि चित लावहु । काव्य कथा कहि काल गमावहु ।
बात सरस कवि कहै सब कोई । इक सिंगार रस वरजित सोई ॥
—आदि खंड, १५.

जलक्रीड़ा, उद्यानक्रीड़ा, वेश्यावर्णन आदि के उदाहरण वस्तुवर्णन के अन्तर्गत दिये गये हैं अतः यहाँ मनोरंजन के साधनों में उनको उद्धृत नहीं किया जा रहा है। कदाचित् जिन मनोरंजन के साधनों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे सामूहिक साधन हैं। व्यक्तिगत साधनों में कुछ लोग प्रेमकथाओं को बांचकर अथवा दूसरे से सुनकर भी समय यापन कर लिया करते थे। बनारसीदास जी ने अपने अर्ध-कथानक में इसकी चर्चा भी की है :

तब घर में बैठे रहे, जांहि न हाट बाजार।
मधुमालति मिरगावति, पोथी दोइ उदार ॥ ३३५ ॥
ते बांचहिं रजनी समै, आवहिं नर दस बीस ।
गावहिं अरु बातें करहिं, नित उठि देहि असीस ॥ ३३६ ॥
—पृ० ३८.

पदमावत में रतनसेन के शिकार को जाने का उल्लेख एवं शतरंज के खेल का वर्णन ये सब मनोरंजन के साधनों के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार अपभ्रंश एवं हिन्दो प्रेमाख्यानकों की सांस्कृतिक पुष्ठभूमि, कथा-विन्यास, चरित्र, कथोद्देश्य, वस्तुवर्णन और मोटिफ आदि के तुलनात्मक अध्ययन के बाद हम कह सकते हैं कि हिन्दी प्रेमाख्यानकों का शिल्प अपभ्रंश कथाकाव्यों के शिल्प का ही ऐतिहासिक विकास है।



अध्याय ७

उपसंहार

अपभ्रंश और हिन्दी के प्रेमाख्यानकों के इस अध्ययन से जो निष्कर्ष निकले और जो उपलब्धियाँ हुईं उन्हें संक्षेप में क्रमिक रूप से इस प्रकार रखा जा सकता है :

१. हिन्दी प्रेमाख्यानक अपनी सम्पूर्ण आत्मा और कलेवरगत विशिष्टताओं के कारण हमारे साहित्य की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। इस काव्यरूप के भीतर प्राचीन और नवीन अनेक प्रकार के तत्त्वों का मिश्रण हुआ है। यह मिश्रण इस काव्यरूप को पुराने काव्यरूपों के जोड़-तोड़ से बना एक अलग काव्यरूप ही नहीं बनाता बल्कि इस मिश्रण की रासायनिक प्रक्रिया ने हिन्दी प्रेमाख्यानक के रूप में एक ऐसी विधा (फार्म) को जन्म दिया जो किंचित् पुराने उपादानों को स्वीकार करते हुए भी नई लोकात्मक भाव-भूमियों का स्पर्श करने वाली बिल्कुल विलक्षण शिल्पभंगिमा वाली वस्तु बन गई।

यह काव्यरूप हिन्दी में पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ, किन्तु इसका बीजबिन्दु-वपन और अंकुरोद्भव अपभ्रंश साहित्य में हो चुका था। ऐसा स्वाभाविक भी है। क्योंकि अपभ्रंश न केवल हिन्दी की जननी भाषा है बल्कि लोकभाषा के रूप में हिन्दी का आगे चलकर जो विकास हुआ, उसकी पूर्ववर्ती पीठिका भी यहीं तैयार हुई। अनेकानेक विद्वानों ने अपभ्रंश को जो लोकभाषा कहा है, उसके पीछे यही मन्तव्य छिपा हुआ है। अपभ्रंश प्राकृत, पालि और संस्कृत की तुलना में कहीं अधिक लोकजीवनसम्पृक्त भाषा रही। परिणामतः न केवल उसके भाषिक कलेवर में बल्कि वस्तुगत आत्मा और शैली-शिल्प आदि के भीतर भी लोकतत्त्वों का प्रचुर समन्वय हुआ। हेमचन्द्राचार्य जब अपभ्रंश के वैयाकरणिक नियमों का आख्यान करते

हुए 'लोकतोऽवगन्तव्या, :कहते हैं, तो वे प्रकारान्तर से इसी बात की पुष्टि करते हैं।

अपभ्रंश का पूरा कथा-साहित्य, विशेषकर प्रेमाश्रित कथा-साहित्य इसी लोकमानस की देन है। हिन्दी के प्रेमाख्यानकों की पृष्ठभूमि के रूप में इसका अध्ययन प्रेमाख्यानकों के अध्ययन की अनेकानेक समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकता है। इस अध्ययन ने निम्न तत्त्वों के आधार पर इस मान्यता की साधार पुष्टि की है :

२. संस्कृत में कथा-आख्यायिका का वृहत् साहित्य उपलब्ध है। कादम्बरी, दशकुमारचरित, बृहद्‌कथा तथा हर्षचरित आदि को कौन नकार सकता है। इन कथाओं में रोमांस, प्रेम के नाना पक्षों तथा जन्म-जन्मान्तर की अनेक घाटियों में भटकती आत्माओं के मिलन का चटक रंगीन और धूमिल उदास करने वाला बहुविध वर्णन सर्वत्र मिलेगा। संस्कृत के आलंकारिकों ने इन कथा-आख्यायिकाओं को आधार बनाकर इनके लक्षण-निरूपण का भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, किन्तु क्या रुद्रट, भामह, मम्मट, विश्वनाथ आदि द्वारा निरूपित लक्षण संस्कृत के कथा-साहित्य में यथावत् मिल जाते हैं ? ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों-ज्यों कालसरिता बढ़ती गयी और ज्यों-ज्यों उसके प्रवाह में नये-नये तत्त्व और उपादान बहकर आते गये त्यों-त्यों आचार्यों के लक्षणनिरूपण भी बदलते गये! अपभ्रंश कथाओं में ऐसे अनेकानेक उपादान दिखाई पड़ते हैं जो संस्कृत कथा-साहित्य में दुर्लभ हैं, इसीलिए इन आचार्यों को कथाकाव्य के लक्षणों के निरूपण में अनेक ऐसी बातों का समावेश करना पड़ा जो संस्कृते-तर लोकभाषा में गृहीत होने वाले उपादानों को बाँध सकें। हेमचन्द्राचार्य ने तो स्पष्ट ही संस्कृत कथा और संस्कृतभिन्न कथा को बिलगाने का प्रयत्न किया। अन्य आचार्यों के लक्षणग्रन्थों में भी यह विभाजन सांकेतिक ही सही वर्तमान अवश्य है।

३. अपभ्रंश कथा में गृहीत लक्षण आगे चलकर लोकभाषा हिन्दी के प्रेमाख्यानकों में पूरी तरह विकसित और पल्लवित हुए। दूसरे अध्याय के अध्ययन से इस बात की पुरस्सर पुष्टि हो जाती है।

हिन्दी में प्रेमाख्यानक प्रायः दो प्रकार के लिखे गये : एक सूफी कवियों की मसनवी पद्धति पर आधारित, दूसरे शुद्ध भारतीय पद्धति के। इन दोनों प्रकार के प्रेमाख्यानकों का शैलीशिल्प बहुत साम्य रखता है। ऊपर-ऊपर से देखने पर सूफी प्रेमाख्यान दोहे-चौपाई में लिखे गये, उनमें छन्दवैविध्य कम है, लोग उनकी रचना के पीछे मसनवी शैली का प्रभाव भी देखते हैं, पर मंगलाचरण, गुरुवन्दना, कविवंशपरिचय, प्रेम की विभिन्न अवस्थाएं, वस्तुचित्रण, नगर, भवन, चित्रकशाला, अश्व, रथ तथा युद्ध के दूसरे उपादान, सरोवर, बाग-बगीचे के वर्णनों के अलावा कथाभिप्रायों की दृष्टि से भी ये कथाकाव्य अपभ्रंश कथाओं का अनुसरण करते हुए दिखाई पड़ते हैं। शुद्ध हिन्दू प्रेमाख्यानकों में तो यह प्रभाव पर्याप्त स्पष्ट और घनिष्ठ रूप से परिलक्षित होता ही है।

४. प्रतीकयोजना सूफी काव्यों की एकदम नई वस्तु मानी जाती है और उस पर अनेकानेक विद्वानों ने बहुत विस्तार से विचार भी किया है, किन्तु क्या प्रतीकविद्या अभारतीय है? प्रतीक भारतीय दर्शन, धर्म और शास्त्रों के बहुपरिचित तत्त्व हैं जिनका उपयोग हमारे देश में ऋग्वेद से लेकर आज तक अनेकानेक रूपों में होता रहा है। यह सही है कि दार्शनिक प्रतीकों को काव्य का अनिवार्य उपादान बनाने की कोशिश नहीं की गई। किन्तु क्या बाणभट्ट की कादम्बरी का अच्छोदसरोवर प्रेमह्रद का प्रतीक नहीं है? क्या कादम्बरी स्वयं मांसल वासनामूलक प्रेम का और महाश्वेता तपःपूत चिन्मय प्रेमतत्त्व का प्रतीक नहीं है? डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'कादंबरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन' में इस तरह के प्रतीकों पर विस्तृत विचार किया हैं। यह सही है कि संस्कृत साहित्य में प्रतीकात्मकता लाने का सचेष्ट प्रयत्न कम हुआ। अपभ्रंश में और भक्ति आन्दोलन से प्रभावित हिन्दी साहित्य में इस प्रकार का प्रचुर प्रयत्न हुआ है। अपभ्रंश में तो 'मयणपराजयचरिउ' जैसे काव्य नितान्त प्रतीकात्मक हैं। अतः सूफी कथाकाव्यों की प्रतीक पद्धति को भी अपभ्रंश कथाकाव्यों की प्रतीक पद्धति से सीधे जोड़ा जा सकता है।

५. अपभ्रंश प्रेमाख्यानकों की सीमा में कई तरह के काव्यरूपों में लिखे

काव्य समाहित हो जाते हैं। चरित्र, रास, विलास, पुराण आदि वस्तुतः बाह्य कलेवर की विशिष्टताओं को सूचित करने वाले नाम हैं, इनकी आत्मा में वे ही शैलीशिल्प के तत्त्व घुले-मिले हैं जो अपभ्रंश की प्रेमकथाओं या हिन्दी प्रेमाख्यानकों में मिलते हैं। यहीं पर विस्तार से संस्कृत से अपभ्रंश कथाओं को बिलगाने वाले उपादानों का विश्लेषण भी किया गया है ताकि यह स्पष्ट हो सके कि ये तत्त्व संस्कृत कथाओं से कितने अलग और हिन्दी प्रेमाख्यानकों से कितने निकट हैं।

६. अपभ्रंश और हिन्दी प्रेमाख्यानकों का पूरा वस्तुविवेचन इस दृष्टि से किया यया है कि वह अपने भीतर के सभी शिल्पगत रहस्यों को उद्घाटित कर सके। कथाओं का सारांश इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है ताकि हम उसमें से कथाशिल्प के सभी तत्त्व, वर्णनपद्धतियाँ आदि छाँट सकें।

७. अन्त में इन सभी उपादानों का सम्यक् अध्ययन करके यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी के प्रेमाख्यान वस्तुतः अपभ्रंश कथाकाव्यों में स्वीकृत पद्धति को पूरी तरह स्वीकार करके चलते हैं। जहां कुछ भिन्नता है वहाँ विकास के कारण आई है, भिन्नता लाने के लिए नहीं।

इस दृष्टि से इस प्रबन्ध में अपभ्रंश और हिन्दी प्रेमाख्यानकों की पृष्ठभूमि में विद्यमान सामाजिक, सांस्कृतिक स्थितियों का साम्य दिखाते हुए इस बात को स्पष्ट किया गया है कि कथाविन्यास (पुरविन्यास से तुलना करते हुए), चरित, कथोद्देश्य, वस्तुवर्णन, कथाभिप्राय (मोटिफ), निजंधरी तत्त्व, मंगलाचरण, सर्गनिबन्ध, ऋतुवर्णन, छन्दप्रयोग तथा कथा को भराव देने वाले जीवन के विभिन्न तत्त्व, खेल-क्रीड़ा, मनोरंजन आदि सांस्कृतिक मनबहलाव के साधनों के वर्णन में दोनों के भीतर कितनो समानता है।

इस तरह से यह प्रबंध अपभ्रंश और हिन्दी प्रेमाख्यानकों के बीच की शृंखला के नियोजन का कार्य तो करता ही है, दोनों के बीच

की समानधर्मा प्रवृत्तियों के उद्‌घाटन द्वारा हिन्दी की इस महत्त्वपूर्ण काव्यविद्या के अध्ययन के कुछ नये क्षितिज भी उद्‌घाटित करता है।

शैली और शिल्प को व्यापक अर्थ में प्रस्तुत करते हुए वस्तुतः इस प्रबंध के द्वारा लोकभाषा के पूर्व और पश्चात् कालावधि के बीच के अन्तराल को दूर करना ही इस प्रबंध का मुख्य उद्‌देश्य रहा है।



सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी प्रेमाख्यानकों की सूची प्रबन्ध के प्रथम अध्याय के अन्त में संलग्न है। अतः उन्हें इस सूची में उल्लिखित नहीं किया है।

हिन्दी-ग्रन्थ

अपभ्रंश-साहित्य : प्रो० हरिवंश कोछड़, भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली, वि० सं० १०१३.

अपभ्रंश भाषा का अध्ययन : डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव.

अर्द्धकथानक : बनारसीदास, संपा०—नाथूराम प्रेमी, १९५७.

आदिपुराण : आचार्य जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६३.

आदिपुराण में प्रतिपादित भारत : डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, वर्णी ग्रन्थ-माला, काशी.

आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना : डा० पुत्तूलाल शुक्ल.

इतिहास-प्रवेश : जयचन्द्र विद्यालंकार, सरस्वती प्रकाशन मंदिर, इलाहाबाद, १९४१.

कविप्रिया : आचार्य केशवदास.

कबीर-ग्रन्थावली : संपा०—श्यामसुन्दरदास, १९२८.

कहानी : जैनेन्द्रकुमार.

कादम्बरी—एक सांस्कृतिक अध्ययन : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल.

काव्य के रूप : गुलाबराय.

काव्यों में शैली और कौशल : पं० परशुराम चतुर्वेदी.

घनानन्द (सुजानहित) : आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र.

चन्दवरदायी और उनका काव्य.

चन्दायन : मुल्ला दाऊद, संपा०—डा० परमेश्वरीलाल गुप्त.

चिन्तामणि (प्रथम भाग) : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल.

चित्ररेखा : जायसी, संपा०–डा० शिवसहाय पाठक.

चित्रावली : उसमान, संपा०–जगमोहन वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.

छन्द पयोनिधि भाषा : हरदेवदास.

छिताई-वार्ता : संपा०—माताप्रसाद गुप्त, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि० सं० २०१५.

जायसी-ग्रन्थावली : संपा०—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९२४.

ढोला-मारू रा दोहा : रार्मसिह, सूर्यकिरण पारीक आदि, नागरी प्रचारिर्णा सभा, काशी, १९३४.

तसव्वुफ अथवा सूफीमत : चन्द्रबली पाण्डेय.

दामोचरित : संपा०—नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, परिमल प्रकाशन, प्रयाग.

पदमावत : जायसी, संपा०—वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य-सदन, झाँसी.

पृथ्वीराज राठौर : संपा०—कृष्णशंकर शुक्ल, साहित्य-निकेतन, कानपुर.

प्राचीन भारत में नगर तथा नगरजीवन : डा० उदयनारायण राय.

प्राचीन काव्यों की रूपपरम्परा : अगरचन्द नाहटा.

पुराणों की अमर कहानियाँ : रामप्रताप त्रिपाठी.

ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन : डा० सत्येन्द्र.

भारतीय प्रेमाख्यान काव्य : डा० हरिकान्त श्रीवास्तव.

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान : डा० हीरालाल जैन.

मधुमालती : मंझन, संपा०—डा० माताप्रसाद गुप्त, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६१.

मधुमालती : मंझन, संपा०—शिवगोपाल मिश्र, हिन्दी-प्रचारक, वाराणसी, १९५७.

मधुमालती-वार्ता : चतुर्भुजदास, संपा०—डा० माताप्रसाद गुप्त.

मध्यकालीन धर्मसाधना : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी.

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन : डा० सत्येन्द्र.

मृगावती : कुतवन, संपा०—डा० शिवगोपाल मिश्र, हिन्दीसाहित्य सम्मेलन. प्रयाग.

यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन : डा० गोकुलचन्द्र जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी.

रसरतन : पुहकर, संपा०—डा० शिवप्रसाद सिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.

राजस्थानी भाषा और साहित्य : मोतीलाल मेनारिया.
रूपमंजरी : नंददास, संपा०—व्रजेश्वर वर्मा.
लखमसेन-पदमावतीकथा : संपा०—नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, परिमल प्रकाशन, प्रयाग, १९५९.
लोकसाहित्य की भूमिका : सत्यव्रत अवस्थी.
वीरकाव्य : डा० उदयनारायण तिवारी.
शैली : पं० करुणापति त्रिपाठी.
शैली और कौशल : पं० सीताराम चतुर्वेदी.
संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा सत्यनारायण पाण्डेय.
संस्कृत साहित्य का इतिहास : श्री ए० वी० कीथ [हिन्दी अनुवाद].
साहित्य का मर्म : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी.
सूफीमत—साधना और साहित्य : डा० रामपूजन तिवारी.
सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य : डा० शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी-प्रचारक, वाराणसी.
हरिभद्र के प्राकृत साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन : डा० नेमिचन्द्र, शास्त्री.
हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल.
हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन, १९५४.
हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास : डा० वीरेन्द्र सिंह.
हिन्दी काव्यरूपों का अध्ययन : डा० रामबाबू शर्मा.
हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास : डा० भगीरथ मिश्र.
हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान : डा० नामवर सिंह.
हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास : डा० दशरथ ओझा.
हिन्दी महाकाव्यों का स्वरूप और विकास : डा० शम्भूनाथ सिंह.
हिन्दी साहित्य : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, वि० सं० २००९.
हिन्दी साहित्य का अतीत : आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र.
हिन्दी साहित्य का आदिकाल : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी.
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा.
हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल.
हिन्दी सूफी कवि और काव्य : डा० सरला शुक्ल, वि० सं० २०१३.

संस्कृत-ग्रन्थ

अग्निपुराण.
अभिधानचिन्तामणि.
अमरकोश : अमरसिंह.
उत्तररामचरित : भवभूति, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी.
ऋग्वेद : संपा०—श्रीराम शर्मा.
ऐतरेयब्राह्मण.
कामसूत्र : वात्स्यायन.
काव्यप्रकाश : आचार्य मम्मट.
काव्यादर्श : दण्डी, भांडारकर ओरियंटल इंस्टीट्यूट, पूना, १९३८.
काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, भाग १, महावीर जैन विद्यालय, बंबई, १९३८.
काव्यालंकार : रुद्रट.
काव्यालंकार : भामह, चौखंभा संस्कृत सिरीज, १९२८.
केनोपनिषत्.
तैत्तिरीयब्राह्मण.
तैत्तिरीयोपनिषत्.
तैत्तिरीयसंहिता.
ध्वन्यालोक : आनन्दवर्द्धनाचार्य.
नाट्यदर्पण : ओरियण्टल इन्स्टीटयूट, बड़ौदा, १९२१.
नाट्यशास्त्र : भरत मुनि, बड़ौदा, १९२६.
पाणिनीयशिक्षा.
पिंगलच्छन्दःसूत्रम् : पिंगल नागमुनि.
बृहत्कथाकोश.
ब्रह्मपुराण.
मानसार.
रघुवंश : कालिदास.
रत्नावली नाटिका : श्रीहर्ष.
वक्रोक्तिजीवित : भामह.
वर्णरत्नाकर : संपा०—सुनीतिकुमार चटर्जी.
वाचस्पत्य कोश : तारानाथ.
वायुपुराण.

वैदिक इण्डेक्स, भाग १.
शतपथब्राह्मण.
श्वेताश्वतरोपनिषत्.
श्रीमद्भागवत : गीताप्रेस, गोरखपुर.
सरस्वतीकण्ठाभरण : भोजराज.
साहित्य-दर्पण : आचार्य विश्वनाथ, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी.
हर्षचरित : बाण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१८.

अपभ्रंश-प्राकृत-ग्रन्थ

करकंडचरिउ : मुनि कनकामर, संपा०—डा० हीरालाल जैन, प्रथम संस्करण, जैन सिरीज, कारंजा, १९३४; द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६४.

कामकन्दलाख्यान : आनन्दधर, संपा०—एम० आर० मजूमदार.
कीर्तिलता और अवहट्टभाषा : डा० शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी-प्रचारक, वाराणसी.
कुवलयमाला : उद्योतनसूरि, संपा०—डा० ए० एन० उपाध्ये, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि० सं० २०१५.
गोम्मटसार : आचार्य नेमिचन्द्र, रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई, १९२७-२८.
जम्बूसामिचरिउ : वीर कवि, संपा०—डा० वी० पी० जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६७.
जसहरचरिउ : पुष्पदन्त, संपा०—पी० एल० वैद्य, जैन सिरीज, कारंजा, १९३१.
दशवैकालिक-सूत्र : हरिभद्र-वृत्ति, मनसुखलाल महावीर प्रिंटिंग वर्क्स, बम्बई.
धूर्ताख्यान : हरिभद्रसूरि, संपा०—डा० ए० एन० उपाध्ये, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९४४.
णायकुमारचरिउ : पुष्पदन्त, संपा०—डा० हीरालाल जैन, जैन सिरीज, कारंजा, १९३३.
पउमचरिउ : स्वयंभू, संपा०—डा० एच० सी० भायाणी, भारतीय विद्याभवन, बम्बई.

पउमसिरिचरिउ : धाहिल, संपा०—डा० एच० सी० भायाणी, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि० सं० २००५.

भविसयत्तकहा : धनपाल धक्कड़, संपा०—सी० डी० दलाल, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा, १९२३.

मयणपराजयचरिउ : हरिदेव, संपा०—डा० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२.

माधवानल-कामकन्दला : कुशललाभ, संपा०—एम० आर० मजूमदार, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा.

लीलावईकहा : कौतूहल, संपा०—डा० ए० एन० उपाध्ये, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४९.

वसुदेवहिण्डी : संघदासगणि, संपा०—मुनि चतुरविजय-पुण्यविजय, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर.

वीसलदेवरासो : संपा०—सत्यजीवन वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि० सं० १९८२; डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय; डा० तारकनाथ अग्रवाल, हिन्दी प्रचारक, वाराणसी, १९६२.

समराइच्चकहा : हरिभद्रसूरि, संपा०—डा० हर्मन जेकोब्री, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता, १९२६.

सिरिपासनाहचरिय : गुणचन्द्र, संपा०—आचार्य विजयकुमुदसूरि, अहमदाबाद, १९४५.

सिरिसिरिवालकहा : रत्नशेखरसूरि, भावनगर, १९२३.

सुअन्धदहमीकहा : उदयचन्द्र, संपा०—डा० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६६.

सुपासनाहचरिय : लक्ष्मणगणि, संपा०—हरगोविन्ददास, वाराणसी, वी० सं० २४४५.

संदेशरासक : अब्दुर्रहमान, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई, १९६०.

गुजराती-ग्रन्थ

प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह : गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा, १९१६.

अंग्रेजी-ग्रन्थ

ऑन दि वेद्स : श्री अरविन्द, पाण्डिचेरी, १९५६.

ऑन दि लिमिट्स ऑफ पोइट्री : एलेन टेट.
आर्ट ऑफ जेम्स जोयस : ए० वाल्टन लित्ज़.
आर्ट एण्ड रीयलिटी : जॉयस केरी.
आस्पेक्ट्स ऑफ नॉवेल : बी० एम० फोर्सटर.
इंगलिश लिटरेचर एण्ड आइडियाज इन दि ट्वेंटियथ सेंचुरी : डा० एच० वी० रथ.
इनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि आर्ट : डेगोवर्ट रुन्स एण्ड एच० जी० श्रिकल्स, पीटर ऑन लंदन, १९६५.
इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन्स एण्ड इथिक्स : जेम्स हेस्टिंग्स.
इन्फ्लूएन्स ऑफ इस्लाम.
एसेज ऑन लिटरेचर एण्ड आइडियाज : जॉन वेन.
ओरिजिन एण्ड इवोल्यूशन ऑफ रिलीजन: हॉपकिन्स.
क्राफ्ट ऑफ फिक्शन : ल्यूवक.
टाइम एण्ड दि नॉवेल.
टू चीयर्स फॉर डेमोक्रेसी : ई० एम० फोर्सटर.
टेकनिक ऑफ नॉवेल : डएविन म्योर.
डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर : टी० शिप्ले.
नॉवेलिस्ट ऑन दि नॉवेल.
पर्सियन मिस्टिक्स : अत्तार.
फॉर्म्स ऑफ मॉडर्न फिक्शन.
मिस्टिक्स ऑफ इस्लाम : फनाफिल हक.
राइटर्स एट वर्क.
लव अगेंस्ट हेट : कालमेनिंगर.
साइंस ऑफ इमोशन्स : डा० भगवानदास.
सेक्रेड वुड : टी० एस० इलियट.
स्टाइल : वाल्टर रेले.
स्ट्रक्चर ऑफ नॉवेल : कार्ल एच० ग्रेबो.

हिन्दी-पत्रिकाएँ

अनेकान्त, दिल्ली.
अवन्तिका.
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी.
परिषद्-पत्रिका, पटना.

परिशोध, चण्डीगढ़.
राजस्थान-भारती.
श्रमण, वाराणसी.
हिन्दुस्तानी, इलाहाबाद.

अंग्रेजी-पत्रिकाएँ

इंडियन एण्टीक्वेरी.
जर्नल ऑफ दि ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा.
लन्दन मेगजीन.
न्यू इंडियन एण्टीक्वेरी.
जैन एण्टीक्वेरी.
जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन.

अनुक्रमणिका

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी द्वारा मान्य पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान देश का प्रथम एवं अपने ढंग का एक ही जैन शोध-केन्द्र है। यह गत ३६ वर्षों से जैनविद्या की निरन्तर सेवा करता आ रहा है। इसके तत्त्वावधान में अनेक छात्रों ने जैन विषयों का अध्ययन किया है एवं यूनिवर्सिटी से विविध उपाधियाँ प्राप्त की हैं। अब तक २७ विद्वानों ने पी-एच० डी० एवं डी० लिट्० के लिए प्रयत्न किया है जिनमें से अधिकांश को सफलता प्राप्त हुई है। वर्तमान में इस संस्थान में ७ शोधछात्र पी-एच० डी० के लिए प्रबन्ध लिखने में संलग्न हैं। प्रत्येक शोधछात्र को २५० रु० मासिक शोधवृत्ति दी जाती है। एम० ए० में जैन-दर्शन का विशेष अध्ययन करनेवाले प्रत्येक छात्र को ५० रु० मासिक छात्रवृत्ति देने की व्यवस्था है। संस्थान से अब तक १८ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। जैनविद्या का मासिक 'श्रमण' नियमित प्रकाशित होता है।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम की स्थापना सन् १९३७ में हुई थी। इसका संचालन अमृतसर-स्थित सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति द्वारा होता है। यह समिति एक्ट २१, सन् १८६० के अनुसार रजिस्टर्ड है तथा इसे इन्कमटैक्स एक्ट, सन् १९६१ के सेक्शन ८८ व १०० के अनुसार आयकर-मुक्ति-प्रमाणपत्र प्राप्त है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान का निजी विशाल भवन है जिसमें पुस्तकालय, कार्यालय, अध्यक्षकक्ष, सहायककक्ष, छात्रकक्ष आदि हैं। अध्यक्ष एवं अन्य कर्मचारियों के निवास के लिए उपयुक्त आवास हैं। शोधछात्रों के लिए सर्व सुविधाओं से युक्त आधुनिक ढंग का छात्रावास है। जल की आपूर्ति के लिए संस्थान का निजी नलकूप है।

हमारे अन्य प्रकाशन

1. **Jaina Psychology**— Dr. Mohan Lal Mehta—Rs. 8-00
   (*Out of Print*)
2. **Political History of Northern India from Jaina Sources**—Dr. Gulab Chandra Choudhary— Rs. 24-00
3. **Studies in Hemacandra's Desinamamala**—
   Dr. Harivallabh C. Bhayani— Rs. 3-00
4. **Jaina Culture**—Dr. Mohan Lal Mehta— Rs. 10-00
5. **Jaina Philosophy**—Dr. Mohan Lal Mehta— Rs. 10-00

६. प्राकृत भाषा—डा० प्रबोध बेचरदास पंडित— रु० १-५०
७. जैन आचार—डा० मोहनलाल मेहता— रु० ५-००
८. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग १—
   पं० बेचरदास दोशी— रु० १५-००
९. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग २—
   डा० जगदीशचन्द्र जैन व डा० मोहनलाल मेहता— रु० १५-००
१०. जैन साहित्य का बृहद इतिहास-भाग ३—
   डा० मोहनलाल मेहता— रु० १५-००
   (उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा १५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)
११. जैन साहित्य का बृहद इतिहास-भाग ४—
   डा० मोहनलाल मेहता व प्रो० हीरालाल कापड़िया— रु० १५-००
१२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग ५—
   पं० अंबालाल शाह—रु० १५-००
१३. बौद्ध और जैन आगमों में नारी-जीवन—
   डा० कोमलचन्द्र जैन— रु० १५-००
१४. जीवन-दर्शन—श्री गोपीचन्द धाड़ीवाल— रु० ३-००
१५. यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन—डा० गोकुलचन्द्र जैन— रु० २०-००
   (उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा ५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)
१६. उत्तराध्ययन-सूत्र : एक परिशीलन—डा० सुदर्शनलाल जैन—रु० २५-००
   (उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा ५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)
१७. जैन-धर्म में अहिंसा—डा० वशिष्ठनारायण सिन्हा— रु० २०-००

—लिखिए—

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैन इंस्टिट्यूट
आई. टी. आई. रोड, वाराणसी—५